PAGES MISSING WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182579

UNIVERSAL
LIBRARY

हिन्दी और कन्नड में भक्ति-आन्दोलन

का

तुलनात्मक अध्ययन

—डॉ० हिरण्मय एम०, ए०, पी-एच, डी०

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

OUP—880—5-8-74—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.09 H66H Accession No. H3456

Author हिरण्मय.

Title हिन्दी और कन्नड में भक्ति आन्दोलन

This book should be returned on or before the date last marked below.

को जिस दिनांक तक वापिस करना है उसे नीचे लिखें.

हिन्दी और कन्नड में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन

हिन्दी और कन्नड में भक्ति-आन्दोलन

का

तुलनात्मक अध्ययन

[काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत निबन्ध]

लेखक

डा० हिरण्मय, एम. ए, पी-एच. डी, 'साहित्यरत्न'

हिन्दी विभाग, मैसूर विश्व-विद्यालय

प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल रोड, आगरा।

प्रकाशक
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
अस्पताल रोड, आगरा

प्रथम संस्करण
जनवरी : १९५९
मूल्य १०)

मुद्रक
गुलाबसिंह यादव
आगरा फाइन आर्ट प्रेस
अहीर पाड़ा, आगरा

भारतीय एकता के

समस्त साधकों के

श्री चरणों में—

यह अल्प कृति सादर समर्पित है।

प्रस्तावना

प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है 'हिन्दी और कन्नड में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन'।

मैने अपने इस अध्ययन के लिए कन्नड और हिन्दी इन दोनों भाषाओं के लगभग साढ़े पाँच सौ वर्षों का साहित्य (सन् ११५० से सन् १७०० तक) चुना है। इतनी लम्बी अवधि का साहित्य क्यों लेना पड़ा इसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल लगभग सन् १४०० से सन् १७०० तक माना जाता है। कन्नड का भक्ति-काल ईसा की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे वीरशैव सम्प्रदाय के साथ-साथ आरम्भ होता है। वीरशैव सम्प्रदाय से प्रभावित कन्नड का भक्ति-साहित्य उसका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। यदि मैं हिन्दी के भक्ति-साहित्य को ध्यान में रख कर दोनों भाषाओ के साहित्य का चुनाव करता तो कन्नड का वीरशैव भक्ति-साहित्य छूट जाता और मेरे अध्ययन में कन्नड का पक्ष बहुत ही दुर्बल हो जाता तथा उसमें संतुलन नही रहता।

अध्ययन के लिए साहित्य का चुनाव कर लेने के उपरान्त मेरे सामने यह गम्भीर समस्या उपस्थित हुई कि दोनों भाषाओं के साढे पाँच सौ वर्षों के विशाल साहित्य-सागर का किस तरह मंथन किया जाय और उसमें से किस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। दोनों साहित्यों के बाह्य रूपगत सभी विशेषताओ और वस्तुगत तथा भावगत सभी पहलुओं पर विचार करते हुए तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करना मुझे अपनी शक्ति के बाहर की बात प्रतीत हुई। मुझे ऐसा लगा कि जब भक्ति-भाव स्वयं ही एक अत्यन्त गम्भीर विषय है तब अपनी सीमित शक्ति को भक्ति-भाव की छानबीन में ही केंद्रीभूत करना आवश्यक है। अत: मैंने यह निश्चिय किया कि दोनों साहित्यों के माध्यम से प्रकट होने वाली भक्ति साधना की विभिन्न पद्धतियों के स्वरूप को समझने, प्रमुख भक्ति-भावों की अभिव्यक्ति की विशेषताओं को परखने तथा दोनों प्रदेशों के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को भक्ति-भाव ने किस तरह प्रभावित किया है इसका एक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया जाय।

अध्ययन की सुविधा के लिए मैने अपने निबन्ध को दस अध्यायो मे विभाजित कर लिया है और उसका विषय-क्रम निम्नलिखित प्रकार से रखा है।

(क) आलोच्य काल में दोनों साहित्यों के माध्यम से जो भक्ति-भाव प्रकट होता है वह एक व्यापक एवं प्रभावशाली आन्दोलन का रूप धारण करता है। मैने प्रथम अध्याय में इस महान आन्दोलन की पृष्ठ भूमि के दार्शनिक-पक्ष और साधना-मार्ग की रूप-रेखा तैयार करने तथा उसकी विशेषताओं को समझने का प्रयत्न किया है। विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि भक्ति-आन्दोलन का सुव्यवस्थित संगठन और विकास वैष्णव धर्म के उद्भव और विकास के समानान्तर काल में हुआ है। अतः मैने इस विकास का संक्षिप्त परिचय दिया है। भक्ति तथा भक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले 'सगुण', निर्गुण' शब्दों की व्याख्या करते हुए भक्ति का स्वरूप समझने की चेष्टा की गई है।

(ख) द्वितीय और तृतीय अध्यायो में मै ने हिन्दी भाषा के प्रदेश में उत्पन्न और विकसित विभिन्न भक्ति-प्रधान दार्शनिक सम्प्रदायों, उनसे प्रभावित तथा चालित साधना-मार्गों एवं उनके उन्नायको के व्यक्तित्व का विवेचनात्मक परिचय देने का उद्योग किया है। यह भी प्रयत्न किया है कि हिन्दी के भक्ति-साहित्य को विविधतापूर्ण, सर्वाङ्ग-सुन्दर और परिपुष्ट बनाने में किन-किन विचार-धाराओ से प्रकट और अप्रकट रूप में योग मिलता है। इसीलिए बौद्ध वज्रयान, सहजयान, निरंजनी मत, नाथ सम्प्रदाय, सूफ़ी मत आदि के साधना-मार्गो की विशेषताएँ बताई गई है। हिन्दी के भक्त कवियों और उनके काव्यो का विवेचन करना मैने अनावश्यक समझा है, क्योकि हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानो ने इस विषय पर अनेक ग्रंथ रचे हैं और उन्ही बातो को निबन्ध मे दुहराना चर्वित-चर्वण ही हो जाता। फिर भी मैने भक्ति-साहित्य की प्रधान-प्रवृत्तियो की एक झांकी दिखा दी है।

(ग) चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्यायों में मैने कन्नड के भक्ति-साहित्य की प्रमुख-धाराओं, उनकी गति-विधियों, भक्त-कवि और उनके काव्यों की विशेषताओं एवं भक्ति-साहित्य के प्रेरक दार्शनिक-विचारों का विमर्शात्मक विवरण उपस्थित किया है। इस बात पर भी विचार किया है कि पूर्ववर्ती जैन साहित्य ने कन्नड के भक्ति-साहित्य को किस तरह प्रभावित किया है और तमिलनाड के वैष्णव-भक्त आळ्वारों तथा शैव-भक्त नायनमारों की विचार-

धारा से कर्नाटक के भक्ति-आन्दोलन के विकास मे कैसी और कितनी प्रेरणा मिली है।

(घ) किसी भी आन्दोलन को सम्यक् रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि उस देश की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का भलीभांति परिचय प्राप्त किया जाय। अतः मैने दोनों प्रदेशों की उक्त परिस्थितियों का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवरण दिया है और यह दिखाने की कोशिश की है कि लोक-भक्ति और शास्त्रीय-भक्ति का विकास किन किन कारणों से हुआ है।

इस प्रकार, द्वितीय और तृतीय अध्यायों मे हिन्दी प्रदेश के तथा चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्यायों मे कर्नाटक के भक्ति-आन्दोलन की अलग-अलग रूप-रेखा तैयार करके मैंने दोनों प्रदेशों के भक्ति-साहित्य के महत्त्व तथा सौन्दर्य को स्पष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है।

(ङ) अन्तिम तीन अध्यायों में मैने तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। हिन्दी और कन्नड प्रदेशों की विभिन्न श्रेणियो के भक्तों के अनेक पदों का उद्धरण देते हुए मैने यह जानने का उद्योग किया है कि भक्ति-भावों की अभिव्यजना मे कहाँ तक समता पायी जाती है और जहाँ भेद पाया जाता है, उसका क्या रूप है। किस प्रदेश के भक्तों ने किस भाव की अभिव्यक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया है और किस साहित्य का कौन-सा अंग विशेष समृद्ध है तथा दूसरे में उसका क्या रूप है आदि बातों की छान बीन की गई है। उदाहरण सहित यह विचार किया गया है कि दोनों प्रदेशों के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन पर भक्ति-आन्दोलन का कैसा प्रभाव पड़ा है। इस बात की भी चर्चा की गई है कि दोनों प्रदेशों की भाषाओं और साहित्यों के अभ्युदय एवं समृद्धि में भक्ति-आन्दोलन का कैसा योग रहा है।

इस अध्ययन में न किसी विषय का कोई निष्कर्ष निकाला गया है न कोई निर्णय ही दिया गया है। तुलना के परिणाम स्वरूप दोनों साहित्यों में जो अन्तर दिखाई दिया है उसकी ओर संकेत मात्र कर दिया गया है। मेरा यह उद्देश्य कदापि नही रहा है कि किसी साहित्य को छोटा या बड़ा दिखाया जाय। मैंने जगह-जगह अपने मत के समर्थन में अन्यान्य विद्वानों के अभिप्रायों का उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह नही है कि उन विद्वानों ने जो कुछ लिखा है उससे मैं पूर्णतया सहमत हूँ।

मैंने अपने अध्ययन के लिए जो विषय चुना है वह सर्वथा नूतन और महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी और कन्नड दोनों अलग-अलग परिवार की भाषाएँ हैं।

हिन्दी का सम्बन्ध आर्य भाषा-परिवार से है और कन्नड का सम्बन्ध द्राविड भाषा परिवार से। दोनो का प्राचीन साहित्य समृद्ध है, यद्यपि कन्नड का प्राचीन साहित्य हिन्दी से भी कुछ पुराना है। हिन्दी संस्कृत की पुत्री ही नही, उसके विकास में संस्कृत भाषा एवं साहित्य का योग महत्त्वपूर्ण है। जब से कर्नाटक में जैनों का प्रवेश हुआ तब से, अर्थात् लगभग एक हजार वर्षों से, कन्नड भाषा तथा साहित्य पर सस्कृत भाषा और साहित्य का व्यापक प्रभाव पड़ता आया है। यह सब होते हुए भी हिन्दी और कन्नड का संवर्धन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे हुआ है। दोनो साहित्यो की अपनी-अपनी समस्यायें भिन्न-भिन्न रही हैं और उनकी गति-विधि भी एक-सी नहीं रही है। दोनों अपनी-अपनी मौलिकता लिए हुए है। यह एक अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि अबतक इन दो सम्पन्न भाषाओं के साहित्यों के बीच मे आदान-प्रदान का ऐसा कोई उद्यम नही हो पाया है जैसा कि इस कार्य के द्वारा शुरू किया गया है। इस अध्ययन द्वारा दोनों साहित्यों को निकट लाने का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा, ऐसी आशा है। मैने जिस तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात किया है उसमें बड़ी-बड़ी सम्भावनाएं है और इस दिशा मे जैसे-जैसे उत्तरोत्तर कार्य चलता जायेगा वैसे ही वैसे भारतीय भक्ति-साधना के क्षेत्र की बहुत-सी अज्ञात बातों पर प्रकाश पड़ता जायेगा और अनेक साहित्यिक तथा दार्शनिक समस्यायें आपसे आप सुलझती जायेगी।

मेरा यह अध्ययन हिन्दी के लिए ही नही अपितु कन्नड साहित्य के लिए भी नया है। कन्नड मे इस प्रकार का कार्य अब तक शायद ही हुआ हो।

श्रद्धेय डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मेरे इस अध्ययन का पथप्रदर्शन किया है और हर प्रकार से सहायता कर के मेरा उत्साह बढ़ाया है। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए न मेरे पास उचित शब्द हैं न मैं कोरे शब्दों में आभार प्रकट करके उनके अपार स्नेह और सहृदयता का मूल्य कम करना ही चाहता हूँ।

कन्नड साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान, लेखक तथा भक्ति-साहित्य के मर्मज्ञ पूज्य आर० आर० दिवाकर जी के ग्रंथों से मैने विशेष सहायता ली है। श्रद्धेय प्रो० वी० सीतारामय्या जी से, जो कन्नड के लोकप्रिय कवि और विद्वान् हैं, मुझे अपने अध्ययन में प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला है। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज से भक्ति का मर्म समझने में मुझे सहायता मिली है। इन सब विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

हिन्दी, कन्नड, संस्कृत तथा अंग्रेजी के जिन-जिन ग्रंथों से मैंने मदद ली है उनमे से बहुतो के नाम पाद-टिप्पणी मे दिये गए हैं और अन्य विद्वानों तथा उनके ग्रंथों के नाम परिशिष्ट में दिये गए हैं। इस अवसर पर उन सभी विद्वानों का स्मरण करता हूँ जिनके ग्रंथों से मैंने अपने अध्ययन में प्रेरणा एवं सहायता पायी है।

इस कार्य को सम्पन्न करने मे मुझे मैसूर विश्व-विद्यालय तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अनेक प्रकार से सहायता मिली है। इन दोनों संस्थाओं के प्रति मै अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा के मालिकों का आभार मानना मै अपना कर्तव्य समझता हूँ कि उन्होंने इस निबन्ध के प्रकाशन का सारा भार सहर्ष अपने ऊपर लिया है।

बेंगलूर,
दीपावली,
१०–११–१९५८

हिरण्मय

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रस्तावना १–५

प्रथम अध्याय—**विषय का सीमा निर्धारण**— १—३७

भक्ति शब्द का अर्थ—भक्ति के प्रकार—भक्ति के साधन—भक्ति के अन्तराय—भक्ति की श्रेष्ठता—भक्ति-शब्द से भागवत, सात्वत, पांचरात्र और वैष्णव मतों का सम्बन्ध—निर्गुण और सगुण शब्द का अर्थ—श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न विभिन्न दार्शनिक-सम्प्रदाय और उनके द्वारा प्रभावित भक्तिमार्ग—श्रीसम्प्रदाय अथवा विशिष्टाद्वैत मत—ब्रह्म सम्प्रदाय अथवा द्वैतमत—सनक सम्प्रदाय अथवा द्वैताद्वैतवाद—विष्णु स्वामी—सम्प्रदाय।

द्वितीय अध्याय—**उत्तर-मध्यकालीन भक्ति-सम्प्रदायों की पूर्वपीठिका** ३८–८१

(हिन्दी-प्रदेश में)—वज्रयान और सहजयान में भक्ति का स्वरूप—पाशुपत-मत और योग-परम्परा—नाथ और निरंजन मत—रामानन्द का आविर्भाव—निर्गुण-भक्ति में राम-भक्ति का स्वरूप—सगुण-परम्परा के साथ राम-भक्ति का वर्णन तथा अभ्युदय—सूफ़ी मत और उसका प्रेम-प्रधान भक्ति-भाव—सूफी शब्द का अर्थ—सूफ़ीमत का क्रमिक विकास—सूफ़ी-मत की प्रेम-साधना—भारतवर्ष में सूफ़ी-मत का आगमन और प्रचार—सूफ़ीमत और हिन्दी का प्रेमाख्यानक काव्य।

तृतीय अध्याय—**उत्तर-मध्यकालीन वैष्णव मतों द्वारा प्रचालित भक्ति-सम्प्रदाय (हिन्दी-प्रदेश में)** ८२–९७

रुद्र-सम्प्रदाय अथवा शुद्धाद्वैतवाद—दार्शनिक विचार और भक्ति-पद्धति—गौडीय सम्प्रदाय अथवा अचिंत्य-भेदाभेदवाद—दार्शनिक विचार और भक्ति-पद्धति—राधावल्लभीय-सम्प्रदाय—साधना-पद्धति—हरिदासी अथवा सखी-सम्प्रदाय —साधना-पद्धति।

चतुर्थ अध्याय—**उत्तर-मध्यकालीन कर्नाटक का भक्ति-सम्प्रदाय** ९८–१३९

वीरशैवमत और उसकी भक्ति-साधना—वीर-शैवमत की स्थापना—पंचाचार्य—शिवानुभव मंटप—वचन साहित्य और वचनकार—वीर-शैवमत का दार्शनिक पक्ष—अष्टावरण—पचाचार—षट्स्थल-सिद्धान्त—भक्तस्थल—महेश्वरस्थल—प्रसादिस्थल—प्राणलिंगिस्थल शरणस्थल—ऐक्यस्थल—वीरशैव भक्तो की परम्परा का आरम्भ—अल्लमप्रभु—बसव—चन्न बसव—सिद्धराम—महादेवियक्क—अन्य वीरशैव भक्त कवि—हरिहर—राघवांक—पद्मरस—पाल्कुरिके सोमेश्वर—भीमकवि—महालिंगदेव—चामरस—मग्गेय मायि देव—तोण्टद सिद्धलिंग—निजगुण शिवयोगि—मुप्पिन षडक्षरि—लक्कण्ण दण्डेश—सर्वज्ञ—षडक्षर देव।

पचम अध्याय—**उत्तर-मध्यकालीन कर्नाटक का भक्ति-सम्प्रदाय** १४०–१८४

माध्वमतावलम्बी भक्त और उनकी भक्ति-पद्धति—हरिदासों की परम्परा—परम्परा का आरम्भ—व्यास कूट और दासकूट—हरिदासों के प्रधान केन्द्र—हरिदासों के दार्शनिक विचार—उनकी भक्ति-पद्धति—हरिदास-साहित्य की महत्ता—हरिदासों पर शरण-साहित्य का

प्रभाव—संकीर्तन पद्धति—नरहरितीर्थ—श्री पादराय—श्रीविजय तीर्थ—व्यासतीर्थ अथवा व्यासराय—पुरन्दरदास—कनकदास-वादिराज-तीर्थ—श्रीविजयदास—गोपालदास—राघवेन्द्र तीर्थ—प्रसन्न वेंकटदास—जगन्नाथदास—हेब्बवन कट्टि गिरियम्म—अन्य वैष्णव भक्त कवि—रुद्रभट्ट—सोमनाथ—चौण्डरस—कुमारव्यास—कुमारबाल्मीकि—तिम्मण्ण कवि—चाटुविट्ठल-नाथ—लक्ष्मीश—गोविन्द कवि—नागरस—कुछ अन्य कवि।

षष्ठ अध्याय—**कन्नड के जैन-साहित्य में भक्तितत्व और परवर्ती साहित्य पर उसका प्रभाव** १८५–२०७

कन्नड में साहित्य-सृष्टि का आरम्भ—जैन काव्यों की विशेषताये—जैन-काव्यों में भक्ति-तत्त्व—जैन-भक्ति-साहित्य का अन्य साहित्य पर प्रभाव—**तमिलनाड का वैष्णव भक्ति-सम्प्रदाय**—आळ्वार-भक्त—प्रथम तीन आळ्वार—तिरुमळिशै आळ्वार—कुलशेखर आळ्वार—पेरियाळ्वार आण्डाळ—तोण्डरडिप्पोडियाळ्वार—तिरुपाणाळ्वार—तिरुमंगै आळ्वार—मधुर कवियाळ्वार—नम्माळ्वार—**तमिलनाड का शैव सिद्धान्त**—शैव-सिद्धान्त का आरम्भ—शैव-सिद्धांत का दर्शन-पक्ष—साधना-मार्ग।

सप्तम अध्याय—**दोनों प्रदेशों की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियां** २०८–२३१

हिन्दी-प्रदेश की राजनीतिक परिस्थिति—सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति—निर्गुणोपासना का प्रचार समाज की तथा-कथित छोटी जातियों में होने का कारण—सगुणोपासना का प्रभाव समाज के उपरलेस्तर में—कारण-विश्लेषण—शास्त्रीय भक्ति और लोक-भक्ति—कर्नाटक में राजनीतिक परिस्थिति—सामाजिक और

धार्मिक परिस्थिति—शास्त्रीय भक्ति और लोक-भक्ति ।

अष्टम अध्याय—**हिन्दी और कन्नड में विविध भक्ति-भावों की अभिव्यंजना—वात्सल्य-भक्ति-भाव** २३२–२९२

पालने में कृष्ण को सुलाना—यशोदा माता धन्य है—गोपियों का उपालम्भ—कृष्ण को हौए का भय दिखाना—बाल-छवि-वर्णन—यशोदा से कृष्ण की शिकायते—**सख्य-भक्ति**—कृष्ण और गोप बालक—अर्जुन, सुदामा, विदुर और उद्धव के प्रति कृष्ण का सख्य-भाव—भक्त के द्वारा भगवान को चेतावनी—**मधुर-भक्ति-भाव**—निर्गुणोपासक-भक्तों के काव्यो में मधुर भाव का स्वरूप—सगुणोपासक भक्तों के काव्यों में मधुर भाव का स्वरूप—**दास्य भक्ति-भाव** ।

नवम अध्याय—**हिन्दी और कन्नड में सगुण तथा निर्गुण-मतावलम्बी भक्त-कवियों की विचार-धारायें** २९३–३४८

जात-पाँत से नही ज्ञान और भक्ति से मनुष्य की पहचान—अवतार-वाद, मूर्तिपूजा तथा पौराणिक विश्वासों का विरोध—वेश और बाह्याडम्बर का विरोध तथा नैतिक-जीवन का महत्व—सहज-भाव—शून्य साधना—गुरु-माहात्म्य—नाम महिमा—आत्म निवेदन, शरणागति अथवा प्रपत्ति तथा भगवान की भक्तवत्सलता ।

दशम अध्याय—**भक्ति आन्दोलन की देन** ३४९–३७१

हिन्दी और कन्नड का भक्ति-साहित्य—कुछ कारण-विश्लेषण—भाषा और साहित्य को नई प्रेरणा देने के रूप में—सामाजिक-नैतिक स्तर को उच्चता देने के रूप में—धार्मिक उदारता लाने तथा मानवीय मूल्यों की स्थापना के रूप में ।

परिशिष्ट (१)—**हिन्दी और कन्नड के भक्त-कवि तथा काव्य** ३७२–३८३

परिशिष्ट (२)—**सहायक पुस्तकों की सूची** ३८४–३९०

प्रथम अध्याय

विषय का सीमा-निर्धारण

भक्ति शब्द का अर्थ

भारतवर्ष मे अतिप्राचीन काल से धर्म-साधना के तीन प्रधान मार्ग प्रचलित हैं--कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग। देश काल परिस्थिति के अनुसार कभी किसी मार्ग की प्रधानता रही है कभी और किसी की। यदि किसी समय ज्ञान और कर्म का समन्वय हुआ तो किसी समय ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य हुआ। ऐसा भी समय आया जब कि भक्ति के साथ ज्ञान और कर्म का सामजस्य स्थापित किया गया और भक्ति का स्थान सर्वोपरि समझा गया। किन्तु, किसी समय किसी एक मार्ग की ही अत्यन्त वृद्धि हुई तो समाज मे विषमता और अशाति उत्पन्न हुई। इस विषमता को दूर करने के लिए नाना प्रकार के सुधार के आन्दोलन चलाये गये जिनके फलस्वरूप नये-नये सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए। हमारे देश मे यह सिलसिला बराबर जारी रहा है। सच पूछा जाय तो कर्म, ज्ञान और भक्ति को पृथक्-पृथक् न मान कर तीनो को एक दूसरे का पूरक ही समझना चाहिए।

भक्ति शब्द सस्कृत के 'भज् सेवायाम्' धातु से बनाया गया है, जिसका अर्थ है, भगवान की सेवा करना। भक्ति-शास्त्र के आचार्यो ने 'भक्ति' शब्द की कई प्रकार से व्याख्या की है। 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' मे कहा गया है कि ईश्वर मे अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति है।[1] 'नारद भक्ति सूत्र' मे यह बताया गया है कि 'ईश्वर के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है।'[2] श्री मद्भागवत मे भक्ति का लक्षण यो कहा गया है--'मनुष्यो के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान कृष्ण मे भक्ति हो, भक्ति ऐसी हो जिसमे किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्ति से आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके भक्त कृतकृत्य हो जाता है'।[3]

१--सा परानुरक्तिरीश्वरे--।।२।। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र

२--सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा--।।२।। नारद भक्ति सूत्र

३--स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता यथाऽऽत्मा संप्रसीदति। भागवत १-२-६

श्रीमद्भागवत में आगे फिर कहा गया है--'उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इंद्रियो की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम रूप से भगवान में लग जाय'।[1] श्रीमध्वाचार्य का मत है कि "भगवान में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ और सतत स्नेह ही भक्ति है। इससे अधिक मुक्ति का कोई दूसरा सरल उपाय नही है। यह परम प्रेम जो पूर्वज्ञान से उत्पन्न होता है और सर्वदा विद्यमान रहता है, भक्ति कहा जाता है।"[2] गोपालपूर्वतापनी उपनिषद् का कथन है--"मन को भगवान मे पूर्ण रूप से केन्द्रित करके किसी फल की इच्छा किये बिना उनका निरंतर भजन करना ही भक्ति है।"[3] नारदपाचरात्र के अनुसार प्रेम परिप्लुत मन का हरि के प्रति स्वार्थ रहित होकर सदा प्रवाहित होते रहना ही भक्ति है।"[4] श्री रूप गोस्वामी के अनुसार "ज्ञान और कर्म के प्रभाव से रहित हो किसी प्रकार के फल की इच्छा किये बिना निरन्तर कृष्ण का प्रेमपूर्वक ध्यान करना ही भक्ति है।"[5] 'भक्तिरसायन' मे भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गयी है--"मन की उस वृत्ति को भक्ति कहते है जो आध्यात्मिक साधना से द्रवीभूत हो कर ईश्वर की ओर प्रवाहित होती है।"[6] आचार्य रामचद्र शुक्ल जी ने भक्ति पर विचार करते हुए कहा है "भक्ति मार्ग अपने विशुद्ध रूप मे धर्मभावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है।"[7] डा० हजारी

१--भागवत-स्कंध ३--अध्याय २५ श्लोक ३२-३३

२--माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़: सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्नचान्यथा।
ज्ञानपूर्वः परः स्नेहो नित्यो भक्तिरितीर्यते।
--महाभारत तात्पर्य निर्णय--१, ८६, १०७।

३--भक्तिरस्य भजनं; एतादिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनः-कल्पनम्--
--गोपालपूर्वतापनी उपनिषद्-२-१

४--मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता। अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी॥ नारद पांचरात्र--

५--अन्याभिलषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा। - भक्तिरसामृतसिंधु।

६--द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतांगता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्याभिधीयते॥ भक्तिरसायन -१-३

७--सूरदास--रामचन्द्र शुक्ल-पृष्ठ-४५।

प्रसाद द्विवेदी जी के अनुसार 'भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है।"[१]

इस प्रकार कुछ प्रमुख प्राचीन आचार्यो तथा हिन्दी के आधुनिक विद्वानों ने 'भक्ति' शब्द की व्याख्या की है। इन व्याख्याओ से यह स्पष्ट है कि ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है जो अहैतुकी है और मोक्ष प्राप्ति के लिए सबसे सरल मार्ग है।

भक्ति के प्रकार

भक्ति को आचार्यो ने प्रधानतया दो भागो मे विभाजित किया है--गौणी भक्ति और पराभक्ति। यह विभाजन भक्ति के साधन और साध्य पक्ष के आधार पर किया गया है। मन की एकाग्रता से भगवान का नित्य निरंतर-श्रवण, कीर्तन, भजन, आराधन आदि भक्ति का साधन पक्ष है और भगवान मे परानुरक्ति अथवा सिद्ध दशा की भक्ति उसका साध्य पक्ष है। गौणी भक्ति के फिर से दो भाग किये है--वैधी तथा रागानुगा।'[२] जिस भक्ति का साधन शास्त्रो मे बनाये गये नियमो के अनुसार होना है उसे 'वैधी भक्ति' कहते है। जिस भाव से भगवान के प्रेम मे अपूर्व रस का अनुभव होता है और भक्त के हृदय मे परम शान्ति तथा आनन्द उत्पन्न होता है उसे 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। रागानुगा के फिर से दो भाग किये गए है--कामरूपा और सम्बन्ध-रूपा।[3] वैधी और रागानुगा दोनो साधन पक्ष के अन्तर्गत है। जब भक्त सब कामनाओ से रहित होकर पूर्णशान्ति की अवस्था को पहुँचता है--तब ईश्वर के परम प्रेम मे निमग्न होता है। भक्त की इस अवस्था को 'पराभक्ति' कहते है। गौणी भक्ति को साधन-भक्ति और पराभक्ति को साध्य भक्ति कहते है। साधन-भक्ति और साध्य-भक्ति क्रमशः मर्यादा-भक्ति और स्वरूपा-भक्ति भी कहलाती है।

साधन रूपा भक्ति के पांच अंग माने गये हैं--(१) उपासक (२) उपास्य (३) पूजा-द्रव्य (४) पूजा विधि और (५) मन्त्र जप। तंत्रो मे मन्त्र जप को विशेष महत्व दिया गया है और इसके फिर पाच तत्व माने

१--मध्यकालीन धर्म साधना-पृष्ठ १४२, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

२--वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।
-हरिभक्तिरसामृत-सिंधु-पूर्वविभाग-२ श्लोक ३

३--सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा-वही-श्लोक-६३।

गए है--(१) गुरुतत्व (२) मन्त्रतत्व (३) मनःतत्व (४) देवतत्व और (५) ध्यान-तत्व ।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के कई प्रकार बताए गए हैं । पहले-पहल मनुष्य की वृत्तियो के अनुसार उसके चार भेद माने गए है--(१) सात्विकी, (२) राजसी, (३) तामसी और (४) निर्गुण ।[1] प्रथम तीन भक्तियाँ काम्य है और चौथी निर्गुण भक्ति निष्काम है । सात्विकी भक्ति मुक्ति की कामना से की जाती है, राजसी भक्ति धन कुटुम्ब, घर-बार की इच्छा से की जाती है और तामसी भक्ति में यह कामना रहती है कि दूसरो का अहित हो जाय, दुश्मनों का नाश हो जाय । निर्गुण भक्ति जो 'सुधासार भक्ति' भी कहलाती है, बिना किसी कामना के की जाती है । इसमे मुक्ति की भी इच्छा नही रहती । यही अनन्य भक्ति है । जो अनन्य भक्ति की साधना करता है उसका न कोई मित्र है, न कोई शत्रु ही । उसे जगत के दुखों का संताप नही होना और वह भगवान के दर्शन मात्र से परम आनन्द का अनुभव करना रहता है ।

श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध मे साधना-पक्ष को ध्यान में रखकर भक्ति के नौ भेद माने गये हैं जो 'नवधा भक्ति' अथवा 'नवविधा भक्ति' के नाम मे प्रसिद्ध है । ये नवधा भक्ति है--श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ।[2]

प्रथम तीन श्रवण, कीर्तन और स्मरण श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति के सहायक है । पादसेवा, अर्चन और वन्दन रूप सम्बन्धी साधन है और दास्य, सख्य तथा आत्म निवेदन भाव सम्बन्धी साधन है । अन्तिम तीन रागात्मिका भक्ति से सम्बन्ध रखते है और प्रथम छः वैधी भक्ति के अग है । अन्तिम आत्म निवेदन इस नवधा भक्ति की चरम परिणति है । क्योकि वैधी-भक्ति का रागात्मिका भक्ति मे पर्यावसान होना है और रागात्मिका-भक्ति आत्म-निवेदन मे पूर्णता को प्राप्त होती है । यही आत्म-निवेदन आगे चलकर आत्म समर्पण में परिवर्तित होता है जिसमे शरणागति का भाव सर्वोपरि रहता है ।

१--श्री भागवत तृतीय स्कंध-अध्याय २९, श्लोक ७-१४.

२--श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौभक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥२४॥

भागवत, सप्तम स्कंध-अध्याय ५-श्लोक २३,२४ ।

श्रवण, स्मरण और कीर्तन मे भगवान के नाम का विशेष महत्व है। भगवान के यश, गुण महत्ता और उनकी लीलाओ को श्रद्धा सहित सुनना और सुनाना श्रवण भक्ति है।[1] श्रवण भक्ति की वह स्थिति सर्वोच्च मानी गयी है जिसमे भक्त भगवान की कीर्ति, और चरित्र का वर्णन सुनने के लिये बेचैन रहता है। भगवान के नाम, गुण, लीला, धाम आदि का प्रेम और श्रद्धा के साथ कथा पाठ और गान करना कीर्तन कहलाता है। कीर्तन में गान, वाद्य, नृत्य इन तीनो का समावेश है। कीर्तन की और एक महत्ता यह है कि भक्त लोग सामूहिक रूप मे वाद्ययत्रो के सहारे भगवान का यश, गुण तथा चरित्र का ऐसा गान करते है कि एक विशेष प्रकार का वातावरण उत्पन्न होता है जिसमे भाव मग्नता की आनन्दमय स्थिति अपने आप ही तैयार होती है। मन की एकाग्रता और उसके नियन्त्रण के लिए सब भक्तो ने कीर्तन भक्ति की आवश्यकता बतायी है। यही कारण है कि भक्ति-परक अधिकाश साहित्य गेयपदों के रूप मे रचा गया पाया जाता है और गेयतत्व के कारण ही समाज पर भक्ति-साहित्य का व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा है। भगवान के नाम, गुण, महिमा, लीला आदि का सदा ध्यान करना और उसी मे मग्न रहना स्मरण भक्ति कहलाता है। इस भक्ति के अन्तर्गत ईश्वर के नाम जप का विशेष महत्त्व है। इसमें भक्त की ऐसी चित्तवृत्ति रहती है कि वह चलते फिरते, सोते जागते, सर्वदा अपने आराध्यदेव का ध्यान करता रहता है। श्रीमद्भागवत में स्मरण भक्ति की विशेषताओं का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है। एकादश स्कंध में कृष्ण उद्धव से कहते है--"जो व्यक्ति विषय का चितन करता है उसका मन विषय-कर्मो में तल्लीन रहता है और जो व्यक्ति मेरा सदा स्मरण करता है उसका मन मुझ मे ही तल्लीन रहता है।[2] भगवद्गीता में भी कहा गया है--हे अर्जुन, जो व्यक्ति मुझ में अनन्य चित्त से लग कर सदा मेरा स्मरण करता है मुझ मे तल्लीन उस योगी को मै सुलभ हूं।[3]

१--श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवत्।
श्रीहरिभक्तिरसामृतसिंधु-पू० भा० लहरी २ श्लोक २३

२--विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते।
भागवत-११ स्कंध १४ अ० श्लोक २७

३--अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।
-भगवद्गीता-अ०-८-श्लोक ३७.

जैसा कि ऊपर कहा गया है, पादसेवन, अर्चन और वंदन भगवान के रूप से सम्बन्धित हैं। पादसेवन की आरम्भिक अवस्था मूर्ति पूजा, गुरुपूजा और भगवद्भक्त-पूजा मे होती है। इन सेवाओ के द्वारा अभ्यास करते हुए भक्त दास्य प्रेम मे एकाग्रता पाता है और तदनन्तर अपने मन मे ही परमात्मा के अमूर्त चरणों की सेवा करने मे समर्थ होता है। इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक पाद-सेवन से बाह्य जगत का सम्बन्ध छूट जाता है और भक्त मे अकिंचनता का भाव पैदा होता है। पादसेवन की महत्ता का वर्णन भागवत में यों किया गया है। "जो श्रेष्ठ सज्जन पुण्य यश वाले भगवान के नौकारूपी चरणो का आश्रय लेते है उनके लिए यह जगत गोवत्सपद के चिन्ह के समान है, वे पद-पद मे परम पद पाते है अत: उन्हे कभी विपत्तियो का सामना नही करना पडता।"[१] श्रद्धा और आदर के साथ भगवान के स्वरूप की पूजा 'अर्चन भक्ति' कहलाती है। भक्त लोगों का यह विश्वास है कि भगवान अपने अर्चावतार द्वारा मन्दिर की मूर्ति, सद्गुरु और भक्त जनो मे वास करते है। इसलिये इन तीनों रूपो मे भक्त लोग भगवान का प्रतिरूप देखते है और उनकी पूजा में अपनी समस्त प्रिय वस्तुओ को समर्पित करते हैं। अर्चन दो प्रकार से किया जाता है--एक मानसिक और दूसरा बाह्य उपचारो द्वारा। मानसिक अर्चन मे आत्मसमर्पण का भाव प्रधान है। बाह्य उपचार सोलह है जिन्हे षोडशोपचार कहते है। षोडशोपचार के नाम इस प्रकार है :--आसन, अर्घ्यपाद्य, आचमन, पंचामृत, स्नान, वस्त्र, शृङ्गार, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताबूल, यज्ञोपवीत, परिक्रमा, वंदना। इसके अतिरिक्त भगवान के स्वरूप और मदिर की परिक्रमा द्वारा भी अर्चन भक्ति की जाती है। भगवान कृष्ण ने कहा है "हे अर्जुन, जो मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि को भक्ति से अर्पण करता है उस संयमी पुरुष की इस भेट को मै प्रेम से स्वीकार करता हूं'।[२] इसमें भी दास्य भाव की व्यजना होती है। भगवान के सामने नतमस्तक होकर नम्रता के साथ उनकी अनन्त महिमा का हृदय मे ध्यान करते हुए स्तुति करना 'वंदन भक्ति' है। भक्त लोगो ने अपने

१--समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं, महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परंपदं, पदं-पदं यद्विपदां न तेषाम्॥
भागवत-दशम स्कन्ध श्लोक-५८

२--पत्र पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्तया प्रयच्छति।
तदहं भक्तयुपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥२६॥
--गीता-अ० ९ श्लोक २६

आराध्य-देव से सम्बन्ध रखने वाली समस्त चेतन और अचेतन वस्तुओं की वंदना की है। क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रिय से सम्बन्ध रखने वाला प्रत्येक पदार्थ प्रिय हो जाता है।

दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये तीनो मानसिक भाव हैं और भक्ति रस के उत्पादक हैं। परमात्मा मेरे पिता है, माता है, प्रभु हैं, और मै उनका पुत्र हूं, सेवक हूँ, ऐसा समझ कर भक्ति करना 'दास्य भक्ति' है। परमात्मा मेरे साथी हैं, मित्र हैं, बंधु हैं, सुख दुख के भागी है ऐसा समझ कर भक्ति करना 'सख्य भक्ति है। यदि दास्य भक्ति में भक्त के हृदय मे सदा आदर, श्रद्धा, आज्ञाकारिता के भाव जागृत रहते हैं तो सख्य भक्ति मे भक्त और भगवान के बीच में कोई पर्दा नही रहता, और दोनो इस तरह हिले-मिले रहते है कि सदा समानता और स्वतन्त्रता का अनुभव होता रहता है। आत्म-निवेदन मे भक्त अपनी विद्या, स्थान-मान-अभिमान को त्याग कर अपनी त्रुटियो, अपराधो और सारी कमजोरियो को बिना संकोच के प्रकट करते हुए भगवान के चरणों मे अपना सर्वस्व समर्पण करता है। यही शरणागति है जो भक्ति की चरम अवस्था है।

प्राय. सभी सगुण भक्त कवियो ने भागवत मे प्रतिपादित इस नवधा भक्ति का अपनी-अपनी रचनाओं मे निरूपण किया है।

'नारद भक्ति सूत्र' में भक्ति को एक ही परम प्रेमरूपा मानते हुए भी उसे ग्यारह आसक्तियों के रूप मे बाँटा गया है। वे ग्यारह आसक्तियाँ इस प्रकार हैं --(१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कातासक्ति. (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयतासक्ति और (११) परमविरहासक्ति।[१]

जो महात्माजन प्रेमरूपा भक्ति की पूर्णता को पहुँच जाते हैं, उनमें तो ये सभी आसक्तियाँ रहती हैं। उदाहरण के लिए श्री ब्रजगोपियों में सभी आसक्तियाँ विद्यमान थीं। जिनमें इन सभी आसक्तियों का विकास नही हो पाता, उन्हें अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, इनमें से एक या एक से अधिक

१--गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्ति-कांतासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥--नारद भक्ति सूत्र--सूत्र ॥८२॥

भावो से, भगवान के साथ प्रेम करना चाहिये। इन आसक्तियो से भक्ति करने वाले असंख्य भक्त हो गये है, जिनमे से निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय है--

(१) गुणमहात्म्यासक्त भक्त--देवर्षि नारद, महर्षि वेदव्यास, शुकदेव, याज्ञवल्क्य, काकभुशुण्डि, शेष, सत, शौनक, शाण्डिल्य, भीष्म, अर्जुन, परीक्षित, पृथु, जनमेजय आदि।

(२) रूपासक्त भक्त--मिथिला के नर-नारी, राजा जनक, दण्डकारण्य के ऋषि, ब्रजनारिया आदि।

(३) पूजासक्त भक्त--श्रीलक्ष्मी जी, राजा पृथु, अम्बरीष, श्री भरत जी आदि।

(४) स्मरणासक्त भक्त--प्रहलादजी, ध्रुवजी, सनकादि।

(५) दास्यासक्त भक्त--श्रीहनुमानजी, अक्रूरजी, विदुरजी, आदि।

(६) सख्यासक्त भक्त--अर्जुन, उद्धव, सजय, श्रीदामा, सुदामा इत्यादि।

(७) कातासक्त भक्त--अष्ट पटरानियाँ आदि।

(८) वात्सल्यासक्त भक्त--कश्यप-अदिति, सुतया-पृश्नि, दशरथ-कौसल्या, नद-यशोदा, वसुदेव-देवकी आदि।

(९) आत्मनिवेदनासक्त भक्त--श्री हनुमान जी, राजा अम्बरीष, राजा बलि, विभीषण, शिवि, आदि।

(१०) तन्मयतासक्त भक्त--याज्ञवल्क्य, शुक, सनकादि ज्ञानीगण, सुनीक्षण आदि प्रेमी मुनिगण।

(११) परमविरहासक्त भक्त--उद्धव, अर्जुन, ब्रज के नर-नारी।

चैतन्य मतावलम्बी श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिधु' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक ग्रन्थों मे भक्ति शास्त्र के गूढतम सिद्धान्तो का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होने भक्ति को भी एक रस मान कर विस्तार से उसकी व्याख्या की है। उनके अनुसार भक्तिरस दो प्रकार के होते है--(१) मुख्य भक्ति रस (२) गौण भक्ति रस। मुख्य भक्तिरस के अंतर्गत उन्होने पाँच रस माने है--शात, प्रीति, प्रेम, वत्सल तथा मधुर। गौण भक्ति रस के सात भेद बताये है। जैसे--हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स।[1] प्रीति और प्रेय को उन्होंने क्रमशः दास्य और सख्य कहा है।

१--भवेद्भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा।
पंचधाऽपि रसैरेक्यान्मुख्यस्त्वेक इहोदितः ॥६५॥

वैष्णवमार्गीय जितने आचार्य हुए हैं प्रायः सभी ने भक्ति के उपर्युक्त पाँच भेद शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव को स्वीकार किया है। दास्य और सख्य भक्तिभावों का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। ससार की अस्थिरता के ज्ञान से, नाना प्रकार की वासनाओं के त्याग से और ज्ञान द्वारा प्राप्त की गई चित्त की स्थिर अवस्था से, भक्त के हृदय मे जो आनन्द-उत्पन्न होता है, उसे 'शान्त-भाव-भक्ति' कहते है। ईश्वर बालक है, पुत्र है और मै उसकी माता हूँ, धात्री हूँ, मै उसका पिता हूँ, शिशु के प्रति यह भाव 'वात्सल्य-भक्ति' कहलाती है,। भगवान मेरे पति है, मै उनकी पत्नी हूँ अथवा परमात्मा मेरे प्रेमी है मै उनकी प्रेमिका हूं, ऐसा समझ कर भक्ति करना 'मधुर-भक्ति' कहलाती है। सगुणोपासक भक्तो ने इन पाचो प्रकार की भक्तियों की साधना की है। पर हाँ, किसी ने दास्य पर जोर दिया है तो किसी ने वात्सल्य पर, और किसी ने माधुर्य भाव पर। निर्गुणोपासको ने दास्य, शात और माधुर्य भाव को अपनाया है, पर उस रूप मे नही जिस रूप मे सगुणोपासक भक्तों ने अपनाया है। क्योकि उन्होने इन भावो के प्रकाशन के लिये भगवान के अर्चावतार को आलम्बन न बना कर अपने हृदय और निर्गुण ब्रह्म को ही आधार बनाया है। वैष्णव भक्तों ने परमात्मा को पुरुष मान कर उनसे सभी प्रकार के लौकिक सम्बन्ध जोडे है। ऐसे भी कुछ भक्त हुए है जिन्होने भगवान के युगलरूप की कल्पना की है। मातृभाव अथवा जननी-जन्य भाव से ईश्वर की उपासना करने वाले कुछ शाक्त योगी भी पाये गये हैं। सूफ़ी साधकों ने भगवान के प्रति 'माशूक' अर्थात् 'प्रिया' के रूप मे मधुर भाव प्रकट किए हैं। इनके द्वारा रचा गया हिन्दी साहित्य अपनी विशिष्टता के लिये प्रसिद्ध है।

भक्ति के साधन

जिन आचार्यो ने भक्ति की व्याख्या की है उन्होने भक्ति के साधनों का

सप्ताधाऽत्र तथा गौण इति भक्तिरसोऽष्टधा।
मुख्यस्तु पंचधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः ॥९६॥
मधुरश्चैत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः।
हास्योऽद्भुतस्तया वीरः करुणो रौद्र इत्यपि ॥९७॥
भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा।
एवं भक्तिरसो भेदाद्दक्ष्योर्द्वादशधोच्यते ॥९८॥
--हरिभक्तिरसामृतसिधु-दक्षिण विभाग--लहरी ५ पृ० ३०८ तथा ३०९

भी वर्णन किया है। प्राय. सभी ने सत्सग, संतसमागम, गुरु, शास्त्रग्रंथों का पठन आदि की बडी आवश्यकता बताई है। भगवान कृष्ण स्वयं उद्धव से सत्सग की महिमा का वर्णन करते हुए कहते है--"जगत में जितनी आसक्तियाँ है उन्हे सत्सग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सग मेरी प्रसन्नता का, मुझे वश मे कर लेने का, जैसा सफल साधन है, वैसा साधन, न योग है, न साख्य, न धर्म पालन, न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग और दक्षिणा से भी मै वैसा प्रसन्न नही होता। कहाँ तक कहा जाय, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम-नियम भी सत्संग के समान मुझको वश मे करने मे समर्थ नही है।"[१] भगवान नारद भी कहते है कि महापुरुषो का सत्सग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है क्योंकि भगवान की कृपा से ही ऐसा सत्सग प्राप्त होता है। वस्तुतः भगवान और उनके सज्जन भक्तो मे कोई भेद नही है। इसीलिए सदा सत्सग की साधना करनी चाहिये। गुरु को भक्ति-साधना का एक प्रधान अंग ही माना गया है। वैसे तो गुरु सतो की श्रेणी मे आ जाते है, लेकिन गुरु का सम्बन्ध शिष्य के साथ कुछ विशेष प्रकार का होता है। यही कारण है कि भक्तिसाधना मे गुरु को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गुरु को साक्षात् परब्रह्म ही कहा गया है--

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् मे भी यह बताया गया है कि जिस प्रकार परमात्मा मे भक्ति होती है उसी प्रकार गुरु मे भी भक्ति होती है।'[२] भगवद्गीता मे 'गुरु पूजा को शारीरिक तपो मे परिगणित किया गया है।'[३] न केवल वैष्णव सम्प्रदायो मे गुरु को बहुत मान्यता दी गयी है, बल्कि योग संप्रदायो में भी गुरु की महत्ता की सर्वत्र गाथा गायी गयी है। 'शिव संहिता' मे गुरु को पिता, माता और साक्षात् ईश्वर बताया गया है और यह उपदेश दिया गया है कि मन, वाणी और कर्म से गुरु की सेवा करनी चाहिये।[४] चाहे सगुण भक्त हो, चाहे निर्गुण भक्त, सभी ने अपनी साधना में गुरु की आवश्यकता पर जोर

१--भागवत--११, १२-१-२।
२--यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरो। श्वे० ६, २३
३--देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते।--भगवद्गीता-१७-१४
४--शिव संहिता-३-१३.

दिया है। भागवत में भक्ति के नाना साधनों का बडे विस्तार से वर्णन किया है--"जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता है वह मेरी अमृतमयी कथा मे श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामो का सकीर्तन करे; मेरी पूजा मे अत्यन्त निष्ठा रखे, और स्तोत्रो के द्वारा मेरी स्तुति करे। मेरी सेवा-पूजा मे प्रेम रखे और सामने साष्टाङ्ग प्रणाम करे, मेरे भक्तो की पूजा मेरी पूजा से बढकर करे, और समस्त प्राणियो मे मुझ ही को देखे। अपने प्रत्येक अग की चेष्टा मेरे लिए ही करे, वाणी से मेरे ही गुणो का गायन करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे। मेरी प्राप्ति की कामना के अतिरिक्त सारी कामनाये छोड़ दे, मेरे लिए धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दे और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाय वह सब मेरे लिये ही करे। जो मनुष्य इन धर्मो का पालन करते है और मेरे प्रति आत्म निवेदन कर देते है उनके हृदय मे मेरी प्रेममय भक्ति का उदय होता है।[1]

इस प्रकार भक्ति की साधना और वृद्धि के लिए अनेक साधन बताए गए है। इनमे गुरु का स्थान सर्वोपरि कहा जायगा।

भक्ति के अन्तराय

जिस प्रकार सतसंग, गुरु सेवा, स्वाध्याय आदि से भक्ति की वृद्धि होती है, उसी प्रकार दुष्टो की सगति, काम आदि षड्रिपु, वाद-विवाद इत्यादि से भक्ति मे बड़ी बाधा उपस्थित होती है। भगवान नारद कहते है कि "दु सग का सर्वथा ही त्याग करना चाहिये। क्योकि वह काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धि नाश एव सर्वनाश का कारण है।"[2] विषयो से मुक्त होने का उपदेश देते हुए भगवान कृष्ण कहते हैं--"विषयो के चिन्तन से मनुष्य की विषयो मे आसक्ति होती है, आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, काम से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से समोह होता है, समोह से स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि-नाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश होता है।[3] भक्त मे किसी प्रकार का दभ

१--श्रीमद्भागवत-११, १९, २०-२४

२--नारद भक्ति सूत्र-सूत्र ४३, ४४।

३--ध्यायतो विषपान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिऽजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।
--भगवद्गीता-२-६२-६३।

नही होना चाहिये, उसे कभी तर्क नही करना चाहिए। क्योकि "नैषा तर्केण मतिरापनेया" बुद्धि के तर्क से तत्त्व की कभी प्राप्ति नही होती। इतना ही नही, सुख, दुख, इच्छा, लाभ आदि का त्याग करके भक्ति की साधना करना आवश्यक है। फल की आशा करना भी भक्ति के लिए बाधक है।

भक्ति की श्रेष्ठता

भक्ति की उत्कृष्टता सर्वत्र स्वीकार की गयी है। क्योकि भक्ति न केवल "परमप्रेम रूपा" और "अमृतरूपा" है, बल्कि जिसने भक्ति को प्राप्त किया है वह सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है।[१] स्वय फलरूपा होने के कारण भक्ति के सिवा कोई दूसरा परमार्थ नही है। कर्म, ज्ञान, योग से भक्ति बडी है, क्योकि वह सबसे अधिक सरल है। अन्य मार्ग इतने लम्बे, टेढे-मेढे, अरक्षित है कि कभी-कभी उनपर चलना असम्भव हो जाता है। किन्तु भक्ति मार्ग मे स्वय भगवान पथप्रदर्शक है, रक्षक हैं। भगवान के चरणो का प्रकाश सदा मार्ग को उज्ज्वल और प्रशस्त करता रहता है। इसलिए किस बात का भय? भक्त को कुछ करना है तो इतना ही है कि भगवान के प्रति उसके प्रेम मे किसी प्रकार की कमी न हो। "अनन्य भक्त को ही भगवान के दर्शन होते है, जो न वेद से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही सभव है।"[२]

भक्ति शब्द से भागवत, सात्वत, पांचरात्र और वैष्णव मत का सम्बन्ध

भारतीय धर्मसाधना का मूल-स्त्रोत प्राचीन वेदो मे पाया जाता है। इस वैदिक धर्म की दो शाखाये प्रधान है, एक है शैवमत और दूसरी है वैष्णव मत। ये दोनो शाखाये वेदकाल से ही किसी न किसी रूप मे चली आयी है। इन दोनो धर्मो ने अपनी उदार विचार-धारा, उच्च आदर्श और महत्तम तत्वज्ञान द्वारा भारत-वासियो के जीवन को सर्वाङ्ग सुन्दर, मधुर तथा समुन्नत बनाने में योग दिया है। यद्यपि इन दोनों मे ही अंतर्धारा के रूप में भक्ति-भाव-धारा बहती आयी है और दोनो मतों को अनुप्राणित करती रही है तो भी भक्ति का क्रमिक विकास और संवर्धन विशेष रूप से वैष्णव धर्म के आश्रय मे ही हुआ है। वैष्णव मत के नाना शास्त्रीय ग्रन्थों और उसकी छत्रछाया में रचे

१—यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति,
अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥४॥—नारद भक्ति सूत्र

२—श्रीमद्भगवद्गीता—अ० ११, श्लोक—५३, ५४।

गए साहित्य में भक्ति का बड़ा ही सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। यदि भक्ति का विकास वैष्णव धर्म के आश्रय मे हुआ है तो वैष्णव धर्म का भव्य-भवन भक्ति रूपी सुदृढ आधार-शिला पर खडा हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि वैष्णव-धर्म और भक्तिसप्रदाय परस्पर योगदान पाकर विकसित हुए है।

वैष्णव धर्म का कोई शृङ्खलाबद्ध इतिहास अब तक नही लिखा जा सका है और इसके प्रारम्भिक विकास की रूपरेखा कतिपय फुटकर प्रसगो तथा अवतरणो के ही आधार पर निर्मित होती आई है। इस धर्म का पूर्ववर्ती रूप भागवत, सात्वत और पाचरात्रमतो मे पाया जाता है। यद्यपि इन तीनो का विकास विभिन्न कालो और परिस्थितियो मे हुआ था तथापि अन्ततोगत्वा वे एक ही वैष्णव धर्म मे विलीन होकर एकाकार हो गए।

भागवत मत का क्रमिक विकास विष्णु की उपासना का सहारा पाकर हुआ है। विष्णु की उपासना का मूल रूप वैदिक काल मे ही पाया जाता है। आर्य लोग प्रायः अनेक प्राकृतिक वस्तुओ और घटनाओ मे किसी न किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा मे यज्ञादि कर्मो का अनुष्ठान किया करते थे। वे अपने दैनिक जीवन को आनन्द के साथ व्यतीत करने तथा ऐहिक सुख की प्राप्ति करने के उद्देश्य से देवताओ की विनय या प्रार्थना भी किया करते थे। आरम्भिक काल मे इन देवताओ मे इद्र वरुण, मरुत, रुद्र आदि प्रमुख थे जो सर्वशक्तिमान, सृष्टि के आदिकारण परब्रह्म परमात्मा के ही स्वरूप समझे जाते थे। आगे चलकर विष्णु सहिताकाल मे सर्व प्रथम एक साधारण देवता के रूप मे ही दीख पडते है। जिन जिन प्रमुख देवताओ की कल्पना पहले पृथक्-पृथक् रूपो मे की जा रही थी वे कालान्तर मे केवल एक के ही विविध रूपो मे दीख पडने लगे और अत मे भिन्न-भिन्न नामो का प्रयोग उनके लिए ही होने लगा। इस प्रकार बहुदेववाद के स्थान पर एक देववाद की स्थापना होने लगी। ऐसे ही परिवर्तन के काल मे विष्णु का प्रभाव भी बढने लगा। आरंभिक काल के देवताओ मे इद्र सर्वप्रिय और सर्वश्रेष्ठ थे और अब विष्णु इद्र के योग्य सहायक समझे जाने लगे और कही-कही इद्र के समान माने गये। अंततोगत्वा विष्णु इद्र से भी बड़े होगए। फलत. जैसे-जैसे आर्यो का आत्म चिंतन गूढ़ होता गया, और मूल दार्शनिक तत्वो का अनुसधान करने की परिपाटी विकसित होती गयी वैसे ही वैसे वैदिक धर्म के सुव्यवस्थित साहित्य का सूत्र-पात हुआ। ब्राह्मणो की रचना तक विष्णु का प्रभाव इतना बढ़ा कि इंद्र तथा अन्य देवताओं के कई विशेषण विष्णु के लिए प्रयुक्त होने लगे। हरि,

केशव, वासुदेव, वृष्णीपति, वृषगण, ऋषभ, वैकुंठ, जैसे नाम पहले या तो इद्र के लिए प्रयुक्त होते थे या इद्र सम्बन्धी किसी वस्तु को सूचित करते थे, वे धीरे-धीरे विष्णु के कई नामो तथा उपाधियो के लिए आधार बन गए। साथ ही विष्णु की महत्ता मे चमत्कार एव अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और वे एक सर्वशक्तिमान, लोकरक्षक, सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। वैदिक साहित्य मे सृष्टि-विकास के देवता के रूप मे "नारायण" का अनेक स्थानो पर उल्लेख किया गया है। ब्राह्मण काल मे यह नारायण नाम भी विष्णु के लिए प्रयुक्त होने लगा और उनके गुणों को विष्णु के गुणो में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार विष्णु की उपासना का एक विशाल क्षेत्र तैयार हो गया।

विष्णु की उपासना का सक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के उपरात अब यह विचार करना चाहिए कि उसका वैष्णव धर्म के सुव्यवस्थित रूप मे सगठन किस तरह किया गया। कदाचित् महाभारत काल तक पहुँचते-पहुँचते वैष्णव धर्म का एक सुगठित रूप प्रकट हुआ जो भागवत या सात्वत कहलाया। इस भागवत धर्म के मुख्य उपास्य देव वासुदेव-कृष्ण थे और वे ही उसके प्रवर्तक भी माने गये। जिस प्रकार विष्णु और नारायण पहले अलग-अलग थे और बाद मे एक ही बन गए उसी प्रकार "वासुदेव" और "कृष्ण" आरम्भ मे अलग-अलग थे और कालान्तर मे एक ही समझे गए। आगे चलकर वासुदेव-कृष्ण विष्णु-नारायण के भी पर्यायवाची नाम हो गए। इस प्रकार विष्णु, नारायण, वासुदेव, कृष्ण के एकीकरण के साथ-साथ वैष्णव धर्म के विकसित रूप का पूर्ण चित्र उपस्थित हुआ।

षट् ऐश्वर्य से संपन्न होने के कारण विष्णु ही "भगवत्" कहलाये और उनकी भक्ति करने वाले "भागवत" के नाम से प्रसिद्ध हुए। विष्णु भक्तों के उपास्य धर्म के कारण इस धर्म का नाम "भागवत धर्म" पड़ा। भागवतो के उपास्यदेव वासुदेव-कृष्ण या कृष्ण जिस कुल में पैदा हुए थे उसका नाम था यादववंश जिसे सात्वत वश भी कहते थे। इसी कारण भागवत मत का दूसरा नाम सात्वत होगया। इसी यादव अथवा सात्वत कुल के चार महापुरुषो के नामों पर वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक चार व्यूहों की कल्पना की गयी। ये चार व्यूह है कृष्ण, उनके ज्येष्ठ भ्राता, पुत्र तथा पौत्र। कहा जाता है कि ये सात्वत लोग सुदूर दक्षिण भारत तक अपने धर्म का प्रचार करने के लिए गये थे।

भागवत या सात्वत धर्म के उपास्य-देव वासुदेव-कृष्ण, कृष्ण और देवकी

पुत्र कृष्ण इनमें क्या सम्बन्ध है, ये अलग-अलग नाम किस तरह एक ही व्यक्ति के वाचक होगए, इस समस्या का समाधान अब तक पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। कई भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने यह जानने का प्रयत्न किया है कि इन नामों का उल्लेख किस-किस ग्रंथ और शिलालेख में किस रूप में किया गया है और इन नामों के बीच में परस्पर क्या सबन्ध है। श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने उपलब्ध सब सामग्रियों के आधार पर अपना मत इस प्रकार स्थिर किया है। "वासुदेव कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, इतना स्वीकार कर लेना कुछ अनुचित नहीं कहा जा सकता। वे मथुरा प्रदेश के यादव कुल में उत्पन्न हुए एक क्षत्रिय महापुरुष थे, उन्हें घोर आंगिरस ऋषि के यहाँ शिक्षा दीक्षा मिली थी। उन्होंने कंस को मारा था और महाभारत के प्रसिद्ध युद्ध में उन्होंने पाण्डवों की सहायता की थी। इसी के साथ यह भी मान लिया जा सकता है कि अपने गुरु से ग्रहण किए गए विचारों को सिद्धान्त का रूप देकर उन्होंने दूसरे लोगों में प्रचार किया और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके अनुयायी सात्वतों ने उन्हें अपना उपास्य-देव भगवान तक स्वीकार किया। इसके सिवाय उनके जीवन काल से लेकर पीछे तक भी उनके प्रति, भक्ति एवं श्रद्धा प्रदर्शित की जाती रही। अन्त में वे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा तक के स्थानापन्न समझे जाने लगे। महाभारत ग्रंथ के अन्तर्गत श्रीकृष्ण दोनों रूपों में अर्थात् महापुरुष एवं देवता स्वरूप दिखाई पड़ते हैं।[1] वासुदेव कृष्ण ने जिन-जिन तत्वों का उपदेश दिया था अथवा उनके अनुयायी भागवतों और सात्वतों ने जिन-जिन तत्वों को अपनाया था उन सब का सार ही श्रीभगवद्-गीता है। गीता में श्रीकृष्ण ने जिस धर्म का उपदेश दिया था वह 'भागवत धर्म' या 'ऐकांतिक धर्म' कहलाता है। जहाँ इसमें निवृत्तिप्रधान सांख्य और प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोग का समन्वय किया गया है वहाँ ज्ञान, कर्म और भक्ति में सामंजस्य भी स्थापित किया गया है। यह बताया गया है कि मनुष्य को अपना सब कार्य किसी फल की अभिलाषा किए बिना करना चाहिए और प्रत्येक कार्य करते समय ऐसी धारणा बना लेनी चाहिए कि मैं इसके द्वारा भगवान की इच्छा की पूर्ति में एक साधन मात्र हूँ। इस तरह काम करने से मन के सब विकारों से मुक्ति मिलती है और ईश्वर की सर्वव्यापकता में पूर्ण विश्वास दृढ होता है। सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले सब यज्ञों से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि सब कर्मों का ज्ञान में ही पर्यावसान होता है।

१—वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ३२।

ज्ञान के द्वारा समत्व बुद्धियुक्त शुद्ध अन्तःकरण की उपलब्धि होती है और सब पापो का नाश होता है । जो जितेन्द्रिय है, श्रद्धावान है उसी को ज्ञान की प्राप्ति संभव है और ऐसे ज्ञान से ही भगवत्प्राप्ति की परमशान्ति मिल सकती है । जिसकी बुद्धि मे संशय भरे हैं, उसका न इहलोक है न परलोक । श्रद्धारहित, संशययुक्त पुरुष का परमार्थ भ्रष्ट हो जाता है । भगवद्गीता का बारहवाँ अध्याय 'भक्ति-योग' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें श्रद्धायुक्त भक्ति का उपदेश दिया गया है । भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते है कि जो भक्त-जन एकाग्रमन से निरतर अतिशय श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते है, वे ही सर्वश्रेष्ठ योगी है ।[१] मुझ पर अपना सब कुछ अर्पण करते हुए मेरा निरंतर भजन करने वाले प्रेमी भक्त मृत्यु-रूपी संसार से मुक्त हो जाते है ।[२] अन्त मे कृष्ण भगवान कहते है कि अपने हृदय मे मुझे बसा कर मेरी शरण मे आ जाओ । मेरी कृपा दृष्टि से तुम्हे परम शान्ति प्राप्त होगी । मन को पूर्णतया मुझ में लीन करो, मेरी उपासना करो, मेरी पूजा और मेरे लिए ही यज्ञ करो । तुम अवश्य मोक्ष गति को प्राप्त करोगे, क्योंकि तुम मुझे बहुत प्रिय हो । समस्त धर्मो को छोड़कर मेरी शरण मे आओ । मै तुम्हे समस्त पापो से मुक्त करके मोक्ष दूगा ।[३]

भगवद्गीता मे जिस भागवत धर्म का उपदेश दिया गया है उसका चरम लक्ष्य ऐकांतिक भक्ति का निरूपण करना है । 'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज'[३] यही इस ऐकांतिक भक्ति का गूढतम रहस्य है । यद्यपि भगवद्गीता मे भक्ति के दार्शनिक पक्ष, साध्यपक्ष एव साधना-पक्ष का वर्णन किया गया है तो भी अन्तिम पक्ष अर्थात् साधना या उपासना पक्ष पर ही अधिक जोर दिया गया है । अत यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि भगवद्गीता भक्ति का ही एक प्रधान ग्रथ है जिसमे वैष्णव धर्म द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध ऐकांतिक भक्ति का उज्ज्वलतम स्वरूप निखर उठा है ।

वैष्णव मत का अंतिम विकसित रूप उस समय प्रकट होता है जिस समय पांचरात्र मत का सगठन किया जाता है । पाचरात्र मत का उद्भव कब हुआ इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है । वैष्णव आचार्यो के अनुसार पाचरात्र का सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से है । सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण मे 'पाचरात्र' शब्द का उल्लेख मिलता है । उसमे बताया गया है कि

१--भगवद्गीता अ० १२।२॥ २--वही--१२॥६। और ॥७॥
३--भगवद्गीता--अध्याय १८, श्लोक ६५, ६६ ।

नारायण ने समस्त प्राणियों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए 'पांचरात्र सत्र' किया था। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान के अवलोकन से यही मालूम होता है कि पांचरात्र आचार वैदिक आचार पर ही आश्रित है। इस उपाख्यान में यह बताया गया है कि महर्षि नारद ने भारतवर्ष के उत्तर मे वर्तमान श्वेत द्वीप मे जाकर नारायण ऋषि से पाचरात्र मत के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया और लौटकर इस देश मे उसका प्रचार किया। ईश्वर संहिता मे वैष्णव सम्प्रदाय को 'एकायन' कहने का यह अर्थ बतलाया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए यही एक मात्र 'अयन' उपाय या साधन है।[1] इसी संहिता मे 'पाचरात्र' शब्द का अर्थ भी बताया गया है। उसके अनुसार भगवान के पाचो आयुधों के अंशरूपी ऋषि—शाडिल्य, औपगायन, मौञ्ज्यायन, कौशिक तथा भारद्वाज ने मिलकर विष्णु की आराधना करने की इच्छा से तोताद्रिपर्वत के ऊपर कठिन तपस्या की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर जगत्पति भगवान वासुदेव ने 'एकायन वेद' का रहस्य उन्हे समझाया। यह उपदेश पाँच रात्रियो मे दिया गया। पाँच रात्रियो मे सिद्ध होने वाली इस साधना का नाम पाँचरात्र पड़ा।[2] परमसंहिता मे पाँचरात्र की व्याख्या अलग ढङ्ग से की गई है। उसके अनुसार पचमहाभूत, तन्मात्रा, अहंकार, बुद्धि तथा प्रकृति—ये ही पुरुष के रात्र (दान) है। इन्ही के योग से इस शास्त्र का नाम पाँचरात्र पडा है।[3]

पाँचरात्र मत के भी आराध्य देव 'वासुदेव' है। वासदेव ही परब्रह्म

१—मोक्षायनाय वै पंथा एतदन्यो न विद्यते।
नस्मादेकायनं नाम प्रवदंति मनीषिणः॥ ई० संहिता–१।१८

२—पंचायुधांशास्ते पंच शाण्डिल्यश्चौपगायनः।
मौञ्ज्यायनः कौकिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः॥
पंचापि पृथगेकैकदिवारात्रं जगत्प्रभुः।
अध्यापयामास यतस्तेदेतन्मुनिपुंगवाः॥
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पंचरात्रमितीर्यं ते। ई० सं० अ० २१

३—महाभूतगणाः पंचरात्रयो देहिनः स्मृता
तद्योगाद्विनिवृत्तेर्वा पंचरात्रमिति स्मृतम्
मतमात्राणि गर्वश्च बुद्धिरव्यक्तमेव च।
रात्रयः पुरुषस्योक्ताः पंचरात्रं ततः स्मृतम्॥ प० सं० १।३९–४०

परमात्मा है, वे आत्माओ के आत्मा है। वे ही सृष्टिकर्ता हैं। पाँचरात्र मत मे व्यूहवाद का बड़ा महत्व है, वे है--वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। सकर्षण वासुदेव के ही रूप है और जीवमात्र के प्रतीक हैं। मनस्तत्व के प्रतीक प्रद्युम्न सकर्षण से, तथा जीवात्मा के प्रतीक अनिरुद्ध प्रद्युम्न से निकले है। सकर्षण व्यूह मे ज्ञान तथा बल गुणो की प्रधानता रहती है। प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्यगुणो का और अनिरुद्ध मे शक्ति तथा तेज गुणो का विद्यमान होना बताया गया है। सकर्षण का कार्य है जगत की सृष्टि करना और पाँचरात्र सिद्धान्त का प्रसार करना। प्रद्युम्न का कार्य इस मत की शिक्षा देना है और अनिरुद्ध का कार्य है क्रिया के फल का अर्थात् मोक्ष के रहस्य का उपदेश देना। यह बताया गया है कि तीनो व्यूहो की उत्पत्ति भगवान से ही होती है।

पाँचरात्र धर्म के साध्य-पक्ष और साधन पक्ष का निरूपण करने के लिये सस्कृत मे बहुत से ग्रथ रचे गए है जो सहिताओ के नाम से प्रसिद्ध है। इन सहिताओ की संख्या लगभग एक सौ आठ बतायी जाती है जिनमे पौष्कर, सात्वत, जयाख्य अत्यन्त प्रधान है। पाँचरात्र सहिताओ मे ब्रह्म, जीव तथा जगत के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस मत मे परब्रह्म अद्वितीय, अनादि, अनन्त, दुखरहित, निस्सीम है। वह सब प्राणियों मे निवास करता है। वह निर्विकार और निरवद्य है। आकार, देश, काल से अनवच्छिन्न होने के कारण पूर्ण, व्यापक तथा नित्य है। इस मत मे परब्रह्म के सगुण और निर्गुण-दोनो रूप स्वीकार किये गए है। वह न भूत है, न भविष्य, न वर्तमान। न ह्रस्व है, न दीर्घ। न आदि है, न मध्य है, न अन्त। वह द्वन्द्वो से विनिर्मुक्त है और सब उपाधियो से वर्जित है। भगवान अनन्त शक्तियो के निकेतन है। भगवान की शक्ति की सामान्य सज्ञा लक्ष्मी है। भगवान शक्तिमान है और लक्ष्मी उनकी शक्ति है। पाँचरात्रो के अनुसार जीव अनादि, परिच्छेद रहित, चिदानदघन ही है और भगवान के द्वारा वह सदा अपने कार्य मे प्रेरित किया जाता है। जीव और जगत् नारायण की ही स्वतन्त्र शक्ति का विलास है।

पाँचरात्र का मुख्य उद्देश्य भक्ति के साधन-मार्ग का निरूपण करना ही है। सहिताओ के अनुसार मदिर का निर्माण करके उसमे आराध्य-देव का स्थापन करना चाहिये और सात्वत विधिवत् अर्चना करनी चाहिये। इस दुखमय संसार से मुक्ति पाने के लिये एक मात्र साधन भक्ति है। भगवान भक्तवत्सल है और उनकी अनुग्रह-शक्ति जीवो को इस भवसागर से उबार सकती है। भगवान की अनुग्रह शक्ति को उद्बुद्ध करने का सबसे उत्तम उपाय भगवान की शरणागति, प्रपत्ति है। इस शरणागति अथवा प्रपत्ति को 'न्यास'

कहते हैं जो छः प्रकार की होती है--(१) आनुकूल्यस्य संकल्प (२) प्रतिकूल्यस्य वर्जनम् (३) रक्षष्यतीति विश्वास (४) गोपतृत्व वरणम् (५) आत्म निक्षेप और (६) कार्यव्यम्। इनका तात्पर्य यह है कि भगवान का अकिंचन सेवक या दास बनने का दृढ़ निश्चय करना, भगवान के खिलाफ जो भी भाव हो उसका परित्याग करना, भगवान भक्तों के रक्षक है इस बात का सदा विश्वास करना, केवल विश्वास ही नही बल्कि परमात्मा को रक्षक के रूप में देखना, अपना सर्वस्व उन पर अर्पण करना और उनके प्रति नितान्त दीनता का भाव बरतना। पाँचरात्रियों के लिए शरणागति न केवल एक मानसिक भावना है बल्कि इस भावना का व्यावहारिक जीवन मे विधिवत् अनुष्ठान करना भी अनिवार्य है। जबसे इस प्रपत्ति मार्गवाले पाँचरात्र धर्म का वैष्णव धर्म के साथ एकीकरण हो जाता है तबसे भक्ति आन्दोलन मे एक नूतन युग का आरम्भ होता है। यह कहा जा सकता है कि तामिलनाड के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय ने सबसे पहले पाचरात्र-धर्म को अपनाया और भक्ति को लोकधर्म बनाया।

निर्गुण और सगुण शब्द का अर्थ

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन सम्बन्धी जितना साहित्य है उसमे उपनिषदों का, जिन्हे वेदाग कहते है, महत्वपूर्ण स्थान है। इन उपनिषदों मे भारतीय आध्यात्मवेत्ता ऋषियो के दीर्घ चितन एव मनन के उपरान्त निकाला हुआ निष्कर्ष सगृहीत हुआ है। उन मनीषियो ने इस नानात्मक, सतत परिवर्तनशील अशाश्वत जगत के मूल मे विद्यमान चिरतन सत्तात्मक वस्तु की बडी ही बारीकी से छानबीन की है। इस छानबीन के कार्य के लिए उन्होने तीन तत्वो का उपयोग किया है--आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। आधिभौतिक तत्व के आधार पर इस भूतात्मक जगत की उत्पत्ति, स्थिति एव लय के कारणो की जाँच की गई है। आधिदैविक तत्व के आधार पर नानारूप तथा स्वभावधारी देवताओ मे शक्ति का संचार करने वाले परमात्म-तत्व का परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है। आध्यात्मिक तत्व के सहारे अन्त करण की विविध प्रक्रियाओं और जीवधर्म सम्बन्धी समस्त कार्यो का विश्लेषण किया गया है। इन तीनों तत्वो की सहायता से परमतत्व का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया है। इस परमतत्व को उपनिषदो मे ब्रह्म कहा गया है। इसके दो रूप हैं--निर्गुण या परब्रह्म और सगुण या अपर ब्रह्म। सगुण सविशेष, साकार और सोपाधि है; निर्गुण गुण, विशेषण, आकार और उपाधि

से परे है। निर्गुण ब्रह्म वह है जिसे किसी विशेषण, चिन्ह या लक्षण से लक्षित नही किया जा सकता और सगुण ब्रह्म उसे कहते हैं जिसे किसी गुण, चिन्ह या विशेषण द्वारा पहचाना जा सकता है और जिसका स्वरूप हृदयगंम किया जा सकता है। जब एक ही तत्व सगुण साकार, सविशेष है और निर्गुण निराकार, निर्विशेष है तब यह प्रश्न उठता है कि वह तत्व है क्या चीज ? इस प्रश्न का समाधान वेदाती लोग इस प्रकार करते हैं कि ब्रह्म अपने आप मे निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरूपाधि ही है। किन्तु या तो अविद्या के कारण या उपसाना के हेतु ब्रह्म को हम सगुण, साकार, सविशेष और सोपाधि समझते है। यदि रस्सी को देख कर हम उसे साँप समझ ले तो हमारी ही भूल है। वस्तुत: ब्रह्म अपने मूल रूप मे निर्गुण ही है।

श्रुतियो मे ब्रह्म के सगुण और निर्गुण स्वरूप को नाना प्रकार से समझाया गया है। सगुण ब्रह्म के बारे मे यह कहा गया है कि वह, सत्य ज्ञान और अनत रूप है, विज्ञान और आनन्द रूप है, उसमे ज्ञानशक्ति, बल-शक्ति तथा क्रिया शक्ति[1] नामक तीन शक्तियाँ विद्यमान है। छादोग्यउपनिषद् मे "तज्जलान्" नामक एक ही शब्द द्वारा यह कहा गया है कि यह जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी मे लीन होता है और उसी के कारण प्राण धारण करता है।[2] तात्पर्य यह है कि जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण ब्रह्म ही है। माण्डूक्योपनिषद् मे 'ॐ' एक मात्र अक्षर को ब्रह्म कह कर ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन किया गया है। यह 'ॐ' अक्षर अविनाशी परमात्मा है। यह सारा जगत उसी की निकटतम महिमा का द्योतक है। भूत, वर्तमान और भविष्य भी यह 'ॐ' कार है। वह इन तीनो से भी अतीत और भिन्न है।[3] अर्थात् कारण, सूक्ष्म, और स्थूल--इन तीनो भेदो वाला जगत् और इसको धारण करने वाला परमात्मा का जगत् द्वारा अभिव्यक्त अश--इतना ही परब्रह्म का स्वरूप नही है उससे अतीत भी जो कुछ है वह सब मिलकर ही परब्रह्म का समग्र रूप है। इसी उपनिषद् के छठवें श्लोक मे सगुण ब्रह्म के

१--परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥--श्वेताश्वरोपनिषद् । ६।८

२--तज्जलानिति शान्त उपासीत--छा० उ० ३।१४।१

३--ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ।

स्वरूप का स्पष्ट चित्र खीचा गया है। "यह ब्रह्म सब ईश्वरों का ईश्वर है, सर्वज्ञ है, सबका अन्तर्यामी है, सम्पूर्ण जगत का कारण है। क्योंकि वह समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का स्थान है।"[१] "यद्यपि परब्रह्म पुरुषोत्तम निराकार, मन, इन्द्रिय आदि करण समुदाय से सर्वथा रहित है तथापि वह सब कुछ करने मे समर्थ है। इस सर्वशक्तिमान परब्रह्म पुरुषोत्तम से सृष्टि काल मे प्राण, मन, अन्तःकरण और सम्पूर्ण इन्द्रियां तथा आकाश, वायु, तेज, जल और सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाली पृथ्वी—ये पांचो महाभूत सब के सब उत्पन्न होते है।[२] दूसरे श्लोक मे यह बताया गया है कि यह प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला जगत् ही निराकार परब्रह्म का विराट् रूप है। "अग्नि ही परमेश्वर का मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनो नेत्र है, दिशाये दोनो कान है, विस्तृत वेद वाणी है, वायु प्राण है, जगत हृदय है, पृथ्वी मानो दो पैर है। यही परब्रह्म परमेश्वर समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी परब्रह्म है।"[3]

जब एक ही परब्रह्म जगत के सब पदार्थो मे व्याप्त है, और सब पदार्थो के रूप भी उसी के रूप है तब यह प्रश्न उठता है कि उसका वास्तविक रूप क्या है। इस प्रश्न का उत्तर वेदान्तियो ने "नेति नेति" अर्थात् "यह भी नही, वह भी नही" कह कर दिया है। ऐसे ब्रह्म को किस तरह समझाया जाय? इसीलिए वाष्कलि ऋषि के द्वारा ब्रह्म के बारे मे जब बार-बार पूछा गया, तब बाध्व ऋषि ने मौन रह कर ही उत्तर दिया। श्रुतियो ने अभावात्मक अव्ययों द्वारा निर्गुण ब्रह्म का नाना प्रकार से वर्णन किया है। कठोपनिषद् मे परब्रह्म को यो चित्रित किया है। "यह जो (परब्रह्म) शब्द रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित, गधरहित है और जो अव्यय, नित्य, अनादि, असीम, महान

१—एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्योम्येष योनिः सर्वस्य
प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ मा० उ० ॥६॥
२—दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सवाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ मु० उ० २।२।
३—एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेंद्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरायः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥
अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यो दिशः श्रोत्रे वागविवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।
मु० उ० २ ॥४॥

आत्मा से भी श्रेष्ठ, सत्य तत्व है उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु मुख से सदा के लिए छूट जाता है।"[1] इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों की परब्रह्म तक पहुँच नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी को उपदेश देते हुए 'अक्षर' परब्रह्म का विवेचन करते हैं—"हे गार्गी, वह अक्षर ब्रह्म स्थूल नहीं है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न रक्त है, न चिकना है, न छाया है, न अन्धकार है, न वायु है, न आकाश है, न रस है, न गंध, न आँखें उसे देख सकती हैं, न श्रवण सुन सकता है, न वह मन या वाणी का विषय है, न तेज है, न प्राण और मुख से उसका सम्बन्ध है, न उसका कोई परिणाम है, न वह अन्दर है, न बाहर है, न वह कुछ खाता है, न उसे कोई खा सकता है ।३।८।८।। यह सब न होते हुए भी वह परब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, सर्वसृष्टा है, सर्वज्ञ है, स्वयं ही अपने प्रकाश का हेतु है, काल का भी महाकाल है। सम्पूर्ण दिव्य गुणों से सम्पन्न है, सबको जानने वाला है, प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी है, समस्त गुणों का शासक है, और जन्म मृत्यु रूप संसार में बाँधने, स्थिति रखने और उससे मुक्त करने वाला है।[2] दूसरे श्लोक में यह कहा गया है कि वह परब्रह्म परमेश्वर ही तन्मय-स्वरूप में स्थित है, अमृतरूप–एकरस–है। इस जगत की उत्पत्ति, विनाश आदि परिवर्तन से उसका कोई परिवर्तन नहीं होता। इस समस्त जगत का वही रक्षक है, और वही यथायोग्य नियंत्रण और संचालन करता है। दूसरा कोई भी सब पर शासन करने में समर्थ नहीं है।[3]

परब्रह्म देशातीत है, कालातीत है, और निमित्तातीत है। वह अप्रमेय है। चैतन्यात्मक होने के कारण परब्रह्म स्वयं विषयी है। 'अरसं' और 'अशब्द'

१—अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥
क० उ० ३। १५॥

२—स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः काल कालो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थिति बंधहेतुः ॥
श्वेताश्वतरोपनिषद्—६ ॥१६॥

३—स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्—६॥१७॥

कहने का मतलब यह है कि शब्द स्पर्श आदि के तुल्य विषय नहीं हो सकता है। इस जगत के समस्त प्रकाश का कारण यही परब्रह्म परमात्मा है। कठोपनिषद् मे यमराज नचिकेता को उत्तर देते हुए सगुण और निर्गुण परब्रह्म की शक्ति और महत्ता का वर्णन करते है। उस स्वप्रकाश परमानन्द स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के समीप सूर्य प्रकाशित नही हो सकता, चन्द्र तारे नही चमक सकते, बिजलियाँ नही चमक सकती, अग्नि नही जल सकती। उस प्रकाशशील परब्रह्म परमेश्वर से प्रकाशशक्ति पाकर ही ये सब प्रकाशित होते है।[1]

सगुण और निर्गुण शब्द के ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण और निर्गुण मे कोई भेद नही है।

श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न विभिन्न दार्शनिक-सम्प्रदाय और उनके द्वारा प्रभावित भक्ति मार्ग

भारतीय सस्कृति के विकास के इतिहास मे श्री शकराचार्य का अवतार एक युग परिवर्तनकारी घटना है। उस समय का आध्यात्मिक जीवन बहुत अस्त-व्यस्त होगया था। जैन, बौद्ध आदि वेद विरोधी मार्गो मे आरम्भ मे जो बौद्धिक स्वस्थता थी वह समाप्त हो चुकी थी। सारा देश अनेक प्रकार के धार्मिक सम्प्रदायो में विभक्त हो चुका था। शक्तिशाली बौद्धमत की छत्रछाया मे पनपने वाले वज्रयान, सहजयान जैसे वाममार्गी सम्प्रदायों के साधन मार्ग लोक जीवन को विकृत आचरणो और आदर्शभ्रष्ट विकृत उपासना-मार्गो की ओर ले जारहे थे। परम्परागत दोषो से जर्जरित होकर वैदिक धर्म तेजोहीन होगया था और एक समर्थ पथप्रदर्शक के अभाव से उसकी गति कुण्ठित हो गयी थी। ऐसे समय मे श्री शंकराचार्य ने एक ओर प्राचीन औपनिषदिक धर्म की पुन. स्थापना की; दूसरी ओर वेद विरोधी विचार-धारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्कमूलक आवेश को रोक कर प्रबल आध्यात्मिक दर्शन का प्रतिपादन किया। वैदिक धर्म का नये सिरे से सगठन करके हिन्दू समाज को एक नवीन आलोक दिखाया और "तत्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि" आदि महावाक्यों की तर्क सम्मत व्याख्या करके ऐसे युक्तिसगत धर्म-दर्शन का प्रचार किया जो

१—न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
क० उप०—५।१५

आगे चलकर जनता को अन्तर्मुख करके सत्य ज्ञान का साक्षात्कार कराने मे समर्थ सिद्ध हुआ। उन्होने उपनिषदों के आध्यात्मतत्वो के आधार पर अपने अद्वैतवाद के सिद्धान्तो को स्थिर किया और घोषित किया कि शुद्ध, बुद्ध-नित्ययुक्त परमात्मा के अतिरिक्त जगत मे दूसरी कोई परमार्थसत् वस्तु नही है। 'सर्व खल्विद' कहकर उन्होने ब्रह्म को निर्विशेष, निर्गुण, निराकार बताया तथा समस्त ससार को असत्य ठहराया। उन्होने 'प्रस्थानत्रयी' अर्थात् उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर अपना नया भाष्य प्रस्तुत किया और अद्वैत-मत का प्रचार किया। उनकी प्रखरप्रतिभा, विद्वता तथा असाधारण संगठन शक्ति के कारण उनकी निवृत्तिमार्ग परक विचार-धारा की लहरे देश के इस छोर से उस छोर तक फैली। इन्ही तर्क संगत विचारों के कारण समस्त अवैदिक सम्प्रदाय निष्प्रभ हो गए। इस प्रकार शंकराचार्य ने, वैदिक धर्म पर जो बडा सकट आ पडा था, उसे दूर किया।

यद्यपि श्रीशकराचार्य के कारण सारे देश के आध्यात्मिक जीवन मे एक नवीन शक्ति का सचार हुआ और वाममार्गीय तथा अन्य वेदविरोधी मतों का गतिरोध हुआ तो भी उपासना क्षेत्र मे भारतीय जनमानस को उनका अद्वैतवाद छू नही सका। इसका यह कारण था कि उन्होने ब्रह्म की अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पहुचा दिया था कि सामान्य व्यक्ति अपनी बुद्धि से उसे ग्रहण नही कर सका। साधारण भावुक हिन्दू हृदय शकर के अद्वैत मे कोई अवलम्ब नही पा सका। शकर के आविर्भाव के पहले ही तमिलनाड मे शैवभक्त 'नायनमारो' और वैष्णव भक्त आळ्वारो ने अपनी भक्ति की गंगा प्रवाहित कर दी थी। इस लिए समय पाकर शैव और वैष्णव भक्तो की प्रेममूलक भक्ति-भावना का स्त्रोत शकराचार्य के मायावादी प्रस्तरखण्ड को भेद कर निर्झरिणी की भाँति अबाध गति मे फिर से प्रवाहित हुई। इन सन्तों की भावप्रवण-भक्ति उनकी अटपटी वाणी मे व्यक्त होकर तमिल भाषा में गीतों तथा भजनों के रूप मे विद्यमान थी। इन्हीं आळ्वार सन्तों की परम्परा में कुछ ऐसे विद्वान हुए जिन्होने शकराचार्य के मायावाद का दार्शनिक दृष्टि से खण्डन करने के उद्देश्य से आळ्वारो की भक्ति भावना के लिए निश्चित दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करने का उद्योग किया। ऐसे विद्वानों की एक परम्परा चल पड़ी जो आचार्य कहलाए। ये आचार्य जनभाषा तमिल के अतिरिक्त संस्कृत के भी विद्वान थे। इन आचार्यो ने एक ओर वैष्णव सन्तों की अटपटी वाणी का संकलन और सम्पादन किया और विधिवत् मन्दिरों में उनके अध्ययन, अध्यापन और गाने का प्रबन्ध किया दूसरी ओर तर्कपूर्ण शैली में संस्कृत के

माध्यम से 'प्रस्थानत्रयी' पर अपने भाष्य लिखे और शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन किया। जितने आचार्य हुए उनमें प्रधानतया तीन बातें पायी गयीं। पहली बात यह कि सबों ने वैदिक धर्म का झण्डा ऊँचा किया। दूसरी बात यह थी कि अवैदिक सम्प्रदायों का पूर्ण बहिष्कार किया। तीसरी बात यह थी कि प्रपत्ति और शरणागति वाली भक्ति का उपदेश दिया। इन आचार्यों ने संस्कृत में विपुल साहित्य का निर्माण करके वैष्णव मत के सिद्धान्तों का सम्यक् निरूपण किया और अपने विचारों का प्रचार करने के लिए देश के प्रधान क्षेत्रों में भ्रमण किया तथा विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किया। इस प्रकार श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया के रूप में वैष्णव आचार्यों ने अपने भक्तिप्रधान सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए संगठित रूप से आन्दोलन चलाया जिसका आगे चलकर उत्तरी भारत पर, विशेषकर हिन्दी प्रदेश पर, व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा।

श्रीसम्प्रदाय अथवा विशिष्टाद्वैत मत

वैष्णव आचार्यों की जो परम्परा चली उसका मूल स्रोत तमिलनाड के आळ्वार भक्तों की परम्परा में ही पाया जाता है। सुप्रसिद्ध बारह आळ्वारों में शठकोप, मधुर कवि जैसे सन्त ब्राह्मण जाति के थे और संस्कृत के विद्वान भी थे। लेकिन सर्व प्रथम आचार्य नाथमुनि ही माने गए जो नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए। उन्होंने सर्वप्रथम आळ्वारों के प्रचलित गीतों का संग्रह और सम्पादन किया जो 'नालायिर प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं के प्रयत्न से श्रीरंगम् के मंदिर में आळ्वारों के गीतों का ब्राह्मण मण्डली में अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध हुआ। नाथमुनि ने जो महत्वपूर्ण कार्य किया वह था विशिष्टाद्वैतमत के दार्शनिक तत्वों का प्रतिपादन करने के लिए 'न्यायतत्व' नामक ग्रंथ का प्रणयन करना और आळ्वारों के गीतों के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करना। नाथमुनि ने भक्तिप्रधान वैष्णवमत के संगठन का जो काम शुरू किया था उसको यामुनाचार्य ने आगे बढ़ाया। यामुनाचार्य नाथमुनि के पौत्र थे और अध्यात्म निष्णात विद्वान तथा भक्त थे। इन्होंने भी प्राचीन आळ्वारों के भक्तिसाहित्य का प्रचार-प्रसार किया और अनेक 'ग्रंथों का निर्माण करके प्रपत्ति मार्ग की पूरी प्रतिष्ठा बढ़ाई। इनके ग्रथों में गीतार्थ संग्रह, स्तोत्ररत्न, श्रीचतुः श्लोकी, सिद्धित्रय, महापुरुष निर्णय, आगम-प्रामाण्य उल्लेखनीय है। 'आगम प्रामाण्य' में पाचरात्र आगम के सिद्धान्तों का और 'स्तोत्ररत्न' में शरणागति के तत्वों का बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया गया है।

यद्यपि नाथमुनि, यामुनाचार्य जैसे आचार्यों द्वारा श्रीवैष्णवमत की रूपरेखा तैयार हो गयी थी तो भी सुव्यवस्थित रूप से उसकी स्थापना करने और उसका देशव्यापी प्रचार करने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य जी को ही मिलना चाहिए। श्री रामानुजाचार्य का जन्म सन् १०१७ में मद्रास के निकट तेरुकुदुर नामक स्थान में हुआ। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था में 'यादव प्रकाश' नामक एक अद्वैती विद्वान् के यहाँ वेदांत का अध्ययन किया, लेकिन दार्शनिक विचारों में कुछ मतभेद होने के कारण बाद में श्रीरंगम् जाकर आळ्वारों के प्रबन्धों का मनोयोग के साथ अध्ययन किया और वैष्णवमत को अपनाया। यामुनाचार्य की मृत्यु के उपरान्त रामानुजाचार्य जी अपनी असाधारण प्रतिभा और विद्वता के कारण वैष्णव मत की गद्दी के उत्तराधिकारी बने। श्रीरामानुज के महान व्यक्तित्व के कारण श्रीसम्प्रदाय की लोकप्रियता इतनी बढी कि शैवमतावलम्बी इसे सहन न कर सके। तत्कालीन शैव चोल राजा कुलोतुंग प्रथम (सन् १०६५) ने वैष्णवों पर ऐसा अत्याचार किया कि रामानुज का श्रीरंगम् में रहना असम्भव हो गया। इसलिए रामानुज ने कर्नाटक के होयसळ वंशी राजा विट्टिदेव के राज्य में आश्रय पाया (सन् १०६८)। रामानुज ने मैसूर के निकट मेलुकोटे नामक स्थान में रह कर कर्नाटक की जनता में अपने मत का प्रचार किया और जैन राजा विट्टिदेव को भी विष्णुवर्धन के नाम से वैष्णव मत में दीक्षित किया। फलतः पूर्वकर्नाटक के प्रदेशों पर श्री वैष्णव मत का विशेष प्रभाव पडा। भक्ति आन्दोलन के इतिहास में इस घटना का एक विशिष्ट स्थान है।

नाथमुनि की भाँति रामानुज ने भी उत्तरी भारत के प्रमुख तीर्थस्थानों की यात्रा की। श्री वैष्णव मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने के लिए रामानुजाचार्य ने भी संस्कृत में ग्रंथों तथा भाष्यों का निर्माण किया जिनका श्रीवैष्णवों में बड़ा आदर है। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं--वेदान्त सार, वेदान्त संग्रह, वेदान्त दीप और गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य। 'ब्रह्मसूत्र' पर उनका लिखा भाष्य 'श्री भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें बड़ी विद्वत्ता के साथ श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के दार्शनिक तत्वों का प्रतिपादन किया गया है। श्रीरामानुजाचार्य के उपरान्त श्री सम्प्रदाय के जितने आचार्य हुए उनमें श्री वेदान्त देशिक (सन् १२६८–१३६९ ई०) और मनवल महामुनि (१३७०–१४४३ ई०) मुख्य हैं जिन्होंने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार किया और उसका संघठन मजबूत बनाया।

यद्यपि नाथमुनि जैसे आचार्यों के काल से ही श्री वैष्णवमत के संगठन

का आरम्भ हो गया था तो भी इस मत की स्थापना का श्रेय श्री रामानुजाचार्यजी को ही दिया जाता है। उन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया और यह बताया कि ब्रह्म की एकता अद्वितीय नहीं है, किन्तु वह चिन्मय आत्मा तथा जड़ प्रकृति में विशिष्ट है। उन्होंने ब्रह्म को तीन गुणों से युक्त बताया---चित् अर्थात् भोक्ता जीव, अचित् अर्थात् भोग्य जगत् तथा ईश्वर अर्थात् अन्तर्यामी परमेश्वर। जीव तथा जगत भी वस्तुत नित्य तथा स्वतन्त्र है तथापि ईश्वर के इन दोनों के भीतर अन्तर्यामी रूप में विद्यमान होने के कारण ये उसके अधीन रहते है। अत चित् तथा अचित् ईश्वर के शरीर या प्रकार माने जाते है। श्री रामानुज भी ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को मानते है, परन्तु उनके अनुसार ब्रह्म उपर्युक्त तीनों गुणों से विशिष्ट रहने के कारण विशिष्टाद्वैत है। रामानुज के मत में सगुण या सविशेष ब्रह्म ही उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय है, क्योंकि जगत में निर्गुणवस्तु की कल्पना नहीं हो सकती। उसके अनुसार ब्रह्म पाँच रूपों में प्रकट होता है[१]---परब्रह्म, व्यूह, वैभव, अर्चा या मूर्ति, तथा अन्तर्यामी। परब्रह्म को नारायण या वासुदेव कहते है। इनका निवास स्थान वैकुंठ है, जो द्वारपालों से निरन्तर रक्षित रहता है। वहाँ भगवान शेषनाग पर विराजमान हो श्री, भू, लीला से सेवित है। वे दिव्य अलंकारों से सुशोभित, चारों हस्त कमलों में शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए है तथा अनन्त, गरुण, विष्वक्सेन प्रभृति पार्षद एव मुक्त जन मुनियों, तपस्वियों से सदा परिवेष्टित रहते है। व्यूह का अर्थ है कि परब्रह्म ने चार रूप धारण किए है---वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ये रूप परब्रह्म ने विश्व-उत्पादनार्थ धारण किये है। वैभव का आशय है---कच्छ मच्छादि अवतार। अर्चा या मूर्ति उसे कहते है जो मंदिरों, घरों आदि में स्थापित की जाती है जिनमे परब्रह्म शरीर से रहता है। अन्त.करण के प्रेरक रूप में अन्तर्यामी कहते है। इन पाँच रूपों में आविर्भूत होने का कारण भगवान की करुणा और भक्तवत्सलता ही है। इस सम्प्रदाय में परम उपास्य श्री लक्ष्मीनारायण है।

शंकर मत में जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध है। जीव ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म के समान ही मुक्त तथा स्वप्रकाश है। रामानुज के अनुसार जीव न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, न नित्य मुक्त ही। जिस प्रकार आग

१---"स्वलीला वशादर्चा विभव व्यूह सूक्ष्मांतर्यामि भेदेन"---
सर्वदर्शन संग्रह।

से निकलने वाली चिनगारी उसका अंश है उसी प्रकार जीव ब्रह्म से निर्गत होता है और वह उसी का अंश है। दोनों के रूप में महान् अन्तर है। जीव अणु अर्थात् क्षुद्र है और ब्रह्म है विभु अर्थात् महान्। जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिशाली है परन्तु ब्रह्म सर्वज्ञ तथा सर्व शक्तिमान है। जीव और जगत यद्यपि नित्य तथा स्वतन्त्र है तो भी अन्तर्यामी परमात्मा का सर्वत्र वास होने के कारण दोनो ईश्वर के आधीन है। ईश्वर जीव का नियामक है और जीव की मुक्ति ईश्वर पर अवलम्बित है। शकर के अनुसार अविद्या जीव के बन्धन का कारण है, ज्ञान से अविद्या का नाश होता है, क्रिया से नही। जीव नित्य मुक्त है और केवल अज्ञान का नाश होते ही मुक्त आत्मा अपने स्वरूप मे प्रकाशित होता है। परन्तु रामानुज मुक्ति या ईश्वर साक्षात्कार क्रिया या उपासना द्वारा सम्भव मानते है। यदि शकर एक मात्र ज्ञान को मुक्ति का साधन मानते है तो रामानुज एक मात्र भक्ति को ही मुक्ति का साधन बताते है। इस प्रकार रामानुज का मत दार्शनिक दृष्टि से विशिष्टाद्वैत कहलाया और आचरण की दृष्टि से भक्ति ही अन्तिम निष्ठा के रूप मे स्थापित हुई।

श्री रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्तिमार्ग की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे हृदय पक्ष और बुद्धि पक्ष दोनो का सामजस्य स्थापित हुआ। हृदय पक्ष आलवार सन्तो की देन है और बुद्धि पक्ष का समावेश शास्त्र ग्रथो में प्रतिपादित शास्त्रीय भक्ति से हुआ है। कुछ विद्वान यह मानते है कि इस मत मे बुद्धि पक्ष अपेक्षाकृत कुछ कम प्रबल है। रामानुजाचार्य ने स्मार्त धर्म की पचदेवपूजा स्वीकार न करके एकमात्र विष्णु की आराधना निर्धारित की। इसके लिए सब जाति के लोगो को अधिकारी घोषित किया। उन्होने प्रपत्ति की व्यवस्था दी जिसमे शूद्रो के लिए भी भक्ति का द्वार खुल गया। इस प्रपत्ति का तात्पर्य यह है कि साधक भगवान की शरण मे जाकर उन्ही की दया पर निर्भर रहता है। इस 'प्रपत्ति' तत्व पर आगे चल कर श्रीवैष्णव भक्तो मे मतभेद हो गया। श्री वेदान्तदेशिक तथा उनके अनुयायियो ने भक्ति को ही मुक्ति का एक मात्र मार्ग न मान कर कर्म और ज्ञान का अनुष्ठान भी आवश्यक बताया। किन्तु मनवल महामुनि तथा उनके पक्षवालों ने प्रपत्ति को ही एकमात्र मार्ग मानने की बात पर विशेष जोर दिया। प्रथम दलवाले 'वडकले' कहलाए और दूसरे विचार वाले 'तेंकले' नाम से प्रसिद्ध हुए। इन दोनों के भेद को समझाने के लिए क्रमशः कपि किशोर और मार्जार किशोर का उदाहरण दिया जाता है। कपि किशोर अपनी माँ के पेट से चिपका रहता है और मार्जार किशोर बिना कुछ भी प्रयास किए ही अपनी माँ से रक्षित

होता है और एक भेद यह है कि 'वडकले' संस्कृत के शास्त्र ग्रथो के आधार पर अपने अनुयायियो को भक्ति का उपदेश देते हैं और तेंकलेवाले आलवारों के लोकभाषा तमिल में निर्मित प्रबन्धम् को ही अपनी भक्ति-साधना का प्रधान आधार मानते हैं। तेंकले दल के लोग अपेक्षाकृत उदार दृष्टि के होते है और आपस मे उच्च नीच का भेद भाव नहीं रखते। इसमे नीच जाति के लोग भी सम्मिलित है।

वैष्णव सम्प्रदाय का भक्तितत्त्व तात्त्विक दृष्टि से गीता, पचरात्र सहिताओं पर आधारित है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से आलवारो के प्रबन्धो मे उसका मूल स्रोत पाया जाता है। इस मत मे न राम का उल्लेख है न गोपालकृष्ण का ही।

श्री रामानुजाचार्य के द्वारा प्रचलित भक्ति मार्ग के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति-भावना के परिनिष्ठित स्वरूप की स्थापना सबसे पहले रामानुजाचार्य ने ही की और उसी भक्ति के स्वरूप का उत्तरी भारत के भक्ति आदोलन पर व्यापक प्रभाव पडा। यह सर्व विदित ही है कि हिन्दी प्रदेश मे चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी मे जितने वैष्णव मतावलम्बी आचार्य और मत हुए सबने शकर के मायावाद का तीव्र विरोध किया और विशुद्ध भक्ति के किसी-न-किसी पक्ष का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार रामानुज ने अपने सिद्धात का नाम विशिष्टाद्वैत रखकर इस विषय मे शकर के अद्वैत मत के साथ किसी न किसी प्रकार समझौता स्थापित किया उसी प्रकार उत्तर के आचार्यो और भक्तो ने सगुणोपासक होते हुए भी अद्वैत के अन्तिम रूप को शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि भिन्न-भिन्न नामो से अपनाया।

ब्रह्म-सम्प्रदाय अथवा द्वैत-मत

दक्षिण भारत के तीन महान आचार्यो मे श्री मध्वाचार्य का अपना अलग ही महत्त्व है। श्री मध्वाचार्य ने न केवल शंकर के अद्वैत का तीव्र विरोध किया वल्कि भक्ति की पूरी प्रतिष्ठा के हेतु श्री रामानुज के विशिष्टाद्वैत को भी अस्वीकार किया और द्वैत मत की स्थापना की। श्रीमध्वाचार्य का जन्म सन् ११९७ ई० मे कर्नाटक के उडुपि नामक स्थान में हुआ। मध्वाचार्य का पहला नाम आनंदतीर्थ था और वेदवेदागो का अध्ययन करके उन्होने "पूर्णप्रज्ञ" के नाम से सन्यास ग्रहण किया। आचार्यो की भाँति मध्वाचार्य ने भी देश के प्रमुख तीर्थ क्षेत्रो की यात्रा की और "प्रस्थानत्रयी" पर अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे। उनके रचे ग्रंथो की संख्या लगभग सेतीस हैं।

श्रीमध्वाचार्य ने अपने द्वैतमत के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन प्रस्थान-त्रयी के आधार पर ही किया है। इस मत की सब से बडी विशेषता यह है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति के पाँच भेद माने गए है। (१) ब्रह्म और जीव (२) ब्रह्म और जड़ जगत, (३) जीव और जड़जगत्, (४) एक जीव और दूसरा जीव और (५) एक जड पदार्थ और दूसरा जड़पदार्थ। इस सम्बन्ध में श्रीपादराय-कृत एक श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है :—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतर सत्यं जगतत्त्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा· नीचोच्च भावंगताः॥
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्।
ह्यक्षादित्रितय प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

इस मत के अनुसार परमात्मा साक्षात् विष्णु है, अनंतगुण परिपूर्ण है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्धन तथा मोक्ष इन आठों के कर्ता भगवान ही है। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही उनके शरीर है। वे एक होकर भी नाना रूप धारण करते है। श्रीविष्णु सर्वस्वतंत्र हैं, जीव एवं जड जगत् अस्वतत्र पदार्थ हे। श्रीविष्णु अथवा श्रीहरि परदेव, सर्वगुण-परिपूर्ण, स्वगतभेद विवर्जित है। 'मत्स्य कूर्मादि स्वरूपों से, कर चरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणो से भगवान अत्यन्त अभिन्न हैं अतएव भगवान तथा उनके अवतारो मे भेददृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।"[१]

लक्ष्मी अचिन्त्य महिमामय श्रीहरि की मायारूपिणी शक्ति है। वे परमात्मा के अधीन रहते हुए भी उनसे भिन्न है। लक्ष्मी भी नित्यमुक्त, अप्राकृत, अक्षर, दिव्य तथा व्यापक है। लक्ष्मी के द्वारा श्रीहरि चतुर्मुख ब्रह्म से जगत की सृष्टि कराते है, और उनका संचालन भी कराते है। उन्हीं के द्वारा सब जीवों का नियंत्रण होता है। लक्ष्मी ही मुक्त और अमुक्त सबको उनकी योग्यता के अनुसार सृष्टि के समय आनन्द प्रदान करती हैं। लक्ष्मी की कृपा के बिना जीवों को श्रीहरि का प्रसाद नही मिल सकता है। प्रलय के समय वे श्रीहरि के आलिंगन मे रमण करती हैं।

माध्वमत के अनुसार जगत् सत्य है, जीव श्रीहरि के किंकर हैं। जीवों की संख्या अनन्त है और उनकी तीन श्रेणियाँ है—(१) भक्ति योग्य, (२) नित्य संसारी, (३) तमोयोग्य। तीनों प्रकार के जीवों की मुक्ति का रूप भी अलग-अलग हैं। मुक्ति चार प्रकार की होती है—(१) सालोक्य, (२)

१—भारतीय दर्शन—श्री बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ४६१।

सामीप्य, (३) सारूप्य और (४) सायुज्य। 'मुक्तिर्नेज सुखानु भूतिः' अर्थात् वास्तव सुख की अनुभूति ही मुक्ति है।

मध्वाचार्य ने उपासना के दो प्रकार माने हैं :—एक शास्त्राभ्यास द्वारा और दूसरा ध्यान द्वारा। अनेक साधक सदा शास्त्रानुशीलन द्वारा अपरोक्षज्ञान प्राप्त करते है और दूसरे भगवान की अखण्ड स्मृति मे लीन रह कर मुक्ति पाते है। शास्त्राभ्यास मे अज्ञान दूर होता है और वस्तुतत्व का ज्ञान मिलता है। यह ज्ञान परमात्मा के ही अधीन है। अपरोक्ष ज्ञान के मिलने पर ही परम भक्ति की प्राप्ति हो सकती है जो भगवान की कृपा पर ही निर्भर है। इस मत में भक्ति का स्थान सर्वोच्च है जो 'अमलाभक्ति' कहलाती है। अमला-भक्ति अर्थात् दोषरहित भक्ति ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

माध्वमत मे पाचरात्र के तत्वों को विशेष महत्ता नही दी गयी है, लेकिन भागवत पुराण के साधन मार्ग को पूर्णरूप मे अपनाया गया है। इसमे राम, कृष्ण, आदि सभी अवतारो की उपासना का विधान है लेकिन राधाकृष्ण का उल्लेख तक नही किया गया है।

भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि मे श्री मध्वाचार्य द्वारा स्थापित द्वैतमत की बडी महत्ता है। भक्ति के लिए पहली शर्त है भगवान और भक्त की पृथकता। द्वैतमत मे भक्त और भगवान मे स्थायी अन्तर स्थापित करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है। श्रीशकर और श्रीरामानुजाचार्य की भाँति श्रीमध्वाचार्य ने अपने मत मे मठो की स्थापना करके सन्यासियों का संगठन किया है। इन सन्यासियो द्वारा माध्वमत का देश भर मे प्रचार हुआ है। यह कहा जाता है कि गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री चैतन्यदेव भी इसी माध्व सम्प्रदाय की परम्परा मे हुए थे। श्री बलदेव उपाध्याय जी ने 'भागवत सम्प्रदाय' नामक अपने ग्रथ मे माध्वमत की गुरूपरम्परा दी है और बताया है कि श्री चैतन्यदेव का आविर्भाव अठारहवी पीढी मे हुआ है।[1] उत्तरी भारत के भक्ति-आन्दोलन मे गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान है। यदि श्रीचैतन्य का मध्वाचार्य की शिष्य परम्परा मे होना सिद्ध हो गया तो हिन्दी प्रदेश के अन्य वैष्णव सम्प्रदायो के साथ माध्वमत का सम्बन्ध स्थापित करने मे बड़ी सहायता मिलेगी। कर्नाटक के माध्वमतावलम्बी हरिदासो में जिस कीर्तन पद्धति का विशेष प्रचार है उसका गौड़ीय वैष्णव भक्तो मे भी प्रचलन है। दोनो सम्प्रदायो को इस कीर्तनपद्धति की सम्यक् परीक्षा करने पर इस बात के

१—भागवत सम्प्रदाय—श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ २२८–२९।

निर्णय में बड़ी मदद मिलेगी कि कहाँ तक गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय माध्वमत से प्रभावित है।

सनक-सम्प्रदाय अथवा द्वैताद्वैतवाद

श्रीनिवार्काचार्य के समय का अभी तक ठीक से कोई निर्णय नहीं हो सका है। डा० भण्डारकर जी के अनुसार उनकी मृत्यु सन् ११७२ में हुई थी। लेकिन इस सम्प्रदाय के अनुयायी यह मानते हैं कि निंबार्क का जन्म लगभग सन् १११४ में कर्नाटक के अन्तर्गत बल्लारी नामक जिले के निंबापुर नगर में हुआ था। ये तेलगु ब्राह्मण थे। यद्यपि इनका जन्म कर्नाटक में हुआ था तो भी वे वृन्दावन में रहा करते थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि निबार्काचार्य विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार हैं।

श्री निबार्क द्वारा चलाया गया मत भेदा भेद या द्वैताद्वैत कहलाता है जिसका आविर्भाव भी शंकराद्वैतवादियों के विरोध में हुआ था। निबार्क के मत का प्रतिपादन उनके लिखे दो ग्रंथों के आधार पर किया गया है। पहला है ब्रह्म सूत्रों पर भाष्य 'वेदान्तपारिजात सौरभ' और दूसरा 'दशश्लोकी'। निबार्क के उत्तराधिकारी श्रीनिवास ने 'वेदान्त पारिजात' पर भाष्य लिखा है और उनमें ३२वें आचार्य हरिव्यास देव ने 'दश श्लोकी' पर। इस सम्प्रदाय के अनुसार जीव, जगत् और ईश्वर यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तो भी जीव तथा जगत का व्यापार एवं अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित है। जीवात्मा अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी। वह अणुरूप है, विभिन्न शरीरों में पृथक-पृथक हैं, अनन्य विशिष्ट है और ज्ञानी है। वह अनादि माया से बद्ध रहता है और तीन गुणों से युक्त रहता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है। ब्रह्म अद्वैत, अविभक्त और सदा निर्विकार है। वह सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सब गुणों का आश्रय भी है। यद्यपि ब्रह्म निर्विकार है, तथापि माया के कारण उसका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपों में अनुभूत होता है। ब्रह्म में ऐसी सामर्थ्य है कि वह अपने को अविकृत अविभक्त रखते हुए नाना रूपात्मक पदार्थों में उत्पन्न करके आनन्द का उपभोग कर सकता है। नारायण, भगवान, कृष्ण, पुरुषोत्तम, परब्रह्म आदि परमात्मा के ही नाम हैं। ब्रह्म के चार रूप हैं—'पर अमूर्त' अर्थात् परम अक्षरतत्व, 'अपर अमूर्त' अर्थात् सर्वस्रष्टा और 'अपर मूर्त' अर्थात् जीवरूप है। इन्हीं कारणों से यह मत भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत कहलाता है।

उपासना पक्ष में निबार्क का मत सनक-सम्प्रदाय कहलाता है। इसकी

साधना-रूपिणी भक्ति श्रीसम्प्रदाय के भक्तियोग से मिलती जुलती है। और प्रपत्ति अथवा शरणागति पर विशेष जोर दिया गया है। प्रपत्ति के द्वारा भगवद्-अनुग्रह जीवों पर होता है और इस अनुग्रह के फलस्वरूप भगवान के प्रति उत्कट प्रेम का आविर्भाव होता है जिससे फिर भगवद् साक्षात्कार होता है। जीव का जब तक शरीर से सम्बन्ध है तब तक भगवद्-भावोत्पत्ति संभव नहीं है, अत जीवन्मुक्ति की दशा भी संभव नहीं है।[1] इस मत में साधकों के लिए किसी विशेष भाव के स्वीकार करने का आग्रह नहीं है। श्री निबार्क कृत 'वेदान्त कामधेनु' की 'सिद्धान्त रत्नाजलि' टीका में शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य इन पाँचों रसों का सुन्दर परिचय दिया गया है। यद्यपि प्रथम चारों भक्ति-भावों के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई गई है तो भी अन्तिम भाव माधुर्य अथवा 'उज्ज्वल भाव को अधिक महत्त्व दिया गया' है। इस सम्प्रदाय के परम उपास्य-देव श्रीकृष्ण चन्द्र है जिनकी चरण सेवा को छोड़ कर भक्तों के लिए दूसरा उपाय नहीं है। कृष्णचन्द्र ही परमेश्वर के रूप है जिनकी वंदना ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता किया करते है। इनकी शक्तियाँ अचिन्तनीय है जिनके बल पर वे भक्तों का क्लेश दूर करते है।[2] श्रीकृष्ण केवल स्मरण मात्र से अविद्या पर्यन्त समस्त अनर्थों के हरने वाले है, इसीलिए वे हरि है।

निबार्क सम्प्रदाय के भक्तिमार्ग की सबसे बडी विशेषता है राधा की उपासना। इसमें उपास्य श्रीकृष्णचन्द्र की जैसी महत्ता है वैसी ही राधा की भी। राधा सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। राधा के स्वरूप का विवेचन इस सम्प्रदाय के शास्त्रीय ग्रंथों में विशेष रूप से किया गया है। निबार्क ने श्रीराधा को 'अनुरूप सौभगा' माना है अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। श्रीकृष्णचन्द्र जिस तरह सर्वेश्वर है उसी तरह राधिका भी सर्वेश्वरी है। राधा वृषभानु की कन्या है जो कृष्ण के वामांग में सुशोभित हैं, हजारों सखियों से परिसेवित है, और सब कामनाओं की पूर्ण करने वाली है।[3]

१—'वेदान्त रत्न-मंजूषा' दशश्लोकी के ९वे श्लोक पर टीका।

२—नान्या गतिः कृष्णपदार विंदात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादि-वंदितात्।
भक्ते च्छयोपात्र-सुचिन्त्य-विग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्
—दशश्लोकी—श्लोक ८।

३—अंगेतु वामे वृषभानुजां मुदा,
विराजयानामनुरूपसौभगाम्।
सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्ट-कामदाम्॥—दशश्लोकी श्लोक ५॥

इस मत के साधको का विश्वास है कि क्रीड़ा के निमित्त एक ही ब्रह्म से दम्पित-भाव से दो विग्रह उत्पन्न हुए--राधा और कृष्ण। जैसा कि ऊपर कहा गया है जहाँ तक प्रपत्ति या शरणागति से सम्बन्ध है निंबार्क सम्प्रदाय की भक्ति साधना श्रीरामानुज की भक्ति से मिलती जुलती है। लेकिन अन्तर यही दिखाई पड़ता है कि जहाँ रामानुज ने भक्ति-भाव को उपनिषदों में विहित उपासना की कोटि तक पहुँचा दिया है और उसके मौलिक रूप को बदल दिया है वहाँ निबार्क ने भक्ति के सहज मूल भाव को बनाए रखने का प्रयत्न किया है। श्रीसम्प्रदाय में भक्ति नारायण, लक्ष्मी, भू और लीला तक ही सीमित रखी गयी है, किन्तु इस मत में कृष्ण और सखियो द्वारा परिवेष्टित राधा को ही प्रधानता दी गयी है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रेम लक्षणा अनुरागात्मिका परा भक्ति ही इस मत की साधना का चरम लक्ष्य है।

वैष्णव धर्म के भक्ति मार्ग मे राधा की उपासना का आरम्भ कब हुआ और उसका मूल रूप क्या था इसके बारे मे कोई निश्चय नही हुआ है। यदि यह सिद्ध हुआ कि निबार्क मत मे राधा-तत्व को सबसे पहले मान्यता मिली, तो भक्ति आन्दोलन के इतिहास मे इस मत की देन महान ही मानी जायगी।

विष्णु स्वामी सम्प्रदाय

श्री शकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में उत्पन्न उपर्युक्त वैष्णव मतो के अतिरिक्त विष्णु स्वामी सप्रदाय का नाम उल्लेखनीय है। लेकिन अभी तक न विष्णुस्वामी के ऐतिहासिक अस्तित्व का सम्यक् परिचय प्राप्त हो सका है न उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक तत्वो का विश्लेषण और विवेचन ही हुआ है। कई विद्वानो ने विष्णुस्वामी सम्प्रदाय सम्बन्धी समस्या ही सुलझाने के उद्देश्य से अनेक विष्णुस्वामी की कल्पना की है, किन्तु इससे समस्या और भी उलझती गई है। आजकल चार विष्णुस्वामी का उल्लेख मिलता है। एक विष्णुस्वामी दक्षिण भारत के पाण्ड्य राजा के राजगुरू देवेश्वर भट्ट के पुत्र थे जिन्होने सबसे पहले वेदांत सूत्रों पर 'सर्वज्ञ सूक्त' नामक भाष्य लिखा था। उनका दूसरा नाम देवतनु था। उनके ७०० वैष्णव त्रिदण्डी सन्यासी उनके मत का प्रचार करते थे। दूसरे विष्णुस्वामी कांची निवासी राजगोपाल विष्णुस्वामी थे जिनका जन्म सन् ८३० ई० में हुआ था। उन्होने कांची नगर मे श्रीराजगोपालदेव की अथवा वरदराज की मूर्ति की स्थापना की थी। यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने द्वारिका में रणछोड़ जी तथा

सप्तनगरियों में से अन्य छः नगरियो मे विष्णु की मूर्तियों की स्थापना की थी। यह भी बताया जाता है कि प्रसिद्ध 'श्री कृष्ण कर्णामृत' के रचयिता लीलाशुक बिल्वमंगल इन्ही विष्णु स्वामी के शिष्य थे। तीसरे एक विष्णुस्वामी हुए थे। वल्लभ सप्रदाय के लोगो का यह विश्वास है कि वल्लभाचार्य की गुरु परम्परा के एक प्राचीन आचार्य विष्णुस्वामी हुए थे। डा० दीनदयाल गुप्त जी ने 'भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऐनल्स' में प्रकाशित एक लेख के आधार पर यह बताया है कि माधवाचार्य और सायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशंकर थे जिनका दूसरा नाम विष्णुस्वामी था।[1]

इस प्रकार निश्चित प्रमाणों के अभाव मे यह बताना कठिन हो गया है कि विष्णुस्वामी संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य विष्णुस्वामी की स्थिति कब और कहाँ थी। जनश्रुति है कि विष्णुस्वामी तेलुगु प्रदेश के एक ब्राह्मण थे जो वेद, उपनिषद्, स्मृति, वेदात, योग आदि समस्त ज्ञान-साहित्य का अध्ययन करके आचार्य बने थे। भगवान के साक्षात्कार से उन्हे ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान तथा भक्तिमार्ग की अनुभूति हुई थी। वह बताया है कि विष्णुस्वामी ने बहुत समय तक भक्ति मार्ग का प्रचार किया था और भक्ति को मुक्ति से भी अधिक महत्ता दी थी। उन्होने वेद तंत्रोक्तविधान, योग कर्णात्रिम धर्मादि सम्पूर्ण कर्त्तव्य भक्ति के ही साधन बताये है। किवदंतियों तथा वल्लभ सम्प्रदायी ग्रंथों से यह पता चलना है कि वल्लभाचार्य जी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे थे और उन्होने विष्णुस्वामी के सिद्धान्तो के आधार पर अपने शुद्धाद्वैत के तत्वो को निर्धारित किया था। यह भी बताया जाता है कि महाराष्ट्र के सत श्री ज्ञानदेव, नामदेव, केशव, त्रिलोचन, हीरालाल और श्रीराम श्रीविष्णुस्वामी मतावलम्बी थे और महाराष्ट्र मे 'वारकरी' नामक भागवत मत भी विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय का रूपान्तर ही था। इस सम्बन्ध में नाभादास के प्रसिद्ध छप्पय का उल्लेख किया जाता है। वह छप्पय इस प्रकार है :—

नाम तिलोचन शिष्य, सूरससि सदृश उजागर।
गिरा गङ्ग-उनहारि काव्य रचना प्रेमाकार॥
आचारज हरिदास अतुलबल आनन्द दाइन।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथु पथित पराइन।

१—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ ४२।

नवधा प्रधान सेवा सुहृद मन वच क्रम हरिचरण रति ।
विष्णुस्वामि सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गम्भीर मति ।।

—।।छप्पय–४८।।

विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा भक्ति-पद्धति का परिचय देने वाले ग्रंथो मे 'सर्वज्ञसूक्त' ही सर्व श्रेष्ठ समझा जाता है। 'सर्वज्ञसूक्त' पर श्रीधर की लिखी टीका द्वारा इस सम्प्रदाय के वास्तविक स्वरूप का भली-भाँति स्पष्टीकरण हो जाता है। इस मत के अनुसार 'ईश्वर' सच्चिदानन्द स्वरूप हैं और वे अपनी 'ह्लादिनी सविद्' के द्वारा 'आश्लिष्ट' है। माया ईश्वर के आधीन है। विष्णुस्वामी के इस ईश्वर को ही सत्, चित्, नित्य, एवं पूर्णानन्द मय विग्रहधारी नृसिंह भी कहा जाता है। जीव अपनी अविद्या द्वारा आच्छादित है और क्लेशो का आगार स्वरूप है। वह स्वयं आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है और स्वयं दुख भी भोगा करता है। अतएव ईश्वर और जीव मे परस्पर भेद है। इस मत का दार्शनिक सिद्धान्त कुछ अशो मे माध्वमत के द्वैतवाद से मिलता जुलता है।

श्री रामानुजादि उपर्युक्त चार प्राचीन वैष्णवाचार्यो ने अपने समय मे प्रचलित शकराद्वैतवाद का विरोध करने के लिये अपने-अपने मतो का सगठन और प्रतिपादन किया। अपने मत का मण्डन और विपक्षी मत का खण्डन करने के लिए उन्होने प्राचीन ग्रथो पर न केवल भाष्य लिखे, बल्कि स्वतन्त्र ग्रन्थो का भी निर्माण किया। यद्यपि ये आचार्य भक्त थे, तो भी उनका विशेष ध्यान अपने मत का तर्क-पूर्ण और सुसगत विवेचन करने की ओर ही था तथा उन्हे इसके लिए विशेष चिन्तन एव निरन्तर शास्त्रों का अनुशीलन करना पड़ता था। न केवल इनके दार्शनिक सम्प्रदाय एक दूसरे से कुछ न कुछ भिन्नता लिए हुए है बल्कि इन सबो मे स्वतन्त्र विचार करने की विशेष शक्ति का परिचय मिलता है। श्री सम्प्रदाय की साधना-पद्धति पाचरात्र पर अधिक अवलम्बित थी और उसमे शरणागति अथवा प्रपत्ति पर जोर था। निबार्काचार्य के सनक-सम्प्रदाय की प्रेम-लक्षणाभक्ति का मुख्य आधार राधाकृष्ण की उपासना थी और वह हरवंश, विष्णु पुराण और महाभारत से प्रभावित थी। मध्वाचार्य को कृष्णोपासना और विष्णुस्वामी की गोपालोपासना मे मनोवेग के विस्तार के लिए कोई गुंजाइश नही थी। इसलिए आगे चलकर इसी कृष्णोपासना को अपना कर वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत के भक्ति-आन्दोलन को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया जिसका प्रभाव परवर्ती सभी सम्प्रदायो पर पड़ा। जिस प्रकार आचार्य रामानन्द जी से

प्रेरणा और शक्ति पाकर रामोपासना की सगुण और निर्गुण धारायें प्रवाहित हुई उसी प्रकार आचार्य वल्लभ और चैतन्य महाप्रभु से स्फूर्ति ग्रहण कर राधाकृष्ण की उपासना के विभिन्न रूप प्रकट हुए। इन दोनो धाराओ के भक्त कवियों ने जनता की भाषा मे अपने उद्‌गारो को अभिव्यक्त किया। हिन्दी साहित्य का यह परम सौभाग्य रहा कि उसे इन सभी धाराओ का सहयोग मिला। फलतः हिन्दी साहित्य की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि हुई।

द्वितीय अध्याय

उत्तर-मध्यकालीन भक्ति-सम्प्रदायों की पूर्वपीठिका

(हिन्दी प्रदेश में)

वज्रयान और सहजयान में भक्ति का स्वरूप

गौतमबुद्ध के महानिर्वाण के उपरांत विचार-धारा मे भिन्नता होने के कारण उनके अनुयायी 'हीनयान' और 'महायान' नामक दो शाखाओ मे बँट गए। जहाँ हीनयान ने व्यक्तिगत निर्वाण को ही अपनी साधना का अन्तिम लक्ष्य माना वहाँ महायान ने सभी प्राणियों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील होना अपना चरम उद्देश्य घोषित किया। महायान अपने उदार विचारों के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया। उसमे सभी वर्ग, जाति, मत के लोगो को प्रवेश मिला। उसकी लोकप्रियता के मुख्य कारण ये थे—(१) उसने मूल धर्म भाषा पालि को छोडकर उसकी जगह हिन्दुओं की सस्कृत भाषा को अपनाया। (२) उसमे हिन्दुओ के भक्तिवाद और तत्रोपचार की पद्धतियो का प्रवेश हुआ। (३) गौतम बुद्ध को देवत्व प्रदान करके उसने विविध-जातक-कथाओ के आधार पर बोधि सत्वो की उपासना का क्रम चलाया। जैसे ही गौतम बुद्ध को देवत्व प्राप्त हुआ वैसे ही उनके उपदेशो को अलौकिक महत्व भी मिला जिसका परिणाम यह हुआ कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म दार्शनिक विवेचन की परिपाटी चल पड़ी। दार्शनिक विवेचन के कारण रहस्यमयी परिभाषाओ की सृष्टि हुई और तत्कालीन तन्त्रवाद से प्रभावित होकर इसमे भी गुह्य साधनाओ और गुह्यसमाजो की परम्परा चल निकली। फलत. महायान के अन्तर्गत कई उपयानों की सृष्टि हुई। इस सम्प्रदाय के अनुयायियो मे गौतमबुद्ध के उपदेशात्मक वचनों के प्रति विशेष श्रद्धा बढ़ी और इन बचनो का पाठ करना परम कर्त्तव्य माना गया। इन उपदेशों के पठन-पाठन की सुविधा के लिए सूत्र रूप में उपदेशों की रचना होने लगी और आगे चलकर इन सूत्रो को भी और सक्षिप्त रूप देने का प्रयत्न होने लगा। जो लोग ऐसे मन्त्रों को विशेष महत्व देने लगे और यह कहने लगे कि यदि इन मन्त्रों की साधना नियमित रूप मे की जाय तो अभीष्ट की सिद्धि में किसी प्रकार की

कठिनाई नही होगी, उनका एक अलग ही दल हो गया। यह दल मन्त्रयान कहलाया। 'बौद्ध धर्म, जो अपनी साधना की सरलता और सदाचार की महानता से कर्म के परिष्कार मे वैदिक धर्म की यज्ञ सम्बन्धी जटिलता मे लोहा लेकर सफल हुआ था, पुन. साधना की उलझनों और मन्त्रों की जटिलताओं में आबद्ध होने लगा और योग-समाधि, तन्त्र-मन्त्र और डाकिनी-शाकिनी की सिद्धि में प्रयत्नशील हुआ।[1] इस मन्त्रयान का लगभग सन् ४०० से सन् ७०० तक विशेष प्रचार चला। आगे चल कर मन्त्रो द्वारा सिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले लोग 'सिद्ध' नाम से प्रसिद्ध हुए जो वाममार्गी भी कहलाए। इन साधको में मन्त्रो के अतिरिक्त हठयोग और मैथुन की क्रियाओं मे भी अधिक विश्वास बढ़ा और ऐसे लोगो का 'वज्रयान' के नाम से एक अलग ही संगठन हुआ जिसके साधको मे ८४ सिद्धो की एक विशेष प्रसिद्धि हुई। इस प्रकार मन्त्रयान वज्रयान के रूप मे परिवर्तित हुआ जो बारहवी शताब्दी तक चलता रहा।

वज्रयानी साधको ने महायान शाखा की 'शून्यता' और 'करुणा' को क्रमश: 'प्रज्ञा' एव 'उपाय' नाम देकर इन दोनो के मिलन को 'युगनद्ध' की दशा बतायी और प्रत्येक साधक का अन्तिम लक्ष्य ठहराया। बोधिसत्व भी, जो पहले विशुद्ध चित्त एव व्यापक कारुण्य-भाव का द्योतक रहा, 'वज्रसत्व' बन गया। 'प्रज्ञा का स्वरूप एक निर्विशिष्ट, किन्तु निष्क्रियज्ञान मात्र है, जिसे स्त्री रूप देते हैं और उपाय उसके विपरीत एक सक्रिय तत्व है, जिसे पुरुषवत् मानते है और इन दोनो का अन्तिम मिलन शक्ति एव शिव के मिलन के समान परमावश्यक समझा जाता है।"[2] वज्रयानियो ने इन दोनो के पारस्परिक मिलन की दशा को 'समरस' और 'महासुख' का नाम दिया। इस समय वज्रयानियो की साधना मे हठयोगी सिद्धों के विविध संकेतों का समावेश हुआ और मद्य और मैथुन भी जोड़ दिए गए। अन्ततोगत्वा 'महामुद्रा' की साधना के नाम पर इस वज्रयानी सम्प्रदाय मे कामलिप्सा का प्रवेश हुआ जिसका परिणाम समाज के लिए घातक सिद्ध हुआ।

वज्रयानी शाखा के कुछ ऐसे भी साधक थे जो भ्रष्टाचार के गर्त में न पड़कर इस साधना के असली रहस्य से भलीभाँति परिचित थे। यद्यपि इन

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा पृष्ठ ५२

२—उत्तरी भारत की संत परम्परा—श्री परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ३४-३५

सिद्धों की साधना का विकास वज्रयान के अन्तर्गत ही हुआ तो भी उससे वज्रयानी वातावरण मे अद्भुत क्राति हुई। इन सिद्धो ने स्वाभाविक धर्म और सदाचार पर जोर दिया और अपनी साधना का नाम 'सहज' बतलाया तथा उसके द्वारा 'सहज सिद्धि' की सम्भावना का निर्देश किया। "निरीश्वर-वादी बौद्ध धर्म के क्रोड मे पल्लवित होने वाले महायान, मन्त्रयान और वज्रयान से सम्बन्ध-विच्छेद-सा करते हुए ये सिद्ध किसी 'धर्ममहासुख' की ओर अग्रसर हुए जिसमे ईश्वरवाद का प्रतिफलन भी हुआ।[1] इन सिद्धो ने मद्य और मैथुन के व्यवहार का खण्डन किया और जीवन को प्राकृतिक रूप के गार्हस्थ्य जीवन मे व्यतीत करने पर जोर दिया। यदि इन्होने कभी स्त्री का निर्देश भी किया तो यह केवल इसीलिए कि संसार रूपी विष से निवृत्ति पाने के लिए स्त्री रूपी विष की आवश्यकता है। लेकिन इसका मतलब यह नही है कि सदाचार और नैतिकता की मर्यादा तोड़ दी जाय। जीवन के स्वाभाविक भोगो मे प्रवृत्त होना इसीलिए उन्होंने आवश्यक बताया कि जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियो का दमन करने से साधना के निर्वाह मे बाधा पड़ती है। जीवन की सहज प्रवृत्तियो मे विश्वास रखने के कारण ही इन सिद्धो का सिद्धान्त सहज मार्ग कहलाया।

सहजयानी सिद्धो मे सरहपाद अथवा सरहपा प्रसिद्ध थे जिनका काल लगभग सन् ७४० से ७६६ तक माना जाता है।[2] इनके लिखे हुए ३२ ग्रन्थ बताए जाते है जिनमे 'दोहा कोष' मुख्य है। सरहपा के ग्रंथो से न केवल सहजयानी सिद्धो की साधना का परिचय मिलता है बल्कि तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियो की झाँकी भी मिलती है। सरहपा ने अपने समय के हिन्दू, जैन, बौद्ध सबकी कटु आलोचना की है। ब्राह्मणो के बारे में वे कहते हैं कि "ये लोग रहस्य का ज्ञान तो कुछ नही रखते, व्यर्थ ही वेद-पाठ किया करते है, मिट्टी, जल, कुश ले कर मन्त्र पढ़ा करते है। यज्ञ, योग करके ये व्यर्थ ही उसके कड़ुए धुँए से अपनी आँखों को कष्ट दिया करते हैं। ये परमहस बनकर भगवा वेश में उपदेश देते फिरते है और उचित अनुचित का भेद न समझते हुए भी ज्ञानी होने का ढोंग रचा करते हैं आदि आदि।"[3] इसी

१--हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास--डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५५।

२--उत्तरी भारत की सन्त परम्परा--परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३९-४०।

३--उत्तरी भारत की सन्त परम्परा--श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३९-४०

प्रकार सरहपा ने हिन्दू, जैन तथा बौद्ध साधना पद्धतियों की आलोचना करके सहज-साधना का प्रचार किया। इन्होंने सहजयानियो तथा वज्रयानियों की साधना की निन्दा करने मे कोई कसर उठा नहीं रखी। वज्रयानियों की 'कमल' और 'कुलिश' की साधना का 'सुरत विलास' कह कर इन्होने खण्डन किया। उनका कहना है कि 'कमल' (स्त्रीइन्द्रियो) तथा 'कुलिश' (पुमेंद्रिय) के सयोग द्वारा जो साधना की जाती है वह तो निरा सुरत विलास है और उसे ससार में कौन प्रयोग मे नही लाता और कौन उसमे अपनी वासना की तृप्ति नही कर लेता ?"[1] क्योकि सरहपा का यह विश्वास था कि जो लोग अपने घर पर पत्नी के साथ रहते हुए भी भली भाति विषय भोग मे तल्लीन रहते समय अपने बन्धन का परित्याग नही कर सकते वे अपने मोक्ष की प्राप्ति कैसे कर सकते है ? इस प्रकार सरहपा की रचनाओ मे सहजयान की विचार धारा का परिचय मिलता है। सहजयानी चित्त-शुद्धि पर विशेष जोर देकर सहजावस्था की उपलब्धि को ही परम पुरुषार्थ मानते थे। उनका विचार था कि 'जो सहज का परित्याग करके निर्वाण पाने का स्वप्न देखते है उनकी साधना कभी सफल नही हो सकती।"[2] वे सब रहस्य को सहज के अन्तर्गत मानते है और उसकी उपलब्धि के लिए चित्तशुद्धि की आवश्यकता बताते है, क्योकि वे चित्त को ही सबका कारण मानते है। उनके अनुसार बद्ध चित्त द्वारा बन्धन मिलता है और मुक्त चित्त द्वारा मुक्ति मिलती है। जब चित्त खसम अर्थात् प्रकाश के समान शून्य रूप को धारण करके 'समसुख' अर्थात् संतुलित अवस्था में प्रवेश करता है तब उसे किसी भी इन्द्रिय के विषयो का अनुभव नही होता। यह समसुख आदि और अन्त दोनो से रहित होना है और आचार्य लोग इसे अद्वय कहते है।"[3]

इस प्रकार सहजयानियों ने अपने समय की सभी साधनाओं में जो कुछ बुराइयाँ देखी उनका विरोध किया और जीवन मे सदाचार, चित्तशुद्धि तथा निर्मल चरित्र की प्रतिष्ठा बढाई। स्वाभाविक रूप से संसार को ग्रहण करते हुए उसके सदुपयोग की शिक्षा दी और शरीर को ही तीर्थ की भाँति मानते

१—कमल कुलिश वेविभज्झ ठिउजोसो सुरआ विलास।
कौनरमई णसृतिहु अणेहि कस्सणपूरह आस ॥
—दोहा कोष ॥९४॥ पृ० ३६ ॥

२—सहज छाडुजे णिव्वाण भाविउ, णउ परमह्म एवक तेसाहिउ ॥ १३

३—वही पृ० १७।

हुए उन्होंने अपनी महासुखवाली साधना का मार्ग प्रशस्त किया। निराशावाद मे पड़ी हुई जनता के लिए इन सिद्धों की वाणी ने संजीवनी का कार्य किया। सहजयानी सिद्धों की एक बड़ी भारी देन यह है कि जहाँ इनके द्वारा नियमित रूप से हिन्दी में साहित्य रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ वहाँ इनकी विचारधारा से प्रेरणा पाकर हिन्दी में सन्तो की परम्परा चल निकली जिसमें कबीर, नानक, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास जैसे महान् संत हुए। इन सिद्धों के साहित्य मे साहित्य के लक्षणो के अनुसार चाहे रस का परिपाक न हुआ हो फिर भी उसमे अलौकिक आनन्द का प्रवाह अवश्य पाया जाता है। आगे चल कर इसी अलौकिक रस का कबीर, दादू, मीरा आदि की रचनाओं में प्रस्फुटन हुआ। साथ ही, इन सिद्धों की 'महासुख' की साधना में जो रहस्य भावना थी वह कबीर आदि सन्तों की वाणी मे रहस्यवाद के रूप मे प्रकट हुई। इस प्रकार सहजयानी सिद्धो की रचनाएँ हिन्दी के संत-काव्य के विकास में सहायक सिद्ध हुई।

पाशुपतमत और योगपरम्परा :

भारतवर्ष मे शिव अथवा रुद्र की उपासना अति प्राचीनकाल से चली आयी है। कदाचित् वेद काल मे 'शिव' और 'रुद्र' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त होते थे, लेकिन कालक्रम से ये दोनो एक ही भगवान के लिए प्रयुक्त होने लगे। तन्त्रकाल तक पहुँचते-पहुँचते शिवोपासना की कई शाखाएँ निकल पड़ी और इन तंत्रो में प्रत्येक की साधना-विधियों का बड़े विस्तार से निरूपण भी हो गया। इस शिवोपासना की शाखाओं का विकास विष्णु की उपासना के विकास के समानान्तर स्तर पर होता आया और इनमें परस्पर प्रतिद्वन्द्विता समय-समय पर खूब रही और ये एक दूसरे से बहुत-सी बातों में प्रभावित भी होती आयीं। हमारे आलोच्यकाल में कर्नाटक और हिन्दी प्रदेशों में शिवोपासना की कई शाखाएँ यत्र-तत्र वर्तमान थी और विशेष रूप से निर्गुणिया संतों को प्रभावित करती रही। इस शिवोपासना की प्रधान शाखाएँ चार मानी जाती है—पाशुपत, शैव, काला मुख और कापालिक। इन संप्रदायों के मूल धर्म-ग्रंथों को शैवागम कहते हैं। सामान्यतः आगमों की गणना तंत्रों में होती है, किन्तु शैव अपने को विभिन्न प्रकार से वैदिक मतावलम्बी मानते हैं और अपना आदि वेदों में ही खोजते हैं। लिंगपुराण से पता चलता है कि पाशुपत की तीन शाखाएँ थीं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। इनमें अन्तर यही था कि वैदिक पाशुपत लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे, तांत्रिक

पाशुपत लिंग से तप्त चिन्ह और शूल धारण करते थे तथा मिश्र पाशुपत पंच देवों की उपासना करते थे। शैव मत की अन्य शाखाओं में तमिलनाड का शैव सिद्धान्त, कर्नाटक का वीर शैवमत या लिंगायतमत, काश्मीर की प्रत्यभिज्ञा या त्रिक अथवा स्पंदमत, अकुलीश पाशुमत और रसेश्वरदर्शन प्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वान शाक्तमत को भी, जिसमे शक्ति पूजा का बड़ा स्थान है, शैव मत की शाखा मानते है, किन्तु अब भी इसमें मतभेद है। आगे चल कर शैवो मे नाथ, रसेश्वर आदि सम्प्रदाय भी हुए जिनके तत्व-ज्ञान में थोड़ी बहुत भिन्नता होते हुए भी दोनो मे अद्वैत-प्रधान का स्वर ऊँचा रहा।

पाशुपत के सस्थापक का नाम नकुलीश या लकुलीश बताया जाता है। लकुलीश शंकर भगवान के अठारह अवतारों मे से एक माने जाते हैं। लकुलीश लगभग सन् १०५ ई० मे कुषाण राजाओ के समय में वर्तमान थे, ऐसा अनुमान है। इस मत के दार्शनिक सिद्धान्त मे पशु, पाश और पति—इन तीनो तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान है। पशु शब्द का अर्थ है—वह व्यक्ति जो पाशो के द्वारा जकड़ा गया हो—'पाशवाच्च पशव.'। अणु, परिच्छिन्न रूप तथा सीमित शक्ति से युक्त जीव ही पशु है। जीव स्वय शिवरूप और सच्चिदानन्द रूप ही है, परन्तु अनेक मलो से आवृत होने के कारण उसकी मौलिक स्वातत्र्य-शक्ति नष्ट हो गयी है। पाश का अर्थ है, बंधन जिसके द्वारा शिवरूप होने पर भी जीवों को पशुत्व-प्राप्त होता है। पाश चार प्रकार के होते है—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। इन्ही पाशो से जीव सदा बँधा रहता है। वस्तुतः वह स्वतंत्र है, पर इन पाशो के कारण वह परतन्त्र बना है। जिस प्रकार गायों के गले की रस्सी को खोलकर उनका स्वामी उन्हे स्वतन्त्र बनाता है उसी प्रकार पशुपति की अनुकम्पा पाकर वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। परमेश्वर ही पति है। परमैश्वर्य, स्वातत्र्य तथा सर्वज्ञत्व—ये पति के असाधारण गुण हैं। शिव नित्य मुक्त है। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह वे इन पाँच कृत्यों का सम्पादन करने वाले हैं। रुद्र, शिव, शंकर, ईश्वर—ये सब एक ही तत्व के बोधक है।

पाशु-पत का साधना-तत्व इस प्रकार है। अनादि काल से नाना मलों से आवरित होने के कारण पशु नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त दुःखों का भाजन बना हुआ है! ये मल न ज्ञान के द्वारा हटाए जा सकते हैं न कर्म के द्वारा, बल्कि क्रिया के द्वारा दूर हो सकते हैं। जीव में स्वतः कोई सामर्थ्य नहीं है। परमशिव के अनुग्रह से ही जीव बन्धन से मुक्त हो सकता है। इसी अनुग्रह-शक्ति का नाम है दीक्षा। यह दीक्षा गुरू के द्वारा दी जाती है।

गुरू परमशिव के ही प्रतीक हैं। जीव का पशुत्व गुरू के अनुग्रह से दूर हो सकता है। परन्तु सच्चे गुरू भी भगवान की कृपा से ही मिलते हैं। भगवान की कृपा पाने के लिए उन्हीं की शरण में जाना चाहिए। भगवान परम दयालु हैं। वह जीव का दुख पल भर के लिए भी सह नहीं सकते, वे 'महादेव' नाम उच्चारण करने वाले के पीछे उसी प्रकार दौड़ते हैं जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के पीछे दौड़ती है। इसलिए जीव को चाहिए कि शिव के कल्याणमय स्वरूप को समझ कर सर्व भाव से अपना सर्वस्व उन्ही के चरणों में अर्पित कर दे।

अनेक विद्वान् यह मानते हैं कि शैव सम्प्रदाय और योग विद्या इन दोनों के बीच अति प्राचीन काल से कुछ न कुछ सम्बन्ध चला आया है। इसका पहला कारण यह है कि योग शास्त्र के पंडित भगवान शिव को ही उसका प्रवर्तक मानते हैं, इसीलिए शिव का एक नाम 'योगीश्वर' प्रसिद्ध हो गया है। दूसरा कारण यह है कि अनेक जगहों में जो शिव की मूर्तियाँ मिली है वे सभी योगासन पर बैठी हुई या समाधिस्था पायी गयी हैं। तीसरा कारण यह है कि पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी भस्म स्नान और योगाभ्यास पर जोर देते है। चौथा कारण यह है कि योग-शास्त्र की जितनी रचनाएं पायी जाती है शिव-पार्वती के बीच सम्वादो के रूप मे लिखी गयी है। पतंजलि के योग-सूत्रों में योग-मार्ग का क्रम-बद्ध तत्ववाद और साधन-पद्धति का सुन्दर परिचय दिया गया है जिसका रचना काल लगभग सन् ईसवी का आरम्भ बताया जाता है। उसके बाद योगमार्ग का सम्बन्ध साधन-प्रक्रिया के रूप मे अनेक सम्प्रदायों के साथ होगया। उसके पूर्व सम्भवतः इसमे दार्शनिक सिद्धान्तों का रूप कम और धर्म-साधना का रूप अधिक रहा हो। पातंजल-योग दर्शन में इसे चार भागों में विभाजित किया गया है—(१) हेय, (२) हेय-हेतु, (३) हान और (४) हानोपाप। जितने दुःख और दुःख के कारण पदार्थ हैं वे त्यागने योग्य हैं, दुःख के कारण को न जानना, अविद्या अर्थात् हेय-हेतु हैं, इस अविद्या से छुटकारा पाना हान है, हेयहान का उपाय ही हानोपाय है। इस उपाय को बताना ही योग शास्त्र का उद्देश्य है। पतंजलि ने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए साधना-मार्ग निश्चित किया है जिसके आठ अंग बताए हैं। ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन अंगों में प्रथम पाँच बहिरंग और अन्त के तीन अन्तरङ्ग माने जाते हैं। इन आठों के अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होता है, और चित्त की शुद्धि से योगी चरम सिद्धि को प्राप्त होता है। इस सिद्धावस्था में वह केवल्य-स्थिति का अनुभव करता है।

मध्यकाल मे संस्कृत तथा लोक भाषाओं में योग सम्बन्धी बहुत-से ग्रथ रचे गए जिनके द्वारा योग-मार्ग का विशेष रूप से प्रचार हुआ। इन हठयोग वाले ग्रन्थों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि उनमे योगांगो के बाह्य-पक्ष पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। पातजल दर्शन मे बाह्य और भीतरी इद्रियो के सयम को 'यम' कहा गया है। अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम है। इन पाँच यमो की साधना के लिए पाँच नियम बनाए गए है—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-ध्यान। आगे चल कर इन योग-सम्बन्धी ग्रन्थो मे नैतिक स्वर ऊँचा होता गया और साधना की प्रक्रियाओ पर कम जोर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन और परवर्ती निर्गुणियो और निरजनियों की बाणियो मे यह नैतिक रूप प्रधान बना। जो विशुद्ध योग मार्ग के अनुयायी थे उनके सप्रदायो मे योग का ज्ञान मूलक अश प्रबल रहा। इस प्रकार मध्यकाल के साधना-मार्ग के दो रूप हुए—एक 'कथनी' पर जोर देने वाला, दूसरा करनी पर जोर देने वाला। जहाँ गोरखनाथ जैसे हठयोगियो ने करनी की महत्ता का वर्णन किया वहाँ निर्गुणिया सतो ने 'कथनी' की आवश्यकता पर जोर दिया। यदि इन दोनो दलो में कभी एक दूसरे के साथ सघर्ष चला तो कभी दोनो मे सामजस्य का भाव लाने का प्रयत्न भी होता रहा। इन दोनो दलो के साहित्य ने मध्य-कालीन भक्ति आन्दोलन को खूब प्रभावित किया। "निर्गुण भक्ति मार्ग की आरम्भिक अवस्था ज्ञान की कथनी वाले मार्ग की परम्परा का ही अन्तिम रूप रही होगी। कबीर, दादू आदि के नाम पर पायी जाने वाली बाणियो के विश्लेषण से इस नतीजे पर पहुंचना सम्भव है। वस्तुतः इनकी साखियां आठ योगागो के विभिन्न पहलुओ को स्पष्ट करने के उद्देश्य से लिखी गयी है। इन उपदेशों मे ज्ञान प्रवण नैतिक स्वर ही प्रधान है, योग सम्बन्धी स्वर गौण। इसी ज्ञान प्रवण नैतिकता प्रधान योग मार्ग के खेत मे भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहर लता उत्पन्न हुई उसी का नाम निर्गुण भक्ति मार्ग है।"[१]

नाथ और निरंजन मत

ज्ञानप्रवण नैतिकता प्रधान योगमार्ग ही नाथ-सम्प्रदाय अथवा हठयोगी सम्प्रदाय है। नाथ सम्प्रदाय का आरम्भ कब हुआ और उसका मूल प्रवर्तक

१—मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६९।

कौन था, इस सम्बन्ध में मतभेद है। यदि कुछ विद्वान इसका आरम्भ आठवीं शताब्दी में मानते है तो दूसरे विद्वान यह कहते हैं कि इसका जन्म ई० पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था। फर्कुहर ने बीच का रास्ता पकड़ा है और कहा है कि तेरहवी शताब्दी मे यह वर्त्तमान था। आजकल बहुतेरे विद्वानों के अन्वेषण के फलस्वरूप यह मान लिया गया है कि नाथ सम्प्रदाय का संगठन दसवीं शताब्दी के आसपास हुआ था और उसका संगठन करने वाले थे गोरखनाथ अथवा गौरक्षक।

विद्वानो का मत है कि नाथ सम्प्रदाय के निर्माण मे पूर्ववर्ती कई प्रकार की विचार धाराओं का योग रहा। यह मत मूलतः शैवमत था। कुछ लोग इसे प्राचीन रसायन सम्प्रदाय का विकसित रूप ही मानते है। इसने योग को अपनाया था और बौद्ध तात्रिको मे बहुत-सी बातो को ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त इसने उपनिषदो के ज्ञान और अद्वैतवाद के साथ-साथ भक्ति को भी अपने मे समेट लिया था। जिस प्रकार श्री शंकराचार्य ने उपनिषद के ज्ञानवाद के आधार पर वेदान्त को एक समन्वयात्मक रूप देकर अपने अद्वैत मत की स्थापना की और जैन और बौद्ध मत के पैर उखाड़ दिए उसी प्रकार नाथ पंथ ने शकराचार्य की इसी समन्वयात्मक प्रवृति से काम लिया। जहाँ शंकराचार्य वेदमूलक ज्ञानकाड को लेकर चले वहाँ गोरखनाथ ने वेदो के विरुद्ध आवाज़ उठायी, ब्राह्मणों के आचारो, धार्मिक क्रियाकलापो और यज्ञ पूजा को चुनौती दी और अपनी यौगिक क्रियाओं के चमत्कार से देश के विशाल जनसमुदाय को अपनी ओर आकर्षित किया। शंकराचार्य के पश्चात् लगभग दशवी शताब्दी से चौदहवी शताब्दी तक यदि किसी एक सम्प्रदाय ने उत्तरी भारत तथा दक्षिण भारत के उत्तरी भूभाग को सब से अधिक प्रभावित किया था तो वह नाथ सम्प्रदाय ही था।

नाथ संप्रदाय वाले अपनी गुरु परम्परा भगवान शंकर से आरम्भ करते हैं। उनका विश्वास है कि शकर ही आदिनाथ थे। यही कारण है कि इस पंथ के सभी मंत्र-तंत्र महादेवजी का आश्रय लेकर चलते हैं। कहा गया है कि महादेव ने ही सब से पहले पार्वती को योगमार्ग का रहस्य बताया था। साधारण रीति से नाथ नौ माने जाते हैं, वैसे तो और भी बहुत से नाथ हुए है। बौद्धों के चौरासी सिद्धों में भी कुछ नाथों के नाम गिने जाते है। प्रमुख नाथों की परम्परा इस प्रकार है—आदिनाथ, मछीद्रनाथ (मत्स्येंद्रनाथ), गोरखनाथ, गहिनीनाथ (गैनीनाथ), निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ, जालंधरनाथ, चौरंगीनाथ, कानफीनाथ। "जनश्रुति है कि गोरखनाथ मत्स्येंद्रनाथ के शिष्य थे। वे इन्द्रिय-

सुख में पड़ कर कामिनियों के जाल में फंस गए थे, और इस अवस्था से गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। इसमें गोरखनाथ के अश्लील तांत्रिकता का विरोध कर उसके स्थान पर ब्रह्मचर्योपत योग-मार्ग का प्रचार करने के उद्योग का संकेत मिलता है।"[१] इससे यही प्रतीत होता है कि गोरखनाथ ने नाथ संप्रदाय को एक व्यवस्थित मत का रूप दिया और योग-मार्ग के अभिनव तत्वों का समावेश कर के उसे लोकप्रिय बनाया। यही कारण है कि गोरखनाथ को ही साधारण रूप से नाथ संप्रदाय का प्रवर्तक माना गया।

नाथ संप्रदाय की साधना-पद्धति का नाम हठयोग है और उसकी साधना करने वाले हठयोगी कहलाते हैं। हठयोग का उद्देश्य 'अमरत्व' अथवा 'शिवत्व' की प्राप्ति करना है। शक्ति और शिव इस संप्रदाय के दो प्रधान तत्व हैं। शिव स्थिर तत्व है, शक्ति क्रियावान और चंचल है। शक्ति ही आवागमन का कारण है। योग का उद्देश्य इस शक्ति की निम्नगामी प्रवृत्ति को रोक कर उसकी गति को ऊपर की ओर ले जा कर शिवत्व की प्राप्ति कराना है। शिव से मिलने के लिए शक्ति को अपने मार्ग में नाना चक्रों को भेदते हुए जाना पडता है। नाभि के नीचे शक्ति का निवास है, नाभि के ऊपर शिव का। मेरूदण्ड के नीचे गुदा के ऊपर नीचे मुख किए कुंडलिनी स्थिति है जो कि शक्ति की प्रतीक है। शिव सहस्त्रार चक्र में अर्थात् हजार पंखुरियों वाले कमल में बास करते है। शिव और शक्ति ब्रह्माण्ड और पिण्ड के दो प्रतीक है। जो ब्रह्माण्ड मे है वही पिण्ड में भी है। शक्ति अथवा महाकुण्डलिनी सम्पूर्ण सृष्टि मे व्याप्त है। नाथ संप्रदाय मे शक्ति के शिव मे जाकर मिलने की क्रिया का बड़े ही सूक्ष्म ढंग से वर्णन किया गया है। मनुष्य शरीर के अन्तर्गत मेरूदण्ड मे प्राण-वायु को वहन करने वाली कई नाड़िया है जिनमें तीन अति प्रधान है। जो नाडी बाई ओर है उसे इडा और जो दाहिनी ओर है उसे पिगला कहते है। ये दोनो बारी-बारी से चलती रहती है। इन दोनो के बीच में सुषुम्ना नाड़ी है। इसी से होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। योगी का यही कर्त्तव्य है कि ऊपर उठाकर शान्त अवस्था में स्थित शिव तक पहुँचा दे ताकि शक्ति का शिव से मिलन हो जाय। इस मिलन की यात्रा में कई पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है। "कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होकर ऊपर को उठती है तो उससे स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का व्यक्त रूप है 'महाबिन्दु'। यह बिन्दु तीन प्रकार

१—योग प्रवाह—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—पृ० ५९।

का होना है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौर पर योगी लोग इन्ही को कभी सूर्य, चन्द्र और अग्नि कहते है और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते है।"[१]

"इस हठयोग का उद्देश्य केवल शारीरिक-शुद्धि और मन का सम्मार्जन है। देशशुद्धि के लिए हठयोग की क्रियाओ का विशाल ठाठ है—धोति है, वस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है। इन्हे षट्कर्म कहते है जो देहशुद्धि के कारण है। आसन और मुद्राओं के अभ्यास मे देह की दृढ़ता साधित होती है। फिर प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि मे यथाक्रम शारीरिक धीरता, लघुता, आत्म-प्रत्यक्ष और निर्लेपता आयत्त होती है। और अमल मे जैसा कि कई आचार्यों ने बताया है, आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसंधान ये चार ही हठयोग के प्रतिपाद्य विषय है। यह सब सिद्ध होने के बाद सिद्धियाँ प्राप्त होती है।"[२]

नाथ संप्रदाय मे गुरु का स्थान बहुत ऊँचा है। गुरु के बिना योगी के अपनी साधना मे पथभ्रष्ट होने की सदा सम्भावना रहती है। इस जटिल साधना-पद्धति के लिए सद्गुरु की बडी आवश्यकता है। चाहे जगत के और सभी व्यापार हो जावे सद्गुरु के बिना इस साधना मे सफलता नही मिल सकती।

नाथो ने अपनी साधना मे स्त्री को बडी बाधक माना है। उन्होंने स्त्री की तुलना जादूगरनी, रक्त की प्यासी बाघिन से की है। वैयक्तिक साधना की सफलता को ही ध्येय मान कर चलने वाले नाथो ने स्त्री को कोई महत्व नही दिया है। वस्तुत: उनके हठयोग का उद्देश्य स्त्री के आकर्षण से बचने का प्रयत्न ही है। उनके अनुसार विन्दु अथवा वीर्य, वायु तथा मन को वश मे लाना आवश्यक है। यदि इन तीनो मे से एक भी वश मे आ जाय तो शेष दोनो आप से आप वश मे आ जाते है। इस प्रकार, नाथ सप्रदाय मे योग-साधना का उद्देश्य किसी प्रकार चित्त वृत्तियों की बहिर्मुखता तथा बहुमुखता को अन्तर्मुखता तथा एक मुखता में परिणत करना है जिसके द्वारा साधक के सभी भाव, ज्ञान एवं कर्म एक आत्मतत्व की ओर ही केंद्रीभूत हो जायँ तथा उसके जीवन में पूर्ण साम्य और शान्ति आ जाय।

नाथ-संप्रदाय के साहित्य को संग्रह और प्रकाशन का अब तक जो कुछ

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६४।
२—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५।

कार्य हुआ है वह बहुत कम ही है। गोरखनाथ और मत्स्येंद्रनाथ की कुछ रचनाएं हिन्दी और संस्कृत में पायी गयी हैं। गोरखनाथ के नाम पर जो रचनाएँ मिली हैं उनके तीन रूप हैं—सबदी, संवाद-ग्रंथ और पद। इन रचनाओं में यौगिक क्रियाओं पर जोर दिया गया है। सहज जीवन की महत्ता बतायी गयी है। ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि, मद्य मांस का पूर्ण बहिष्कार आदि विषयों का वर्णन किया गया है। यद्यपि इस साहित्य में गार्हस्थ्य जीवन के प्रति पूर्ण उपेक्षा दिखलायी गयी है तो भी शुद्ध और उदात्त धार्मिक जीवन की प्रतिष्ठा की ओर समाज का ध्यान खीचा गया है। परवर्ती हिन्दी साहित्य में चरित्रगत दृढता और पवित्रता का जो ऊँचा स्वर सुनाई पड़ता है उसका बहुत कुछ श्रेय इसी नाथ संप्रदाय के साहित्य को मिलना चाहिए।

जिस प्रकार नाथ संप्रदाय ने उत्तरी भारत के विशाल भू भाग को तीन-चार शताब्दियों तक अपने हठयोगी साधना के चमत्कारों से प्रभावित कर रखा था उसी प्रकार पूर्वी भारत में अर्थात् उड़ीसा, छोटा नागपुर, पूर्वी बिहार और बंगाल में 'धर्म' अथवा निरंजन मत का विशेष प्रचार था। इस मत का मूलरूप क्या था और उसका जन्म कब हुआ था यह अब भी खोज का विषय बना हुआ है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह आरम्भ में बौद्ध मत का ही प्रच्छन्न रूप था। और कुछ विद्वानो के अनुसार 'धर्म' शब्द आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणी की जातियों की भाषा के एक शब्द का संस्कृत रूप है और कूर्म या कछुए का वाचक है। यह शब्द सन्थाल आदि जातियों की भाषा में नाना रूपों में चलता है। इसी शब्द का संस्कृत रूप धर्म है। यह अनुमान लगाया गया है कि यह सन्थाल-मुण्ड जातियों के विश्वास का ही रूप है। आगे चल कर इस संप्रदाय पर इस्लाम धर्म का भी प्रभाव पडा था। आजकल भी पूर्वी बिहार और बंगाल में धर्म-पूजा प्रचलित है जिसका सब से बड़ा देवता निरंजन या धर्म है। यह निरंजन रूप, वर्ण, आदि रहित है और शून्य स्वरूप है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अनुरागसागर नामक ग्रंथ के आधार पर इस पंथ का परिचय दिया है। उसमें बताया गया है कि 'काल' का मान भंग नामक दूत 'मूल कथा' को लेकर पंथ चलाएगा और अपने पंथ का नाम मूल पंथ रखेगा। वह जीव का 'सूदी' नाम समझाएगा और इसी नाम को

'पारस' कह कर प्रचार करेगा। 'भृंग' शब्द का सुमिरन मुँह से कहेगा और समस्त जीवों को एक साथ पकड़ कर रखेगा।"[१]

कबीर-पंथी साहित्य में निरंजन मत का नाना प्रकार से वर्णन मिलता है। कहीं कहीं निरंजन मत को कबीर-पंथ के प्रतिद्वंद्वी पंथ के रूप मे चित्रित किया गया है और कही कही उसे कबीरपंथ की शाखा अथवा उसके अंग के रूप में दिखाया गया है। कहा गया है कि निरंजन का वासस्थान उत्तर में मानस सरोवर है और उसे पाने के लिए शून्य का ध्यान करना चाहिए। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक मध्यकालीन धर्मसाधना' में धर्म-पूजा-विधान नामक ग्रंथ में से दो सस्कृत श्लोको का उद्धरण देकर निरजन मत के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वे श्लोक इस प्रकार हैं :—[२]

धर्म-पूजा-विधान का श्लोक—

ओ यस्यानं नादिमध्य न च करचरणं नाग्निवायोर्निवासम्।
नाकार नादिरूपं न च भयमरणं नास्ति जन्मैव यस्य।
योगीन्द्र-ध्यान-गम्यं सकलदलगत सर्वसंकल्पहीनम्।
नत्रैको पि निरजनो मूरवरः पातु मां शून्यमूर्तिः॥

धर्माष्टक स्तोत्र—

ओं न स्थानं न मानं न चरणारविदं रेखंमरूपं न च धातुवर्ण
दृष्टा न दृष्टिः श्रुता न श्रुतिस्तस्मै नमस्तेऽस्तु निरजनाय।
ओ चं श्वेतं न पीतं न रक्तं न रेतं न हेमस्वरूपं न च वर्ण कर्णम्
न चंद्रार्कवन्हि उदयं न अस्त तस्मै नमस्ते स्तु निरंजनाय।
ओं न वृक्ष न मूलं न बीजं न चाकुरं शाखा न पत्रं न च स्कधपल्लवं
न पुष्पं न गंधं न फलं न छाया तस्मै नमस्ते स्तु निरंजनाय।
ओं अधां न ऊर्ध्व शिवो न शक्तो नारी न पुरूषो न च लिंगमूर्तिः।
हस्तं न पादं न रूपं न छाया तस्मै नमस्ते स्तु निरंजनाय।
ओं न पंचभूतं न सप्तसागरं न दिशा विदिशं न च मेरू मंदिरं।
ब्रह्मा न इंद्रं न च विष्णु रूद्रं तस्मै०
ओं ब्रह्माण्डखण्डं न चंद्र दण्डं न काल बीजं न च गुरु शिष्यं।
न ग्रहं न नारा नत्रमेघ जाला तस्मै०

१—मध्यकालीन धर्म-साधना पृ० ८३।
२—मध्यकालीन धर्म-साधना पृ० ७९।

ओं वेदो न शास्त्रं संध्या न स्तोत्रं मंत्रों न जाप्यं न च ध्यान कारणं ।
होमं न दानं न च देव पूजा तस्मै०
ओं गंभीरधीरं निर्वाणशून्यं संसारसार न च पापपुण्यं ।
विकृति न विकर्णी न देवदेवं मम चित्तदीनं तस्मै

—धर्मपूजा-विधान, पृ० ७७-७८

स्व० डा० पीतावरदत्त बड़थ्वाल ने 'कुछ निरजनी सन्तों की बानियाँ' शीर्षकवाले निबन्ध मे परवर्ती निरंजनी सन्तो की विचार-धारा का बहुत सुन्दर परिचय दिया है। हरिदास, तुरसीदास तथा सेवादास नामक तीन प्रसिद्ध निरंजनियो की बहुत सी वाणियो का उन्होने सग्रह भी किया है। उल्लिखित निबन्ध मे डा० बड़थ्वाल जी ने निरंजनियों की आध्यात्मिक अनुभूति का जो परिचय दिया है उसका साराश इस प्रकार है। "इन कवियो ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को सरल और स्वाभाविक सौन्दर्यमय गीतो मे विकास दिया है। निरंजनियो मे भी इस अनुभूति तक पहुँचने का मार्ग निर्गुणियो की ही भाति उल्टा मार्ग या उल्टी चाल कहाता है। मन की बहिर्मुखी प्रवृत्तिया को, जो जीव को सासारिक बन्धन मे डालने का कारण होती है—अन्तर्मुखी करना, उनके अनुसार, परम आवश्यक है। सर की प्रक्रिया को प्रति संचर मे परिणत कर देने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। निरंजनियों का उलटा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनुप्राणित योग मार्ग के ही समान है। निरंजनियों का उद्देश्य है इड़ा और पिगला के मध्यस्थित सुषुम्णा को जागृत कर अनाहत नाद सुनना, निरजना के दर्शन प्राप्त करना तथा बंकनाल के द्वारा शून्य-मण्डल मे अमृत का पान करना। नामस्मरण साच की डोरी है जो परमात्मा से जोड़े रहती है। इस नामस्मरण मे प्रेम और योग का पूर्ण समन्वय किया है। साथ ही त्रिकुटी अभ्यास का भी विधान किया गया है जो गोरस-पद्धति तथा गीता की भ्रूमध्य-दृष्टि के सदृश्य है।"[1] निरंजनी कविता में प्रेम-तत्व का महत्व योग-तत्व से कम नहीं है। तुरसी ने कहा है "प्रेम भक्ति बिन जपतप ध्यान, रूखे लगे सहत विग्यान। तुरसी प्रेम भक्ति उर होय, तब सबही मत सांचे ओय।"[2]

तुरसी दास ने अपनी वाणी में सगुण भक्तों की नवधा-भक्ति को अपना कर अपनी अभिनव दशधा भक्ति का निरूपण किया है और अद्वैत दृष्टि के

१—योग प्रवाह—डा० बड़थ्वाल—पृ० ४३, ४४।
१—वही, पृ० ४५।

अनुकूल उसे एक नवीन अर्थ दिया है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण को तो उन्होने आसानी से अपने अनुकूल बना लिया है। उनके अनुसार 'पादसेवन' का अर्थ हृदय-कमल-स्थित ज्योति स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करना है। 'अर्चन' समस्त ब्रह्माण्ड में 'ऊं' का प्रतिरूप देखना है, 'वंदन' साधु, गुरू और गोविन्द को एक मान कर उनकी वन्दना करना है, 'दास्य भक्ति' हरि, गुरू और साधु की निष्काम सेवा करना, 'सख्य भक्ति' भगवान से बराबरी का अभिमान करके सब मार्गो से गोविद-प्राप्ति हो सकने के विश्वास के साथ भगवान को मित्र समझने की भावना है और आत्म-निवेदन दैन्य का भाव है। ये नौ भक्तिया सगुण नवधा भक्ति से भिन्न है और जीव को प्रवृत्ति मार्ग की ओर न ले जाकर निवृत्ति की ओर ले जाती है। इस नवधा भक्ति की जब सिद्धि होती है तब सर्व श्रेष्ठ प्रेमा-भक्ति की प्राप्ति होती है।"[1]

निरजनियो ने हिन्दुओं के पूजा-विधान का विरोध किया है और वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया है। यद्यपि उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकाण्ड का विरोध किया है तो भी मंदिर मूर्ति आदि से द्वेष न करने का भी उपदेश दिया है।

नाथ और निरंजन मत के उल्लिखित सामान्य परिचय से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समस्त भारतवर्ष पर इन दोनो की साधना-पद्धति का बहुत दिन तक प्रभाव बना रहा। इन दोनों की विचार-धारा मे जो साम्य पाया जाता है वह संक्षेप में इस प्रकार है :—(१) ये दोनों वेद-विरोधी है। (२) हिन्दूओ के वर्णाश्रम धर्म, वाह्य आचार विचार सम्बन्धी समस्त विश्वासो और पूजा विधानो का इन दोनो मतो ने खण्डन किया है। (३) अध्यात्म साधना के लिए यौगिक क्रियाओ का आश्रय लिया गया है। (४) दोनो निर्गुणोपासक है। (५) मानसिक पवित्रता और आत्म-शुद्धि पर दोनों में विशेष ज़ोर दिया गया है। (६) दोनों में भक्ति-तत्त्व की कमी और ज्ञान की प्रधानता है। (७) दोनो मतों के सन्तों की वाणियों द्वारा लोक-भाषा और लोक-साहित्य की समृद्धि हुई है। और (८) दोनों मतों में ब्रह्मचर्य, सदाचार, नैतिकता का पूरा समादर हुआ है और वैयक्तिक आदर्श-जीवन की पूरी प्रतिष्ठा हुई है।

नाथ सम्प्रदाय और निरंजन मतों के आविर्भाव से भारतीय धर्म साधना को सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि बौद्ध तन्त्रो के कारण अध्यात्म-साधना के

१—योगप्रवाह—पृ० ५०-५२।

नाम पर जितना भ्रष्टाचार चल रहा था उसका अन्त हो गया और जनता में आस्तिकता की वृद्धि हुई। जाति-पाँत का बन्धन ढीला हुआ, छुआ-छूत, उच्च-नीच की भावना जाती रही और नैतिक मूल्यों का गौरव बढने लगा। दूसरी सबसे बड़ी बात यह हुई कि परवर्ती निर्गुनिया संतो की भक्ति-साधना के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हुआ और उर्वर जमीन प्राप्त हुई। कबीर, दादू जैसे संतों ने नाथ मत तथा निरंजनियों के सबद, सहज समाधि, अमरत्व, शून्यता, अद्वैत, परमपद, निर्गुण, निरंजन, उलटी साधना, सुरति-निरत, इडा-पिंगाल सुषुम्ना-नाडी, अजपा आदि नाना शब्दों और मुहावरो को अपना कर उनमें नया भाव भरने का प्रयत्न किया। वस्तुतः इन मतों की अन्तर्धारा से परवर्ती धार्मिक साधना परिपुष्ट एव सबल हुई। जहाँ इन सम्प्रदायों से निर्गुणिया सन्तों को अपने मत की स्थापना मे सहायता मिली वहाँ इन योगियों की अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातों से देश के धार्मिक जीवन पर आघात भी हुआ। भक्ति भावना के अभाव के कारण सर्वत्र नीरसता एवं शुष्कता बढ़ने लगी। इसके अतिरिक्त इन नाथों और निरंजनियो द्वारा प्रतिपादित साधना-मार्ग वैदिक विचार-धारा के अनुकूल नही था। इन सब कारणों से एक ऐसे अध्यात्म-साधन-क्रम की आवश्यकता हुई जो वेद सम्मत हो और जिसमें भक्ति-भावना की पूरी प्रतिष्ठा हो। ऐसे ही समय में इन योगियों के शुष्क आध्यात्मवाद की प्रति-क्रिया के रूप मे स्वामी रामानन्द द्वारा राम-भक्ति के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। स्वामी रामानन्द जी युगद्रष्टा ही नही युगस्रष्टा भी थे। उन्होंने ऐसे एक भक्ति-पन्थ का प्रचार किया जिसमे एक ओर वैयक्तिक उपासना-पद्धति समाज के सब वर्ग के लोगों के लिए अनुकूल बनी और दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था तथा शास्त्र-मर्यादा को पूर्ण मान्यता प्राप्त हुई। यह नूतन भक्ति-आन्दोलन इतना व्यापक और लोकप्रिय हुआ कि समस्त उत्तरापथ के लोगों के जीवन मे नयी आशा की ज्योति जगी, नूतन स्फूर्ति का संचार हुआ।

रामानन्द का आविर्भाव

तेरहवीं शताब्दी के अंत में स्वामी रामानन्द के आविर्भाव को उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन एवं हिन्दी-काव्यक्षेत्र में एक महान घटना ही समझना चाहिए। रामानन्द जी से प्रेरणा पाकर रामोपासना की दो विमल धाराएँ उत्तरी भारत में बह चली—एक थी भक्ति शिरोमणि गोस्वामी तुलसी द्वारा प्रतिपादित सगुण राम-भक्ति और दूसरी सन्त श्रेष्ठ कबीरदास द्वारा प्रसारित निर्गुण राम-भक्ति। इन दोनों महात्माओं की वाणियों की ऐसी

अमृत-वृष्टि हुई कि समस्त हिन्दी-भाषा-भाषी ही नहीं प्रत्युत सारे भारतवर्ष की जनता अपने को धन्य समझने लगी। दोनों शाखाओं के कवियों ने अपनी अमर रचनाओं के द्वारा हिन्दी भाषा व साहित्य को वह गौरव प्रदान किया जो उसे इसके पहले कभी नहीं प्राप्त हुआ था।

स्वामी रामानन्द जी का जन्म दक्षिण भारत मे हुआ था या उत्तर भारत मे और वे रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा मे थे या उनका कोई अलग ही सम्प्रदाय रहा था यह तो चर्चा का विषय है। इस पर विद्वानो का मत एक नही है। किन्तु सब विद्वान यह मानते है कि रामानुजीय संप्रदाय से उनका सम्बन्ध था।[1] हमे इस वाद मे पड़ना नहीं है, किन्तु यही देखना है कि स्वामी रामानन्द जी द्वारा प्रतिपादित भक्ति सम्प्रदाय का क्या रूप है और उसका हिन्दी भक्ति-साहित्य के क्षेत्र मे क्या स्थान है।

स्वामी रामानन्द जी एक उच्चकोटि के विद्वान, भक्त और समाज-सुधारक थे। उनके समय मे देश की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति कुछ ऐसी थी कि हिन्दू धर्म की रक्षा का प्रश्न बडा ही विकट हो गया था। एक ओर मुस्लिम शासकों की हठधर्मिता तथा अत्याचार से हिन्दू धर्म और संस्कृति की दशा चिंतनीय हो गयी थी, दूसरी ओर हिन्दू मतावलम्बी जात-पात, उच्च-नीच, के भेद-भाव के कारण अपने मे ही बँटे हुए थे। महान् पुरुष इसलिए महान् होते है कि वे समय की गति को जल्दी ही समझ लेते है और देश और समाज के उद्धार का ऐसा मार्ग ढूढ लेते है कि जटिल से जटिल समस्याएँ भी आपसे आप हल हो जाती है। रामानन्द जी ने बड़ी ही दूर-दर्शिता से परिस्थिति को संभाला। तत्त्व-दृष्टि से वे रामानुजाचार्य जी के मतावलम्बी थे, लेकिन उन्होने अपनी उपासना अलग की। उन्होंने उपासना के लिए, बैकुण्ठ-निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला-विस्तार करने वाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। उनके इष्ट-देव राम हुए और मूलमन्त्र 'राम नाम'। इस परिवर्तन के साथ उन्होंने उदारतापूर्वक मनुष्य-मात्र को सुलभ भक्ति का अधिकारी माना और देश-भेद, वर्ण-भेद, जाति-भेद आदि का विचार भक्ति-मार्ग से दूर रखा। रामानुज संप्रदाय की दीक्षा केवल द्विजातियों को दी जाती थी, पर स्वामी रामानन्द जी ने रामभक्ति का द्वार सब

१—इस सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद जी लिखित 'कबीर' के पृ० ९५ से ९८ तक दृष्टव्य हैं।

जातियो के लिए खोल दिया।[1] "क्योंकि उनके मत से गुरू को आकाशधर्मा होना चाहिए जो पौधे को बढ़ने के लिये उन्मुक्तता दे, न कि शिला धर्मी जो कि पौधे को अपने गुरुत्व से दबाकर उसका विकास ही रोक दे।" कहते हैं कि रामानन्द जी को एक खान-पान के मामले में अपने गुरू राघवानन्द जी से मत-भेद होने के कारण अलग होना पड़ा था। यह स्वतन्त्र चिंता-शक्ति रामानन्द जी की एक बड़ी विशेषता थी जो कि मध्य युग की स्वाधीन चिंतन-पद्धति की पोषक-शक्ति बनी। स्वामी रामानन्द जी ने श्री सम्प्रदाय के भक्तियोग की उपासना एवं अर्चन विधियो को अधिक महत्व न देकर भजन-भाव की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। यद्यपि उन्होंने रामानुज की अनन्य दास्य-भक्ति मे शरणागति का भाव अपनाया तो भी उसकी साधना के लिए वर्णाश्रम धर्म का बधन व्यर्थ समझा, खान-पान की झंझट मे पड़ना बाधक माना। इसके अतिरिक्त उन्होने अपने मत का प्रचार करने के लिए वैरागियो का सगठन किया जिसमें सब जाति के लोगों को सम्मिलित होने की अनुमति दी। इस प्रकार उन्होने उदारता के साथ ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को रामनाम का उपदेश दिया और भक्ति और व्यावहारिक जीवन मे सामजस्य स्थापित करके समस्त हिन्दू जाति को ऊपर उठाने का सतत प्रयत्न किया। फलतः इस उदार लोक-भक्ति-धर्म का सर्वत्र प्रचार हो चला।

श्री स्वामी रामानन्द जी ने जो रामभक्ति चलायी उसका दर्शनिक-पक्ष अति उदार और सबको आत्मसात् करने में समर्थ था। कहते हैं कि पहले-पहल रामानन्द जी ने काशी मे शाकर अद्वैत की शिक्षा पाई थी और अपने गुरू राघवानन्द जी से योग-साधना भी सीखी थी। इसीलिए उनके मत में भक्ति, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत में सामजस्य-भाव खोजने का प्रयत्न लक्षित होता है। उन्होंने प्रस्थानत्रयी पर भाष्यों की रचना की थी जिनमें से ब्रह्मसूत्रों पर लिखा हुआ 'आनन्दभाष्य' सर्वोत्तम है। "उसमें उन्होंने 'ब्रह्म-शब्द-वाच्य' श्री राम को ठहराया है और उसी को सगुण एवं निर्गुण दोनों ही माना है। उनके अनुसार 'निकृष्ट प्राकृत गुणों से रहित' को ही निर्गुण कहते हैं और दिव्य गुणों के कारण भगवान का सगुणत्व सिद्ध होता है। उन्होंने अनन्य भक्ति को मोक्ष का अव्यवहितोपाय माना है तथा प्रपत्ति को भी स्वीकार किया है।"[2] यद्यपि वे स्वयं विशिष्टाद्वैत-वाद के अनुयायी थे तो भी मततत्ववाद को प्रधा-

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृ० १२२, १२३।
२—वैष्णव धर्म—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १११।

नता न देकर उन्होंने उपासना-क्षेत्र मे विचार-स्वातन्त्र्य पर जोर दिया। यही कारण है कि "उनके शिष्यो मे और सम्प्रदाय में अद्वैत वेदान्त का पूर्ण समादर है। इसी तरह उनके शिष्यों मे केवल एक बात को छोड़ कर अन्य बातों में काफी स्वतन्त्रता का परिचय पाया जाता है। वह बात है भक्ति-अनन्य भक्ति। उनके कितने ही शिष्य उनकी वर्णाश्रम-व्यवस्था को नही मानते, जीवों का ब्रह्म से भेद नही मानते और कितने ही यह तक मानना नही चाहते कि दिव्य गुणो से भगवान का सगुणत्व भी सिद्ध होता है और सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादक है।"[१] इस प्रकार निश्चय ही कहा जा सकता है कि स्वामी रामानन्द ने रामोपासना को लोक-धर्म बनाया। उन्होने दूसरा जो बड़ा कार्य किया वह संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में भी कुछ रचनाये करना है। उनकी एक कविता आदि ग्रन्थ में संगृहित है जो आगे चल कर मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध मे उदाहृत की गई है। उसमे वे निराकारोपासना का उपदेश करते दीखते है। मन्दिर में की पत्थर की मूर्ति और तीर्थ का जल उन्होने अनावश्यक माने है, परन्तु वैरागी पंथ मे उन्होने शालिग्राम की पूजा का विधान किया है।"[२] उनकी दूसरी एक कविता पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे दी है जिसका प्रथम चरण इस प्रकार है "आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्ट दलन रघुनाथ कला की॥" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री रामानन्द जी के द्वारा राम भक्ति परक कविताओं की हिन्दी में रचना करने की परिपाटी चल पड़ी थी।

श्री रामानन्द ने रामभक्ति की जो विमल धारा बहाई वह सारे उत्तरी भारत को सीचते हुए बहुत दिनों तक बहती रही। इस राम-भक्ति की आगे चल कर दो प्रबल शाखायें हुई—पहली निर्गुण भक्ति धारा जिसके प्रचारक महात्मा कबीरदास हुए और दूसरी सगुण भक्ति-धारा जिसके उन्नायक भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसी हुए। इन दोनों शाखाओं की उत्तरी भारत में खूब पुष्टि हुई और भक्ति आन्दोलन में राम-भक्ति का उज्ज्वल रूप निखर आया। यहाँ रामभक्ति-भावना हिन्दी में उच्च कोटि के विपुल साहित्य के निर्माण के लिए एक प्रबल प्रेरक-शक्ति बनी।

निर्गुण भक्ति में रामभक्ति का स्वरूप

हिन्दी में निर्गुण-भक्ति-मार्ग के प्रधान प्रवर्तक कबीरदास ही माने जाते

१—कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ९८।

२—हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय—डा० बड़थ्वाल पृ० ३८।

हैं। यद्यपि कबीरदास ने अपने समय की नाना प्रकार की विचार-धाराओं से प्रभावित होकर अपनी भक्ति-साधना का रूप स्थिर किया था तो भी वे रामानन्द के ही शिष्य माने जाते हैं। रामानन्द की शिष्य परम्परा में बारह व्यक्ति बताए गये है जिनमे कबीर ही प्रधान है।[१] कबीर के रचे साहित्य मे यह उल्लेख कि "काशी मे हम प्रकट भए है रामानन्द जगाए" और "काशी मे प्रगटे दास कहाए नीरू के घर आए। रामानन्द के शिष्य, भवसागर पंथ चलाए।" यह सिद्ध करता है कि कबीरदास ने रामानन्द को अपना गुरू माना है। इसके अतिरिक्त कबीर के जन्म और रामानन्द जी की दीक्षा लेने के सम्बन्ध मे जो कहानियाँ कही जाती हैं उनमे भी इस बात का समर्थन हो जाता है कि कबीर रामानन्द जी के शिष्य थे। इस बात के लिए और एक सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि रामानन्द ने जिस राम नाम को अपने सम्प्रदाय का मन्त्र बना कर सारे उत्तरापथ का ध्यान अपनी उपासना-पद्धति की ओर आकृष्ट किया था उसी राम-नाम को कबीर ने अपनाया था। वास्तव मे कबीर जैसे एक शुद्ध निर्गुण भक्त का राम नाम को स्वीकार करना एक विचित्र बात ही कही जा सकती है। क्योकि 'राम' शब्द का सीधा सम्बन्ध वैष्णव धर्म के अवतारवाद से है जिसका कबीर ने बराबर खण्डन किया है। राम शब्द से सगुणोपासक जो प्रेरणा पा सकते हे वह निर्गुणोपासको को नही मिल सकती। तब कौन-सा रहस्य है जिसके कारण कबीर ने राम नाम को अपना मंत्र बनाया ?

"यह प्रसिद्धि है कि बचपन से कबीर मे हिन्दू-भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति लक्षित होती थी जिसे उनके पालने वाले माता-पिता नही दबा सके थे। वे सदा राम-राम जपा करते थे और कभी-कभी माथे में तिलक भी लगा लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि उस समय में स्वामी रामानन्द का

१—श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो।
अनंतानन्द कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानन्द, रैदास, धना सेन सुरसर की धरहरि।
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक तें एक उजागर।
विश्वमंगल आधार सर्वानन्द दशधा के आगार॥
बहुत काल बपुधरिकै, प्रनत जनन कौं पार दियौ।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियौ॥
—(भक्तमाल छप्पय–३१)

प्रभाव खूब बढ़ रहा था और छोटे-बड़े, ऊँच-नीच सब तृप्त हो रहे थे। अतः कबीर पर भी भक्ति का यह संस्कार बाल्यावस्था से ही यदि पड़ने लगा हो तो कोई आश्चर्य नही।"[1] इस कथन मे इतनी सच्चाई अवश्य है कि कबीर पर आरम्भ से ही राम-नाम का प्रभाव पड़ा था। कबीर तो साग्राही थे और उनकी भक्ति सहज भक्ति थी। इसलिए उन्होंने राम-नाम की मधुरता तथा भव्यता को पूर्ण हृदयंगम कर लिया था और उसी शब्द पर अपनी सारी कल्पना बैठायी थी। कबीर ने 'राम' शब्द को ग्रहण किया लेकिन उसके साथ लगी हुई अवतारवाद की भावना तथा उससे उत्पन्न अन्ध श्रद्धा को अपने "राम" से अलग कर दिया था। इसलिये उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया था---

"दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना
राम नाम का मरम है आना"

इतने से ही वे तृप्त नहीं हुए। क्योंकि अगर राम दशरथ पुत्र न हों तो और दूसरे किसी के पुत्र हो सकते हैं। अतः उन्होने फिर कहा है---

ता साहिब कै लागौ साथा, दुख सुख मैटि रह्यो अनाथा ॥
ना जसरथ घरि औतरि आवा, ना लका का राव संतावा ॥
देवे कूख न औतरि आवा, ना जसवै लै गोद खिलावा ॥
ना वा ग्वालन के संग फिरिया, गोवरधन ले न कर धरिया ॥
बाँवन होय नही बलि छलिया, धरती बेद ले न उधरिया ॥
गण्डक सालिगराम न कोला, मछ कछ हैव जलहि न डोला ॥
बद्री बैस्य ध्यान नहीं लावा, परसराम ह्वै खत्री न सतावा ॥
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगन्नाथ ले प्यण्ड न गाड़ा ॥
कहै कबीर विचार करि, ये ऊले व्योहार।
याही थैं जे अगम हैं, सौ बरति रह्या संसारि ॥[2]

इस प्रकार कबीर के राम न दशरथ पुत्र हैं न उन्होंने कोई अवतार ही लिया है। कबीर के राम साकार धनुर्धर राम न होकर ब्रह्म के ही पर्याय हैं।

निश्चय ही कबीर के राम पुराण प्रतिपादित अवतार नहीं थे। उनके राम निर्गुण, निरंजन और निराकार राम थे। यह निर्गुण और निरंजन पर

१--हिन्दी साहित्य का इतिहास--रामचन्द्र शुक्ल--पृ० ७२।
२--कबीर ग्रन्थावली--रमैणी--पृ० २४३।

कितना अद्‌भुत और अनुपम है कि इसका वर्णन उन्ही के मुँह से सुनने लायक है :—यह नाम निरंजन है, उसका रूप नही, रेखा नही, समुद्र नही, पर्वत नही, धरती नही, आकाश नही, सूर्य नही, चन्द्र नही, पानी नही, पवन नही, नाद नही, विंदु नही, पाप नही, पुण्य नही, जप नही, तप नही, योग नही, ध्यान नही, पूजा नही, शिव नही, शक्ति नही, वेद नही, व्याकरण नही।[1] जब कुछ भी नही है तो उसकी भक्ति कैसे की जाय ? वास्तव में कबीर के निर्गुण, निराकार, निरंजन राम शून्य या अभाव-रूप नही है। वस्तुतः वह राम परम ज्योति स्वरूप है। वहाँ सूर्य चन्द्र नही है, फिर भी वह 'चाँद विहूणाँ चाँदणा' और 'रवि ससि बिना उजास' है। वह ज्योति भी कैसी ? मानो वहाँ अगणित सूर्यों की श्रेणी ही उदित होगयी हो—"मानो ऊगी सूरज सेणि'। वह तेजोमयी वस्तु कुछ कहने की नही है।

कबीरदास ने विष्णु, कृष्ण, गोविंद, राम, अल्लाह, खुदा, रब, करीम, गोरख, महादेव, सिद्ध, नाथ आदि शब्दों का अर्थ यो समझाया है :—"अल्लाह, अलख निरंजन देव है, जो सेवा से परे है, 'विष्णु' वह है जो संसार रूप मे विस्तृत है, 'कृष्ण' वह है जिसने संसार का निर्माण किया है, 'गोविंद' वह है जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है, 'राम' वह है जो सनातन तत्व है, 'खुदा' वह है जो दस दरवाजा खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योगियों का परवरदिगार है, 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है, 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है, 'महादेव' वह है जो मन की जानता है, 'सिद्ध' वह है जो इस चराचर दृश्यमान जगत का साधक है, 'नाथ' वह है जो त्रिभुवन का एक मात्र यति या योगी है, जगत के जितने साधक हैं, सिद्ध है, पैगम्बर हैं वे एक की ही पूजा करते हैं। उसके नाम अनन्त है, अपरम्पार हैं उसके स्वरूप।"[2] यही कबीरदास के भगवान हैं जो राम हैं। ये राम "समस्त वेदों से अतीत, भेदो से अतीत, पाप और पुण्य से परे, ज्ञान और ध्यान का अविषय, स्थूल, और सूक्ष्म से विवर्जित, भेख और भीख के अगम्य, डिंब और रूप से अतीत, अनुपम त्रैलोक्य विलक्षण परम तत्व हैं।"[3]

कबीर अपने 'निर्गुण राम का मतलब केवल एक निषेधात्मक भाव नही लगाते। वास्तव में उनके निर्गुण राम सत्व, रज, तमोगुणों से परे हैं और

१—कबीर ग्रन्थावली—पदावली, पृष्ठ १६२।
२—वही पृष्ठ १६६।
३—कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ १६२, १६३।

इसी गुणातीत राम के रूप को वे निर्गुण राम मानते हैं। वे अपने निर्गुण का भाव यो समझाते हैं—

गंतौ धोखा कासूं कहिये।
गुण में निरगुण निरगुण मे गुण है, बाट छाड़ि क्यू बहिये॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणा जाई।
नाति सरूप वरण नही जाके, घटि-घटि रह्यो समाई॥
लण्ड ब्रलण्ड कथै सब कोई, बाके आदि अरु अन्त न होई।
प्यण्ड ब्रह्मण्ड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई॥"[1]

जिस ईश्वर का कोई रूप नही है, कोई रंग नही, जो अलख है, अगम्य है, वही ईश्वर घटघट में समाया हुआ है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि सब का रूप, रंग उसका रूप और रंग होगए। जब उसका कोई आदि और अन्त नही, अलस और अगम्य है, तब यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह पिण्ड और ब्रह्माण्ड से परे है, अगुण और सगुण से परे है। यही कबीर का राम है।

इस राम के स्वरूप का वर्णन इतने मे समाप्त हुआ नही। कबीर का ईश्वर न भाव-रूप है न अभाव-रूप है। फिर है क्या चीज ? वह 'भावाभाविनिर्मुक्त' है। इस भावाभाविनिर्मुक्त को न अद्वैत द्वारा समझा जा सकता है न द्वैत द्वारा। 'जिसको आत्म-दृष्टि प्राप्त है वही ठीक-ठीक देख पाता है। वह जानना एकमेक होकर जानना है, एकमेक अर्थात् प्रेम-प्रीति से भरे मनको परम प्रीति के एक मात्र आश्रय भगवान में लीन कर देना है। इसे ठीक ठीक कह कर समझाया नही जा सकता। यह पूर्ण की पूर्ण दृष्टि से पूर्ण को ही देखना है।"[2]

सारांश यह है कि कबीर का 'निर्गुण राम' त्रिगुणातीत है, द्वैताद्वैत विलक्षण है, भावाभावविनिर्मुक्त है, अलख, अगोचर, अगम्य है और है प्रेम-पारावार। इस प्रेमपारावार परमात्मा को प्रेम से पाया जा सकता है और उसकी प्राप्ति का सुख 'गूगेकेरी सरकरा' अर्थात् 'गूगे का गुड़' है।

कबीर ने सगुण अवतारों और मूर्ति पूजा को न मान कर सूफ़ियों के ढंग पर निर्गुण और निराकार राम से प्रेम किया है।

लेकिन कबीर की मधुर-भक्ति पूर्णतया अभारतीय नही कही जा सकती है, क्योंकि सूफी कवियों ने परमात्मा को प्रियतमा मान कर अपनी प्रेम-पीड़ा

१—कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ १४६। पद १८०।
२—कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ १४६, पद १८१।

की अभिव्यक्ति की है। कबीर ने अपने राम को प्रियतम समझ कर ही भक्ति की है जो भारतीय भक्ति-साधना के अनुकूल ही है। किंतु राम को प्रियतम के रूप मे चित्रित करने की पद्धति भारतीय भक्ति-साधना के लिए नयी बात ही कही जायगी। वैष्णव भक्तों ने कृष्ण के चरित्र को लेकर मधुर-भक्ति की पद्धति अवश्य चलायी थी, पर राम-चरित्र को लेकर नही। कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के प्रपत्तिवाद का मेल करके अपनी प्रेम-साधना चलायी है जो अनुपम ही है। कबीर ने अपने निर्गुण राम में जिस प्रियतम की कल्पना की है उसकी झलक नीचे पद में मिल जाती है—

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥
हरि मेरा पीव मै हरि की बहुरिया,
राय बडे मै छुटक लहुरिया॥
किया स्यगांर मिलन के ताई,
काहे न मिलौ राजा राँम गुसांई॥
अब की बेर मिलन जो पाऊँ,
कहै कबीर भौ–जलि नहीं आऊँ॥११७॥

कबीर के राम 'आतमराम' हैं। आत्मा और परमात्मा कबीर की दृष्टि में एक ही हैं, इसलिए उन्होंने अपने राम को आतमराम कहा है। "कौन विचार करत हो पूजा। आतमराम अवर नहिं दूजा॥" "आपा पर समि चीन्हिये, तब मिलै आतमा राम॥" "क्या हैव तेरे न्हाई धोई। आतमराम न चीन्हा सोई॥" इस प्रकार कबीर ने अपने राम में आत्मा और राम की एकता ही देखी है।

कबीर की भक्ति मुख्यतः दास्य और कांता-भाव की है। उनकी भक्ति में उन बहुत-सी बातों का समावेश हुआ है जिनका वर्णन नारद भक्ति सूत्र में किया गया है। कबीर जातपाँत का भेद नही मानते। वे अहिंसा, सत्य, दया, आंतरिक शौच, आस्तिक्य आदि पर जोर देते हैं।[१]

१—नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुलधन क्रियादि भेदः॥७२॥
अहिंसा सत्य शौच दया आस्तिक्यादि चारित्र्याणि परिपालनीयानि॥७८॥
त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यकांता भजनात्मकं प्रेम कार्य प्रेमैव कार्यम्॥६६॥
—ना० भ० सूत्र

यद्यपि कबीर ने जपतप, तीर्थस्थान, मूर्तिपूजा का बराबर खण्डन किया है तो भी राम नाम का जप, स्मरण, ध्यान करने को कहा है, क्योंकि भव-सागर को पार करने के लिए राम-नाम ही आधार है। वे कहते हैं--

मन रे राम सुमिरि, राम सुमिरि, राम सुमिरि भाई।
राम नाम सुमिरन बिना बूडत है अधिकाई ॥

इस प्रकार कबीर की भक्ति-साधना में वे बहुत-सी बातें आपसे आप आ जाती हैं जो सगुण भक्ति-साधना मे अत्यन्त आवश्यक मानी जाती हैं।

सगुण-परम्परा के साथ रामभक्ति का वर्णन तथा अभ्युदय--

यद्यपि कबीर को स्वामी रामानन्द के महान् व्यक्तित्व के निकट सम्पर्क मे आने का सौभाग्य मिला था तो भी उन्हे रामानन्द के सच्चे प्रतिनिधि नही मान सकते, क्योंकि उन्होने रामानन्द के द्वारा प्रतिपादित भक्ति-पद्धति को उसी रूप मे ग्रहण नही किया जिस रूप मे रामानन्द ने प्रस्तुत किया था। वस्तुत: कबीर आंशिक रूप मे ही रामानन्द के शिष्य कहे जा सकते है। भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी को ही सच्चे अर्थ मे स्वामी रामानन्दजी के प्रतिनिधि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तुलसीदास जी संस्कृत और भाषा के मर्मज्ञ थे, नाना पुराण, निगमागम आदि के प्रकाण्ड विद्वान थे, पहुँचे हुए ज्ञानी और भक्त थे। साथ ही उनके पास कवि हृदय था। इसलिए, न केवल वे रामानन्द की भक्ति-साधना को उसके मूल रूप मे ग्रहण कर सके बल्कि रामानंद के असाधारण व्यक्ति के निर्माण मे जिस सस्कार और संस्कृति का योग था उसको भी भली-भाँति हृदयंगम कर सके। "यद्यपि स्वामी रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा के द्वारा देश के बडे भाग मे रामभक्ति की पुष्टि निरन्तर होती जा रही थी और भक्त लोग फुटकल पदों में राम की महिमा गाते आ रहे थे, पर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे इस भक्ति का परमोज्ज्वल प्रकाश विक्रम की १७ वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे गोस्वामी जी की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने भाषा-काव्य की सारी प्रचलित पद्धतियों के बीच अपना चमत्कार दिखाया। सारांश यह है कि राम भक्ति का वह परम विशद साहित्यिक संदर्भ इन्ही भक्त-शिरोमणि द्वारा संघठित हुआ जिससे हिन्दी काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरम्भ हुआ।"[१]

रामानन्द के सभी शिष्यों ने, चाहे वे निर्गुण-मार्गी हों चाहें सगुण-

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १२५।

मार्गी, 'रामनाम' को अपना महामंत्र माना है। लेकिन 'राम' शब्द के अर्थ के बारे में दोनों का मत अलग-अलग है। यदि कबीरदास ने कहा है कि 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। रामनाम को मरम है आना' तो तुलसीदास जी ने मानो उसी का उत्तर यों दिया है :—

'जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धराहि मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ सुत भगत हित, कौसल पति भगवान॥'[१]

निर्गुणमार्गी अवतारवाद पर विश्वास नही रखते, किंतु सगुणमार्गी अपनी भक्ति-साधना मे अवतारवाद को बहुत महत्व देते है। तुलसीदास जी ने अपनी रचनाओ मे जगह-जगह परमात्मा के अवतार का वर्णन किया है। तुलसीदास जी यह भली भाति जानते हे कि उनके राम परम ब्रह्म है, निरंजन है, निर्गुण है, आदि-अन्तरहित है, जिन्हे वेद नेति-नेति कह कर निरूपित करते है, तो भी यह मानते है कि वे भक्तों का हित करने के लिए जगत में नर रूप धारण करते है :—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहि वेदा॥

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहि जग जाल॥[२]

सगुणोपासना मे ब्रह्म के दोनो रूप—सगुण और निर्गुण स्वीकार किए गए है, क्योकि निर्गुण और सगुण मे कोई अन्तर ही नही है। निर्गुण ब्रह्म ही भक्त के प्रेम के कारण सगुण हो जाते है। तुलसीदास इस सम्बन्ध मे अपने विचार यो प्रकट करते है :—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहि मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे।
जलु हिम उपल विलग नही जैसे।[३]

१—रामचरित मानस—बालकाण्ड, २१८।
२—रामचरित मानस—अयोध्याकाण्ड, दोहा ९३।
३—रामचरित मानस—बालकाण्ड, ११६।

जिस प्रकार जल और हिमखण्ड अलग-अलग नहीं हैं, दोनों में एक ही वस्तु जल वर्तमान है उसी प्रकार सगुण और निर्गुण में कोई अन्तर नही है। तुलसी का मत है कि ब्रह्म के सगुण रूप की अपेक्षा निर्गुण रूप को समझना सरल है, क्योंकि राम की सगुण लीला की महिमा अद्भुत-अपरम्पार है। जो उसे समझ कर आनन्द पाते है वे इने-गिने ही है। जो बुद्धिहीन है उसे देख कर मोह-मुग्ध हो जाते है।

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहि कोई।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होई॥[1]

इसलिए जो लोग इस सगुण लीला को समझ लेते है उनके लिए निर्गुण रूप को समझने मे कोई कठिनाई नही है।

जिस प्रकार तुलसीदास ने निर्गुण और सगुण मे सामंजस्य स्थापित किया है उसी प्रकार ज्ञान और भक्ति मे समन्वय उपस्थित किया है।

'ज्ञानहिं भगतहि नहि कछु भेदा। उभय हरहि भव सभव खेदा।'

इतना ही नही, ज्ञान और अज्ञान, अंधकार और प्रकाश, निर्गुण और सगुण एक दूसरे से निरपेक्ष नही है, पर सापेक्ष है। तुलसीदास जी ललकार कर कहते है कि इस तत्व का कोई प्रत्याख्यान कर दे तो मै उसका शिष्य बन जाऊंगा :—

ग्यान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहे प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥

तुलसीदास की भक्ति-साधना की सबसे बड़ी विशेषता उनकी समन्वय बुद्धि ही है। "उन्हे लोक और शास्त्र दोनों का बहुत व्यापक ज्ञान था। उनके काव्य ग्रंथों में जहाँ लोक-विधियो के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण मिलता है, वही शास्त्र के गम्भीर अध्ययन का भी परिचय मिलता है। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हे अभूतपूर्व सफलता दी थी। उसमे केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नही है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिंतन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पण्डित अपण्डित का समन्वय रामचरित मानस के आदि से अन्त तक दो छोरों पर

१—रामचरित मानस—उत्तरकाण्ड, दोहा ७३।

जाने वाली पराकोटियों को मिलाने का प्रयत्न है। इस महान समन्वय का आधार उन्होंने रामचरितमानस को चुना है।"[१]

जिस समय गोस्वामी जी का आविर्भाव हुआ उस समय देश की सामाजिक, धार्मिक स्थिति मे बड़ी अस्थिरता और अव्यवस्था थी। वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुलाचार, वेदविहित कर्म, शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञान आदि का जोरों से विरोध हो रहा था। तुलसीदास युगस्रष्टा और युगद्रष्टा थे। उन्होंने बड़ी ही योग्यता के साथ परिस्थिति को संभाला। मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के आदर्श चरित्र के भीतर धर्म के सब रूपो को दिखाकर भक्ति-साधना को प्रशस्त किया। जहाँ उन्होने व्यक्तिगत-साधना के मार्ग मे वैराग्यपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश दिया वहाँ सामाजिक जीवन मे लोक-धर्म का ऊँचा आदर्श उपस्थित करके शक्ति, सौदर्य और शील की पूरी प्रतिष्ठा की। इसी उद्देश्य से उन्होने अपनी सर्वोत्तम रचना रामचरितमानस मे आदर्श समाज का ऐसा भव्य चित्र खीचा जिसमे समाज के प्रत्येक व्यक्ति ने, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, राजा हो या रङ्क, दरिद्र हो या धनवान, अपने लिए पथ प्रदर्शन पाया। उन्होंने राम के चरित्र का जो प्रतीक लोक के सम्मुख रखा, भक्ति का जो प्रकृत आलम्बन खड़ा किया उसमे शील, सौदर्य और शक्ति तीनों विभूतियाँ प्रतिबिम्बित हुई। राम के शील का क्या ही मर्मस्पर्शी चित्र है जिसे देखकर ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो आप से आप आकर्षित नही होगा?—

सुनि सीतापति सील सुभाऊ।
मौन न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ।
सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरू सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम विदु वदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ।
खेलत संग अनुज बालक नित जुगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ।
सिला सॉप सन्ताप-विगत भइ परसत पावन पाउ।
दइ सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए को पछिताउ।
भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ।
छमि अपराध छमाइ पायँ परि इतौ न अनत समाउ।
कह्यौ राज वन दियो नारि-बस गरि गलान गयो राउ।

१—हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २३५।

ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ ।
कपि सेवा बस भए कनौडे, कह्यो पवन सुत साउ ।
दैबे को न कछू ऋनिया हों, धनिक तू पत्र लिखाउ ।
अपनाए सुग्रीव विभीषण तिन न तज्यो छल छाउ ।
भरत-सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ ।
निज करुना-करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ ।
सकृत प्रनाम सुनत जस बरनत सुनत कहत फिरिगाउ ।[१]

राम के चरित का ऐसा लोकोत्तर रूप अन्यत्र शायद ही देखने को मिले । जगत के अन्दर जितने सम्बन्ध होते है वे सब राम के साथ ही होने चाहिए क्योकि राम जैसे चरित्र ही योग्य है । इसीलिए वे कहते है :—

जाके प्रिय राम वैदेही ।
सो छाँड़िये कोटि वैरी सम जदपि परम सनेही ।।
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बन्धु भरत महतारी ।
बलि गुरू तज्यो, कत ब्रज-बनितनि, भए मुद मंगलकारी ।
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौ ।[२]

राम-भक्ति की अभिव्यक्ति और उसके प्रचार के लिए हिन्दी मे उच्च कोटि के विपुल साहित्य का निर्माण करने का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को ही मिलना चाहिये । तुलसीदास जी ने छोटे बडे लगभग बारह ग्रंथ रचे है जिनमे कृष्ण गीतावली ही एक ऐसी है जिसमे कृष्ण-भक्ति का वर्णन हुआ है । अन्य सभी कृतियो मे तुलसीदास जी ने रामनाम, राम-कथा, रामकथा-पोषक प्रसगो का नाना प्रकार से विस्तार किया है । इस एक मात्र काव्यवस्तु के चित्रण को ही मानो उन्होने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना है । उनकी दीर्घ साधना की चरम परिणति राम-चरित-मानस मे हुई है । इस काव्य में आरम्भ मे "नाना-पुराण-निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि । स्वात. सुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमात-नोति ।।" कहकर तुलसीदास ने स्वयं इस बात की ओर संकेत किया है कि इस रामायण में न केवल नाना पुराण, निगमआगम का निचोड़ प्रस्तुत किया गया है बल्कि और भी कुछ बातो का समावेश किया गया है । इतना ही नहीं, वर्ण, अर्थ और रस का भी इसमें पूर्ण परिपाक हुआ है । इस प्रकार

१—तुलसी ग्रन्थावली—भाग दो, पृ० ५०६ ।
२—तुलसी ग्रन्थावली (विनय पत्रिका), पृ० ५४५ ।

तुलसीदास की रचनाएँ न केवल राम-भक्ति की दृष्टि से महान है, अपितु काव्य-कला की दृष्टि से भी सर्वोत्कृष्ट हैं।

तुलसीदास के बाद भी रामभक्ति सम्बन्धी साहित्य का निर्माण हिन्दी में होता रहा। किन्तु किसी भी कवि में तुलसी जैसी न काव्य-कुशलता का परिचय मिलता है न अनन्य भक्ति का ही। तुलसीदास के परवर्ती रामभक्त कवियों में केशवदास (सन् १५५५), स्वामी अग्रदास (सन् १५७५), कृष्णदास पयहारी (सन् १५७७), नाभादास (सन् १६००), प्रियादास, प्राणचन्द चौहान, उदयराम आदि के नाम उल्लेखनीय है। केशवदास जी हिन्दी साहित्य के सर्व-श्रेष्ठ कवियों मे गिने जाते है। इनका रामकाव्य "रामचन्द्रिका" बहुत प्रसिद्ध है। इसमे राम-भक्ति की व्यंजना की अपेक्षा पाण्डित्य और काव्य-कौशल प्रदर्शन की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। एक प्रकार से छद और अलकार ही इस काव्य का प्रतिपादन विषय हो गया है। नाभादास ने छप्पय छद मे 'भक्तमाल' नामक ग्रथ रचा है किसमे दो सौ भक्तो के चरितो का वर्णन किया गया है। केशवदास और नाभादास दोनो तुलसीदास के समकालीन थे। प्रियादास की 'भक्तमाल की टीका', हृदयराम का 'हनुमान्नाटक' और प्राणचंद चौहान का रामायण 'महानाटक' आदि रचनाओ द्वारा रामकाव्य की परम्परा चलती रही। गोस्वामी तुलसीदास के अत्यन्त लोकप्रिय और प्रभावशाली साहित्य के आगे परवर्ती काल के सभी ग्रथ फीके ही कहे जायेगे।

चूँकि राम-भक्ति-शाखा के कवियो ने व्यक्ति-कल्याण और लोक-कल्याण के समन्वय का ऊँचा आदर्श सदा अपने सामने रखा, इसलिए उनका साहित्य सामाजिक मर्यादा के लक्षण का साहित्य ही कहा जायगा। इस साहित्य में वैधी-भक्ति का रूप अधिक और रागानुगा-भक्ति का कम प्रकट हुआ। वैसे तो शाता-भाव, दास्य-भाव, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य-भाव, सबकी न्यूनाधिक रूप में अभिव्यंजना हुई है। लेकिन सर्वत्र दास्यभाव पर जोर दिया गया है। दास्य-भाव के अन्तर्गत आत्मदोषप्रकाशन, विनय, याचना, दीनता, आत्म समर्पण, भगवान की सर्वसामर्थ्य पर निर्भर रहना आदि जितने भाव है उनका गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कृतियो मे बड़ा ही हृदयहारी वर्णन किया है। उनकी कृतियो का ध्यान से अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दास्य-भक्ति ही उनकी साधना का मेरुदण्ड है। वे इसी को अपना सिद्धान्त घोषित भी करते है। एक प्रसंग पर वे कहते है कि सेव्य-सेवक भाव बिना भवसागर पार नहीं किया जा सकता है। इसलिए रामचन्द्र के चरण-कमलों को भजो, यही सिद्धान्त है। राम स्वयं काग को अपना सिद्धान्त सुनाते हुए कहते हैं—

"अब मैं अपना सिद्धान्त सुनाऊँगा, मन लगा कर और सब कुछ तज कर मुझको भजो। मेरी माया से सारा जगत और चराचर जीव पैदा हुए हैं। वे सब मुझे प्रिय है जिनको मैंने बनाया है। सबसे बढ़कर मनुज मुझे प्रिय लगते है। उनमें से द्विज, द्विज से वेदज्ञानी, उनसे निगमधर्म का पालन करने वाले, उनसे भी विरक्त, उनसे भी ज्ञानी, उनसे भी विज्ञानी, उनसे भी मुझे अपने दास प्रिय लगते है। क्योंकि उनको मेरी गति छोड़ कर दूसरी कोई आशा नही। मै बारम्बार कहता हूँ कि मुझे सेवक के समान दूसरा कोई प्रिय नही लगता।"[१] 'विनयपत्रिका' मे तुलसी ने अपनी सेव्य-सेवक भाव की भक्ति का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन किया है। राम के साथ अपनी तुलना करते हुए वे कहते है :—

राम सो बड़ो है कोन, मोसो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मो सो कौन खोटो॥

सारी विनयपत्रिका का विषय ही राम की बड़ाई और तुलसी की छोटाई है। तुलसी की रचना में दास्य-भाव जिस उत्कर्ष को पहुँचा है उस उत्कर्ष को किसी अन्य हिन्दी भक्त-कवि की रचना मे नही पहुंचा है।

सूफीमत और उसका प्रेम प्रधान-भक्ति-भाव

यद्यपि पश्चिमीय देशो मे सूफ़ीमत का स्रोत इस्लाम मत से भी प्राचीन साधनाओं मे पाया जाना बताया जाता है तो भी साधारण रूप से जिसको सूफीमत कहा जाता है उसका आधार 'कुरान' ही है। इस सूफ़ी मत के विकास की कहानी काफ़ी लम्बी और रोचक है।

इस्लाम के मूल रूप मे जिस ईश्वर की कल्पना की गयी थी वह एक प्रतापी तथा कठोर न्यायशील स्वेच्छाचारी प्रभु की कल्पना थी। इस ईश्वर के सम्मुख तर्क कोई चीज नही थी, न मानवीय बुद्धि का उसके सामने कोई ज़ोर चल सकता था। अल्ला शब्द का अर्थ ही शक्ति-सम्पन्न पुरुष होता है। इस्लाम में ईश्वर के उन गुणो को प्रधानता दी गई थी जिनमें प्रेम का कम और भय का अंश अधिक था। इस्लाम की धार्मिक चेतना का रूप यह था कि ईश्वर बहुत समीप से सब कुछ देखता है और उसकी थोड़ी सी अवज्ञा हुई तो इसका परिणाम भयकर हो सकता है। अतः मनुष्य के लिए यह उचित

१—रामचरित मानस— उत्तरकाण्ड, पृ० ५३७, ५३८।

है कि वह ईश्वर की कृपा और इच्छा पर आँख मूँद कर निर्भर रहे। परमात्मा की दया के सामने सम्पूर्णतया झुके रहने का भाव इस्लाम की एक बड़ी विशेषता है। मनुष्य और ईश्वर के बीच का यह सम्बन्ध आतंक का सम्बन्ध था। बन्दा खुदा की ओर आँख उठा कर देख नहीं सकता था। हज़रत मुहम्मद ने ईश्वर और मनुष्य के बीच मे जैसा कठोरता का सम्बन्ध स्थापित किया था वह बहुत दिन तक टिका नही रह सकता था, क्योकि स्वभावतः मनुष्य का हृदय प्रेम का भूखा रहता है। आदमी की इच्छा होती है कि उसका भगवान भी उससे प्रेम करे और उसे अपने साथ हँसने बोलने खेलने-कूदने की आजादी दे। इसी भाव-धारा ने आगे चल कर इस्लाम के अन्दर एक निश्चित सम्प्रदाय का रूप धारण किया जिसका नाम सूफ़ीमत अथवा तसव्वुफ़ पड़ा।

सूफी शब्द का अर्थ

सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानो का एक मत नही है। कुछ लोगो का विचार है कि मदीना मे मस्जिद के सामने जो एक सुफ़ाफा (चबूतरा) रखा रहता था उस पर बैठने वाले फ़कीर सूफी कहलाए। दूसरे कुछ लोगो की यह धारणा है कि सूफी शब्द 'सफ़' यानी पंक्ति से निकला है। क़यामत के दिन अपने सदाचार एवं चरित्र के कारण औरो से जो लोग अलग पक्ति मे खड़े किए जाते थे वे आगे चलकर सूफी हुए। तीसरे कुछ लोग यह मानते है कि सूफी वे है जो सदा स्वच्छ और पवित्र रहते है। क्योकि सफ़ा का अर्थ है साफ़। और कुछ लोगों के अनुसार सूफ़ी शब्द ग्रीक भाषा के 'सोफिया' यानी ज्ञान का रूपान्तर मात्र है। जो ज्ञानी थे वे सूफी कहलाए। बहुतेरे विद्वानो का कहना है कि सूफ़ी शब्द 'सूफ' अर्थात् ऊन से बना है। जो लोग ऊनी कम्बल ओढ़ कर घूमा करते थे और अपने मत का प्रचार किया करते थे वे सूफ़धारी आगे चलकर सूफी के नाम से विख्यात हुए। सूफी शब्द का यही अर्थ मुसलिम सन्तों के लिए सर्वमान्य है। सूफ़ियों का दर्शन तसव्वुफ भी कहलाता है।

सूफीमत का क्रमिक विकास

हज़रत मुहम्मद साहब ने अरबवासियों के प्राचीन धार्मिक विश्वासों में जो पारस्परिक मतभेद था उसे दूर करने के लिए इस्लाम धर्म की स्थापना की थी। वे पूरे एकेश्वरवादी थे और ईश्वर के विश्व नियंतृत्व एवं न्यायशीलता में पूरा विश्वास रखते थे। उनके सामने जब कोई कठिन समस्या आ जाती थी तब वे खुदा की इबादत करने के लिए बैठ जाते और उससे दुआएँ माँगते

और उससे उपलब्ध आश्वासन की कल्पना करके बहुधा गद्गद होकर लेट जाते, जब उठते तब उनके मुख से अनेक वाक्य आपसे आप निकलने लगते। इन्हे ईश्वर प्रेरित मानकर महत्व दिया जाने लगा। यही 'कुरान' है। मुहम्मद ने ईश्वरोपासना की एक प्रणाली भी निश्चित की थी। कुरान में प्रतिपादित धर्म का नाम 'अल् इस्लाम' कहलाया जिसका अर्थ है किसी बात को मान लेना और आज्ञा का पालन करना। कुरान-शरीफ में बतलायी साधनाये इस प्रकार है :—

(१) **शरीअत**—यह शास्त्र समस्त वैधमार्ग है जो कर्ममार्ग से मिलता-जुलता है। इसमे साधक पश्चाताप करता है, आगे ईश्वर आज्ञा का पालन करने के लिए कटिबद्ध होता है।

(२) **तरीकत**—इसमे बाह्य क्रिया-कलाप से मुक्त होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान का ध्यान किया जाता है।

(३) **हकीकत**—यह भारतीय ज्ञान-मार्ग से मिलता जुलता है। मुहम्मद साहब ने जो उपदेश दिया था और धर्मसाधना के जो नियम बनाए थे उसमें खुदा मालिक और इन्सान बन्दा था। इस व्यवस्था में दास्य-भाव ही प्रधान था। यद्यपि सूफी विचारक मुसलमान थे तो भी वे उपर्युक्त साधना से तृप्त नही हुए। सूफियो ने एक-दम आगे बढ कर अपना रास्ता अलग बनाया। उन्होने अपनी साधना को 'मार्फत' कहा जिसमें इस्लाम-विहित बातो के अतिरिक्त उस मादन-भाव का रंग चढाया जो शामी जाति की एक विशेषता थी और जिसे उन्होंने अन्य जातियो के तदनुकूल सिद्धान्तो की सहायता से शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम का रूप दिया था। सूफ़ियो ने मुहम्मद का दास्यभाव हटा कर उसकी जगह पर प्रेम और रति को स्थान दिया। खुदा को पूर्ण सौन्दर्य और उसके बन्दे को उस सौन्दर्य का पुजारी बना दिया। इस कारण से कट्टर मुसलमानो और कर्मकाण्डी नबियों के विरोध का उन्हें सामना करना पड़ा। लेकिन इस विरोध से सूफ़ियो की शक्ति घटी नही, बहुत बढ़ी। अपने मत का खूब प्रचार और संगठन करने मे वे समर्थ हुए। हज़रत मुहम्मद के बाद खलीफाओं का युग आया। सर्व-प्रथम चार खलीफ़ा हुए—अबूबकर, उमर, उसमान और अली। ये बड़े उदार, अत्यधिक धार्मिक व सदाचारी आदर्श व्यक्ति थे। कहा जाता है कि उपर्युक्त खलीफा सूफ़ियों के विचार-दर्शन से न्यूनाधिक रूप से प्रभावित थे, अतः उनके ज़माने में सूफ़ियों की विचार-धारा के विकास मे विशेष बाधा उपस्थित नही हुई। लेकिन बाद के खलीफाओं की मनोवृत्ति घोर साम्प्रदायिक होती गयी और रोज़ा, नमाज़ ही धर्म का सर्वस्व

माना गया। शेखों और उलेमाओं ने इस्लाम धर्म को कठोर आचार-प्रधान धर्म बना दिया और इस क्रिया-प्रधानता के वातावरण में भावना का दम घुटता गया। जो कोई इसका विरोध करता था उसका शिर उड़ा दिया जाने लगा। इस कार्य को ज़िहाद कहा गया। शेखों और उलेमाओं के दमन का शिकार मन्सूर जैसे प्रसिद्ध सूफी को भी होना पड़ा। लेकिन जब इस दमन की प्रतिक्रिया तीव्र हुई, तब सूफी-साधना तथा परम्परावादियों की साधना में सामंजस्य खोजने का प्रयत्न करना पड़ा। यह कार्य हमाम गज्जाली ने किया और इस प्रकार सदा के लिए सूफी मत को कुरान के अनुकूल सिद्ध कर दिया गया। नमाज को प्रार्थना के रूप में सूफ़ियों ने स्वीकार किया और सूफियों का दर्शन परम्परावादियों का भी दर्शन (तसव्वुफ़) हो गया। सूफीमत के विकास के तीन सोपान बताए जाते है।

प्रथम सोपान के सूफ़ियों में साकिक, अयाज़, रबिया आदि साधक सुप्रसिद्ध है। रबिया (मृ० ८०९) ईश्वर के प्रति मधुर भाव रखती थी और उन्मत्त प्रेम में ही रो रो कर प्रार्थना किया करती थी। ईश्वर से एकान्त-मिलन के आनन्द मे वह बहुधा बेहोश हो जाया करती थी। इस प्रथम सोपान का युग मुहम्मद के पूर्व ही आरम्भ हुआ था और रबिया मुहम्मद के समकालीन थी। रबिया अपने को परमेश्वर की पत्नी समझती थी और उसका हृदय सदा माधुर्य-भाव से ओतप्रोत रहता था। वह अपने काल्पनिक पति के विरह को क्षण भर के लिए भी सह नही सकती थी। इस समय सूफ़ियो का मत केवल अनुभूति-प्रधान पन्थ था, उसमे दार्शनिकता का समावेश हो नही पाया था।

सूफ़ीमत के विकास में द्वितीय सोपान महत्वपूर्ण था। इस समय यूनानी तथा भारतीय दार्शनिक विचार-धाराओं से इस्लाम प्रभावित हो गया था। अतः नियोप्लेटोइज्म, भारतीय वेदान्त तथा बौद्ध-सिद्धान्तों का प्रभाव सूफ़ी-मत पर भी पड़ा और उसमे दार्शनिकता का पूरा विकास हो गया। जीव और ब्रह्म की एकता, संसार की असारता तथा मायावाद आदि सिद्धान्तों को स्वीकृति मिली। सुप्रसिद्ध सूफ़ी सन्त मन्सूर ने जीव और ब्रह्म की एकता घोषित की जिसके फलस्वरूप वह सूली पर चढ़ा दिया गया। कर्की दारानी ने संसार-त्याग, भावावेश, कर्मत्याग, ईश्वर-प्रेम और आत्मसमर्पण का उपदेश दिया। 'जुनैद' ने निर्वाण (फ़ना) का प्रचार किया। जहाँ एक ओर कर्मकाण्डियों के अधिकार का दंभ था और घोर विलासिता थी वहाँ दूसरी ओर सूफ़ियों द्वारा प्रेम और त्याग का प्रचार हुआ। इन सं गुरु का स्थान

सब से बड़ा हो गया। सूफ़ियों में शान्ति का जो सिद्धान्त चला, आगे चलकर सूफी मत को उसने सर्ववाद में परिवर्तित किया।

तृतीय सोपान के समय में सूफीमत में दो प्रधान विचार-धाराएँ दिखायी पड़ी। एक थी कुरानवादी कर्म-काण्ड-प्रधान विचार-धारा जिसमें शेख, उलेमा आदि थे। उनका सिद्धान्त था—ईश्वर एक है, सर्व शक्तिमान, सृष्टिकर्ता, सब का स्वामी है। वह व्यक्त है, अव्यक्त है, कल्पनातीत है। संसार ईश्वर का प्रसाद है जो मिथ्या नहीं है। जीवात्मा (रूह) अनुपम, शाश्वत, और विशुद्ध है। मृत्यु के बाद वह सुख और दुख का अनुभव करती है। जीव ब्रह्म नहीं हो सकता। वह सेवक है और ईश्वर स्वामी।

दूसरी विचार-धारा वह थी जिसमें जीव और ईश्वर की तात्विक एकता मानी गयी थी। इसके अतिरिक्त ईश्वर की सर्वव्यापकता, जगत मे ईश्वर के सौन्दर्य की सर्वत्र झलक देखने की प्रवृत्ति, बाह्य क्रियाओं के स्थान पर अनुराग, भगवान से मिलने की तीव्र विरहाकुलता, मिलनावस्था मे असाधारण भावावेश और तन्मयता आदि भाव भी इस चिंतन-पद्धति में पाये गए। ऐसी परिस्थिति मे गजाली ने सूफीमत को संम्हाला और सनातन पन्थियो तथा सूफ़ीमत के बीच मे सामजस्य की भावना स्थापित की। इस समझौते के उपरान्त यद्यपि पारस्परिक कटुता के भाव कुछ हद तक कम हुए तो भी सूफ़ीकाव्य मे सनातनियो के प्रति विरोधात्मक अभिव्यक्ति सदा होती रही। सूफ़ी कवि अपने प्रेम, विरह, बेहोशी तथा मिलन की पीड़ा के सामने सनातनियो की धार्मिक भावना की बराबर अवहेलना करते रहे। सूफ़ियों में गजाली के उपरान्त लगभग बारह संप्रदाय प्रचलित हुए जिनमें से कुछ सनातनियों से स्वीकृत हुए। इसके बाद दो प्रसिद्ध सूफ़ी हुए—सुहरावर्दी और मुहीउद्दीन इब्न अरबी जिन्होंने सूफ़ी मत का फिर से संगठन किया। सूफ़ी मत के दर्शन का निरूपण करने वाले ग्रंथो मे सुहरावर्दी का लिखा 'अवारि कुल मारूफ' नामक ग्रंथ विशिष्ट स्थान रखता है। सूफ़ी मत का प्रतिपादन और प्रसार करने वाले फ़ारसी कवियो मे उमर खयाम (मृ० सन् ११२३), निज़ामी (सन् १२०३), रूमी (सन् १२७३), सादी (सन् १२८२), हाफिज (सन् १३९०), जामी (सन् १४९२) आदि के नाम उल्लेखनीय है।

सूफीमत की प्रेम-साधना

सूफ़ी साधक केवल परमात्मा का अस्तित्व मानते हैं जो जगत की प्रत्येक वस्तु में वास करता है और प्रत्येक वस्तु परमात्मा में स्थित है। जगत की

सभी चीजें परमात्मा से निकली है। जगत में हम जो कुछ देखते है वह एक ही सत्ता का विस्तार है। प्रकृति के सब रूप उस एक ही सत्य के विभिन्न पहलू है। जगत की सब वस्तुएं जो उस एक ही सत्ता से निकली है, उसी में लौटकर मिल जाने के लिए बेकरार है। सत्य का ज्ञान बुद्धि द्वारा उतनी आसानी से नही हो सकता जितनी आसानी से भावना और अनुभूति द्वारा हो सकता है। क्योकि बुद्धि वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए तर्क का सहारा लेती है और तर्क का विश्वास नही किया जा सकता। मनुष्य-जीवन का मुख्य उद्देश्य धार्मिक अनुभूतियों द्वारा अन्तिम सत्य का साक्षात्कार करना है और उसी मे मिल जाना है। यह धार्मिक अनुभूति प्रेम है और इस प्रेम के भीतर स्वाभाविक रूप से सत्य का ज्ञान विद्यमान है। प्रेम के बिना धर्म, नीति, सदाचार सत्वहीन और नीरस है। प्रेम के प्रकाश के बिना बुद्धि अन्धकार मे भटकती रहती है। मनुष्य का आत्मा-रूपी-पक्षी शरीर-रूपी पिजड़े मे बन्द है और इस पिजड़े के टूटे बगैर वह स्वाधीन होकर परमात्मा को प्राप्त नही कर सकता। मनुष्य के सारे संकल्पो की प्रेरणा परमात्मा से मिलती है। अतः वह स्वतन्त्र नही है। पुण्य और पाप मे किसी प्रकार का अन्तर नही है, क्योकि दोनो की परमात्मा द्वारा सृष्टि हुई है। सब धर्म व्यर्थ है अगर उनके द्वारा एक ही सत्य की प्राप्ति मे सहायता नही मिलती हो। सब धर्मो में इस्लाम श्रेष्ठ है, क्योकि उसका दर्शन सूफ़ी मत है। ध्यान और समाधि, प्रार्थना और नाम-स्मरण द्वारा प्रत्येक सूफ़ी साधक को परमात्मा के मिलन की राह पर अग्रसर होना चाहिए। यही सूफ़ी साधना का सार है।

सूफ़ी मत के अनुसार ईश्वर निराकार भी है और साकार भी। इस दृष्टि से सूफ़ी मत रामानुज के विशिष्टाद्वैत से मिलता जुलता है। प्रायः सूफ़ी साधक ईश्वर की कल्पना परम सुन्दरी नारी के रूप मे करता है जिस पर वह आसक्त होना चाहता है। परमेश्वर साकार सौन्दर्य है और साधक साकार प्रेम। सूफ़ियो मे कुछ स्त्री-साधिकाएं भी हुई है जो परमात्मा को पति और अपने को पत्नी माना करती थी। बसरे की रबिया का नाम सूफ़ी मत के इतिहास मे बहुत प्रसिद्ध ही है।

सूफ़ियों का यह विश्वास है कि सौन्दर्य से प्रेम मिलता है और प्रेम से मुक्ति प्राप्त होती है। इस प्रेम की सिद्धि के लिए वैराग्य, त्याग और यतिवृत्ति की आवश्यकता है। सौन्दर्य और प्रेम के साथ-साथ सूफ़ियों ने अपनी साधना में संगीत को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, क्योंकि मन में स्थिरता लाने की उसमें अद्भुत शक्ति है जिससे समाधि की अवस्था को प्राप्त होने में सुगमता होती है।

हिन्दू धर्म मे जिस सत्य रूप पर ब्रह्म को 'परम' कहा जाता है उसी को सूफी 'मुतलक' कहते है। इस ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ है वह मिथ्या है, माया है। ब्रह्म 'बातिन' यानी अव्यक्त है और 'जाहिर' यानी व्यक्त भी। वह 'मुहीन' यानी सर्वव्यापी है और 'सारी' अर्थात् अंतर्यामी है। इस तत्व को समझ कर 'मार्फ़त' अर्थात् अद्वैत-भावना का अभ्यास करने से अंत में 'सोहमस्मि' अर्थात् "मै वही हूँ" की स्थिति की प्राप्ति होती है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए चार मन्जिले बतायी गयी है—(१) 'नासूत' यानी जाग्रतावस्था (२) 'मलकूत' यानी स्वप्न (३) 'जबरूत' यानी सुषुप्ति और (४) 'लाहूत' यानी तुरीयावस्था। अन्तिम अवस्था मे 'मै' और 'तू' का भेद सदा के लिए मिट जाता है। कहा जाता है कि जब मन्सूर सूली पर चढ़ाया गया था तब उसे यही दशा प्राप्त हुई थी और तब वह 'अन-अल-हक' पुकार उठा था।

सूफ़ी मत मे गुरु को बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है, क्योंकि 'वस्ल' यानी मिलन या 'फना' के लिए गुरु मार्गदर्शक और सहायक बनता है। इसलिए गुरु-पूजा सूफी-साधना का एक अभिन्न अग है।

भारतवर्ष मे सूफ़ी मत का आगमन और प्रचार

सन् आठवीं शताब्दी से सन् चौदहवीं शताब्दी तक का काल भारतवर्ष के इतिहास मे सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्रान्ति का युग था। भारत पर मुसलमानो का सर्व-प्रथम आक्रमण सन् ७०२ मे हुआ। कहते है कि सूफी फ़कीर इस आक्रमण के पहले ही अरब-निवासी व्यापारियों के साथ दक्षिण भारत तथा सिन्ध मे आने लगे थे और उसी समय से भारत में सूफ़ी मत का कुछ न कुछ प्रचार हो चला था। लेकिन उसका असली प्रचार अबुल हसन हुज हुज्विरी (मृ० सन् १०७२) की लिखी प्रसिद्ध पुस्तक 'कश्फुल महबूब' (निरावृत्त रहस्य) द्वारा हुआ। अबुल हसन हुज हुज्विरी अफगानिस्तान देश के गजनी नगर के निवासी एक उच्चकोटि के फ़कीर थे। इनका व्यक्तित्व इतना ऊँचा और प्रभावशाली था कि ये 'हज़रत दाता गंज' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके पश्चात् भारत में कितने ही प्रसिद्ध सूफ़ी हुए जिनमें बाबा फखरुद्दीन (मृ० सन् ११६८) सूफ़ी सैय्यद मुहम्मद बंदा निवाज गेसूदराज (सन् १३१८-१४२१) के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतवर्ष में सूफ़ी मत की कई उपशाखाएँ प्रचलित हुईं जिनमें चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध है—चिश्तिया, सुहर्वर्दिया, कादिरिया और नक्शबन्दिया। इन चारों का भारत के जीवन

पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है। चिश्तिया सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा अब्दुल्ला चिश्ती (मृ० सन् १०६६) थे। कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय के भारत मे सर्व-प्रथम प्रचारक मुहनुद्दीन चिश्ती (सन् ११४२-१२३६) थे जो ईरान के निवासी थे और शाहबुद्दीन गोरी की सेना के साथ भारत आए थे। ये भी बहुत प्रसिद्ध हुए और इन्हे 'आफ़ताबे हिन्द' नामक पदवी दी गयी। इसी सम्प्रदाय के फरीदुद्दीन सूफी अपनी मधुर उपासना शैली के कारण 'शकर गंज' के नाम से विख्यात हुए। निजामुद्दीन, अमीर खुसरो और मलिक मुहम्मद जायसी इसी परम्परा के सूफी थे। दक्षिण भारत मे भी कुछ दूर तक इस सम्प्रदाय का प्रचार हो गया था। सुहर्वादिया शाखा के जन्मदाता जियाउद्दीन अबुल नजीब (सन् १०९७-११६८) थे जो बगदाद नगर के निवासी थे। भारत मे इस सम्प्रदाय का प्रचार सफलता के साथ करने का श्रेय मुल्तान के बहाउद्दीन जकारिया (सन् ११७०-१२६७) को दिया जाता है। इस सम्प्रदाय का प्रभाव बिहार, बगाल, हैदराबाद जैसे दूर के प्रदेशो पर भी पड़ा। उर्दू भाषा के प्रथम विख्यात कवि वलीउल्ला (सन् १६६८-१७४४) इसी सम्प्रदाय के बताए जाते है। कहा जाता है कि कादिरिया सम्प्रदाय के प्रथम प्रचारक बगदाद के निवासी शेख अब्दुल कादिर जीलानी (सन् १०७८-११६६) थे और भारत में सन् १४८२ में सैयद बशी मुहम्मद गौस ने इसका प्रचार किया था। शाहजादा दारा शिकोह भी इसी मत के अनुयायी थे। 'नकशबन्दिया' के प्रवर्तक ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द (मृ० सन् १३८९) थे जो तुर्किस्तान के रहने वाले थे। भारत में इस सम्प्रदाय को फैलाने वालो में ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह 'बेरंग' (मृ० सन् १६०५) और शेख अहमद फारूखी 'सरहिन्दी' (मृ० सन् १६२५) प्रमुख थे। इस सम्प्रदाय का प्रचार विशेष रूप से शिक्षित समाज मे ही हो सका।

उपर्युक्त सूफी सम्प्रदायो में पारस्परिक कोई विरोध नही था। गुरूओं और साधना की साधारण बातो मे सम्भवत कुछ भिन्नता थी जिससे आपस मे कोई सघर्ष नही होता था। इन सूफ़ी साधकों ने इस्लाम की तलवार के पीछे प्रेम मार्ग से भारत मे इस्लाम की जड़ मज़बूत करने मे योग दिया, क्योंकि इनके हृदय की शुद्धता, बाह्याचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति, त्यागमय सादा जीवन आदि का भारतीय जीवन पर गहरा और अमिट प्रभाव पड़ा। ये सूफ़ी सन्त हिन्दुओं से इस तरह हिल मिल गए कि पीर और मुर्शिदों की समाधियाँ भी हिन्दुओं के लिए पूजनीय हुई।

सूफी मत और हिन्दी का प्रेमाख्यानक काव्य

भारतीय संस्कृति की सदा से यही महानता रही है कि न केवल उसने अपनी तरफ से कुछ देकर बाहरी विचार-धाराओं को परिपुष्ट किया है बल्कि बाहरी विचार-धाराओं को आत्मसात् करके अपनी उदारता का परिचय दिया। सूफ़ी मत के बारे मे भी यह बात सच है। अब बहुतेरे विद्वानों ने सूफ़ी मत की व्युत्पत्ति और विकास की चर्चा करते हुए यह स्वीकार किया है कि उस पर हिन्दू विचार-धारा का प्रभाव आरम्भ से ही पड़ा है, क्योंकि अरब और भारत का पारस्परिक सम्बन्ध अतिप्राचीन है। "बौद्ध धर्म ने अशोक के राजत्व-काल मे भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को पार कर लिया था। महायान धर्म, जिसमें बुद्ध-धर्म ने भक्तियोग, दर्शनशास्त्र को बहुत कुछ अपना लिया था। ईसा की पाँचवी शताब्दी मे पश्चिमोत्तर भारत से बाहर कदम रख चुका था। फाहियान को खूटान मे उसके दर्शन हुए थे। सन् ७१२ मे अरबो ने सिन्ध-विजय की। अरब विजेता भारत से केवल लूट-पाट का माल ही नही ले गए, प्रत्युत भारतीय सस्कृति मे उन्हे जो कुछ सुन्दर और कल्याण कर मिला उसमे भी उन्होंने लाभ उठाया। भारतीय सस्कृति, भारतीय विज्ञान, भारतीय दर्शन, सब का उन्होने समादर किया और अरब को ले गए। इसी शताब्दी मे, अरब मे सूफीमत का उदय हुआ।

इस बात को सब विद्वान मानते है कि सूफी मत का दूसरा उत्थान, जिसका विकास फारस मे हुआ, अधिकाश में हिन्दू प्रभावों का परिणाम है। उनका अद्वैत-मूलक सर्वात्मवाद भारतीय दर्शन का है। नियोप्लेटौनिक सिद्धातों ने उनकी दार्शनिक तृषा को उभाड़ा अवश्य होगा, परन्तु उनके सिद्धान्तों के अध्ययन से जान पड़ता है कि उसकी शाति भारतीय सिद्धान्तों से ही हुई। जन्मांतरवाद, विरक्त जीवन, फरिश्तों के प्रति पूज्यभाव (बहुदेववाद) ये सब इस्लाम के विरुद्ध है और सूफ़ी सम्प्रदाय को बाहरी संसर्ग से प्राप्त हुए है। इनमें से विरक्त जीवन तथा फरिश्तापूजन में ईसाई प्रभाव मानना ठीक है परन्तु जन्मान्तरवाद स्पष्ट ही भारतीय है। उनका 'फ़ना' भी बौद्ध 'निर्वाण' का प्रतिरूप है। परन्तु बौद्ध निर्वाण की तरह साध्य न होकर वह 'मनमारण' के द्वारा द्वैत भावना का नाशकर 'बका' अथवा 'अपरोक्षानुभूति' का साधन है। प्रसिद्ध सूफ़ी फ़कीर बायजीद ने 'फ़ना' का सिद्धान्त अबू अली से सिन्ध में सीखा था। अबू अली को प्राणायाम की विधि भी मालूम थी जिसे वे 'पास-ए-अनफास' कहते थे। सूफ़ियों पर भारतीय संस्कृति का इतना प्रभाव पड़ा था कि उनके दिल की मूर्ति के लिए भी विरोध न रह गया था और वे 'बुत'

के परदे में ही खुदा को देख सकते थे। प्रभाव चाहे जहाँ से भी आया हो इतना स्पष्ट है कि हिन्दू विचार परम्परा और सूफ़ी विचार-परम्परा में अत्यन्त अधिक समानता थी।"[१] इस प्रकार सूफ़ी सम्प्रदाय आरम्भ से ही भारतीय भाव-धारा से प्रभावित था। भारत में आने के बाद भी सूफी सन्तों ने अपनी प्रेम-साधना के अन्तर्गत नाथयोगी सम्प्रदाय की अनेक क्रियाओं का भी समावेश किया और अपनी प्रेमगाथाओं में इनका वर्णन किया। उन्होंने प्रत्येक साधक के लिए क्रमश नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते समय की विभिन्न आध्यात्मिक स्थितियों वा 'मुकामात' को भी निर्दिष्ट किया। इसी दृष्टि से उन्होंने चार ऐसे पदों की कल्पना की जिन्हें वे क्रमश. 'आलमे अनासून'। (भौतिक जगत) 'आलमे मलकूत' (चित्त जगत), आलमे जबरूत (आनन्दमय जगत) और 'आलमे लाहूत (सत्य जगत) कहने लगे।[२] इसके अतिरिक्त भारतीय सूफियों ने नाथयोगियों की तरह अद्भुत करामातें दिखाकर साधारण जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया।

यदि सूफ़ीमत ने भारतीय विचार-धारा से बहुत कुछ ग्रहण करके अपनी साधना का स्वरूप निर्धारित किया था तो उसने भारत में पदार्पण करके भारतीय चिंतन-पद्धति को बहुत कुछ प्रभावित भी किया। भारतीय भक्ति-साधना को सूफियों की सबसे बड़ी देन 'प्रेमसाधना' है जो उन्हें शामी जातियों की ओर से 'मादन-भाव' के रूप में प्राप्त हुई थी। यद्यपि मुसलमान विजेताओं ने अपनी तलवार के बल भारत की भूमि पर अधिकार स्थापित करके साम्राज्य का निर्माण किया, तो भी वे भारतीय जनता के हृदय को छू नहीं सके थे इतना ही नहीं, उन्होंने अपने अमानुषिक कृत्यों द्वारा उनके हृदय में सदा के लिए घृणा और प्रति-हिंसा की भावना जगायी थी। जो कार्य मुसलमान विजेता नहीं कर सके थे उसे सूफी सन्तों ने अपने निर्मल आचरण एवं प्रेममय पवित्र हृदय द्वारा किया। दोनों की विचार-धारा में समानता होने के कारण वे एक दूसरे से स्वभावत: आकृष्ट हुए। सूफी साधकों को हिन्दू साधु-सन्तों की मैत्री प्राप्त हुई। सूफियों ने भारतीय जनता को विजेता की ऊँचाई से नहीं किन्तु सहृदयता एवं समीपता से देखा। भले ही वे अपने सहधर्मियों के अत्याचार को रोकने के लिए प्रकट रूप से कोई कार्य नहीं कर सके तो भी अपने ही ढंग पर उन्होंने दोनों जातियों में परस्पर मैत्री के भाव जगाए। वे हिन्दू लोग

१—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—बड़थ्वाल, पृ० १७-२०।
२—उत्तरी भारत की संत परम्परा—पृष्ठ ७६-८०।

से इस तरह घुलमिल गए कि हिन्दुओं के पारिवारिक व सामाजिक जीवन के सौदर्य का दर्शन पाकर प्रेम से विभोर हो गा उठे। ये सूफी साधक फारसी की मसनवी शैली में विभिन्न प्रकार के प्रेमाख्यानक रचने के अभ्यस्त थे ही। भारतीय सुफीसन्तो ने हिन्दी और उर्दू मे मसनवी ढंग पर हिन्दू जीवन की मर्मस्पर्शिनी कहानियाँ रचकर हिन्दू-हृदय की सरसता एवं सुषमा का पुट देते हुये मुसलिम हृदय की भव्यता को उद्घाटित किया। इस प्रकार सूफ़ी संतो के द्वारा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य का सूत्रपात हुआ।

हिन्दी मे सूफियों के द्वारा प्रेम-गाथाएँ कब मे लिखी जाने लगी इसका कुछ ठीक-ठीक पता नही लगा है। कहा जाता है कि अलाउद्दीन के राजत्व-काल मे सन् १४४० मे मुल्ला दाऊद नामक सूफी ने नूरक और चन्दा नामक कहानियाँ लिखी थी। किन्तु ये रचनाएँ प्राप्त नही है। प्राप्त रचनाओ मे कुतबन की 'मृगावती' ही सर्व प्रथम है। कुतबन ने लगभग सन् १५५१ मे इसकी रचना दोहा-चौपाई शैली मे की थी। इसके बाद बहुत मे प्रेमाख्यानक कवि हुए जिनमे मझन, मलिक मुहम्मद जायसी, उसमान अत्यन्त प्रमुख है। मंझन ने 'मधुमालती', मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' और उसमान ने 'चित्रावली' लिखी थी। प्रेम-कहानियाँ लिखने की परिपाटी इसके बाद भी बहुत दिन तक चलती रही। "ये कहानियाँ एक प्रकार से अन्योक्तियाँ है, जिनमे लौकिक प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीक है। इन काव्यो को पढने से यही विदित होता है कि हिन्दू-जीवन की बारीक मे बारीक बाते भी बड़े ही अनौखे ढङ्ग से चित्रित की गयी है जिससे पता चलता है कि इनके सूफ़ी लेखक हिन्दू-समाज तथा हिन्दू-साधुओ से घनिष्ठ मेलजोल रखते थे और हिन्दूओ के प्रति उनके हृदय मे बड़ी सहानुभूति थी।"[१] इन प्रेम-काव्यो के बारे मे डा० रामकुमार वर्मा के विचार इस प्रकार है :—"प्रेम काव्य में सबसे विचित्र बात यह है कि कथानक सम्पूर्ण रूप मे भारतीय है। उसमे पात्रो के आदर्श भी एकात रूप से हिन्दू-धर्म से पोषित है। आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दू वातावरण रहते हुए भी निष्कर्ष मुसलमानी सिद्धान्तो से पूर्ण है। भारतीय काव्य-शैली से पूर्ण रहते हुए भी प्रेम-काव्य मसनवी के वर्णनात्मक रूप लिए हुए है। जहाँ एक ओर मसनवी के अनुसार विषय निरूपण है, वहाँ दूसरी ओर दोहा, चौपाई छन्द में समस्त कथा कही गयी है। भाषा भी अवधी है। कथानक के अन्तर्गत हिन्दू देवी-देवताओ के भी विवरण है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि

१—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—पृष्ठ २१।

प्रेमकाव्य के कवियों ने हिन्दू शरीर में मुसलमानी प्राण डाल दिए है।"[1] हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान रामचन्द शुक्ल जी ने इन प्रेम-गाथा-काव्यों के बारे में जो विचार प्रकट किए हैं वे भी दृष्टव्य है--"पहली बात ध्यान देने की यह है कि इनकी रचना बिलकुल भारतीय चरित-काव्यो की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फ़ारसी की मसनवियो के ढङ्ग पर हुई है जिनमे कथा सर्गो या अध्यायों मे विस्तार के हिसाब से विभक्त नही होती, बराबर चली चलती है, केवल स्थान-स्थान पर घटनाओ या प्रसंगो का उल्लेख शीर्षक के रूप में रहता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि ये सब प्रेम कहानियाँ पूरबी हिन्दी अर्थात् अवधी भाषा मे एक नियत क्रम के साथ केवल चौपाई-दोहे मे लिखी गयी है। तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि इस शैली की प्रेम-कहानियाँ मुसलमानो के द्वारा ही लिखी गयी। भावुक और उदार मुसलमानो ने इनके द्वारा मानो हिन्दू-जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की।"[2]

सूफी मत कवियो के लिखे काव्यों मे कुतुबन की 'मृगावती', मझन की 'मधुमालती', जायसी का 'पद्मावत' और उसमान की 'चित्रावली' मुख्य है। मृगावती मे चन्द्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कचनपुर के राजा रूप मुरारि की पुत्री मृगावती की प्रेम-कथा का चित्रण हुआ है। कवि ने प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का वर्णन करते हुए भगवत्प्रेम का परिचय दिया है। कही-कही रहस्यमय आध्यात्मिकता की झलक मिलती है। मधुमालती में कवि की कोमल कल्पना और स्निग्ध सहृदयता का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। प्राकृतिक दृश्यो का मनोहर वर्णन भी किया गया है। समस्त प्रेमाख्यानक काव्यो मे जायसी का 'पद्मावत' सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है, क्योकि--"प्रेम-गाथा-परम्परा एक प्रकार से पद्मावत मे पूर्ण प्रौढता को प्राप्त हुई है। इसकी कहानी मे भी विशेषता है। इसमे इतिहास और कल्पना का योग है। चित्तौर की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिन्दू-हृदय के मर्म को स्पर्श करने वाला है। जायसी ने यद्यपि इतिहास प्रसिद्ध नायक और नायिका ली है, पर उन्होने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय मे प्रतिष्ठित था। इस रूप में इस कहानी का पूर्वार्ध तो बिलकुल कल्पित है और उत्तरार्ध ऐतिहासिक आधार पर है।"[3]

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृष्ठ २०२।
२—जायसी ग्रंथावली भूमिका--रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ४-५।
३—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ १०४।

पद्मावत में महाकाव्य के सभी लक्षणों का भरसक निर्वाह किया गया है। रस परिपाक में क्या, वस्तुवर्णन में क्या, अलंकार-योजना में क्या, भाषा और शैली मे क्या, सभी दृष्टिकोणो से पद्मावत एक अनुपम रचना है। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लौकिक प्रेम के बहाने पारमार्थिक प्रेम अथवा ईश्वरोन्मुख प्रेम का मार्मिक वर्णन किया गया है। सारा काव्य एक रूपक है, इस बात का उल्लेख कवि ने स्वयं ही कहानी के अन्त में कर दिया है। वह इस प्रकार है--

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदिमनि चीन्हा॥
गुरू सूआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुरू जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया-धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित्त बंधा॥
राघव दूत, सोई सैतानू। माया अलादीन सुलतानू॥[1]

"रत्नसेन का पद्मावती तक पहुंचने वाला प्रेम-पंथ जीवात्मा को परमात्मा से ले जाकर मिलाने वाले प्रेम-पंथ का स्थूल आभास है। प्रेम-पथिक रत्नसेन मे सच्चे साधक भक्त का स्वरूप दिखाया गया है। पद्मिनी ही ईश्वर से मिलाने वाला ज्ञान या बुद्धि है अथवा चैतन्य स्वरूप परमात्मा है, जिसकी प्राप्ति का मार्ग बताने वाला सूआ सद्गुरू है। उस मार्ग मे अग्रसर होने से रोकने वाली नागमती ससार का जजाल है। तनरूपी चित्तौरगढ का राजा मन है। राघव चेतन शैतान है जो प्रेम का ठीक मार्ग न बताकर इधर उधर भटकाता है। माया में पड़े हुए सुलतान अलाउद्दीन को माया रूप ही समझना चाहिए।"[2] इस प्रकार जायसी ने सारे काव्य मे सुन्दर रूपक की कल्पना की है।

लौकिक कहानी का आश्रय लेकर जायसी ने एक सच्चे साधक की तरह आध्यात्मिक मधुर-भाव की साधना की ओर सकेत किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने इस प्रेम-तत्त्व का परिचय यों दिया है--"जायसी ने पद्मावत मे जिस उद्दाम प्रेम का वर्णन किया है वह आदर्श और ऐकांतिक प्रेम है। उसमें लोकमर्यादा का अतिक्रम दोष नहीं गुण समझा जाता है। यह प्रेम सोद्देश्य भी है। लौकिक प्रेम के बहाने कवि सदा अलौकिक सत्ता की ओर इशारा करता रहता है। जहाँ दूसरे कवि पात्रो की अंतःवृत्तियों के चित्रण द्वारा पात्र के विशिष्ट व्यक्तित्व को चमकाने का प्रयत्न करते है वहाँ भी जायसी

१--जायसी ग्रन्थावली--ना० प्र० सभा, पृष्ठ ३०१।
२--जायसी ग्रन्थावली--रामचन्द्र शुक्ल--पृष्ठ ५६।

अलौकिक पारमार्थिक सत्ता की व्यंजना करना अपना प्रधान लक्ष्य समझते हैं।"[1]

हिन्दी को 'पद्मावत' सूफ़ियों की एक महान् देन है और पद्मावत मे प्रतिपादित प्रेम-पथ द्वारा भारतीय-भक्ति साधना का गौरव बढा है।

सूफ़ी कवियो ने अपने काव्यों में जिस मधुर–भक्ति–भावना का परिपाक किया है उसका गहरा प्रभाव हिन्दी के कबीर, दादू, दरिया साहब जैसे निर्गुणिया सतो पर पड़ा है। कबीर मे तो यह मधुर–भाव जगह-जगह पाया जाता है। वे कहते है :—

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मै हरि की बहुरिया,
राम बडे मै छुटक लहुरिया।
किया स्यगार मिलन के ताई,
काहे न मिलौ राजा राम गुसांई।
अब की बेर मिलन जो पाऊँ,
कहै कबीर भौ–जलि नही आंऊँ॥[2]

कबीर की रचना मे ऐसे बहुत से पद मिलते है जिनमे सूफ़ियों की मधुर भावना की छाप पड़ी है। सूफी परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते है। उनके "मजनू को अल्लाह भी लैला नजर आता है।" लेकिन कबीरदास ने ईश्वर को प्रियतम के रूप मे ही देखा है और भारतीय प्रेमपद्धति को अपनाया है।

१—मध्यकालीन धर्मसाधना–डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी–पृष्ठ २०७।
२—कबीर ग्रन्थावली—पदावली, पृष्ठ १२५।

तृतीय अध्याय

उत्तर मध्यकालीन वैष्णव मतों द्वारा प्रचालित भक्ति-संप्रदाय

(हिन्दी प्रदेश में)

रुद्र सम्प्रदाय अथवा शुद्धाद्वैतमत

श्री मध्वाचार्य, श्री विष्णुस्वामी तथा श्री निबार्काचार्य ने कृष्णोपासना को अपनाया था, लेकिन उनके उपास्यदेव कृष्ण का भिन्न-भिन्न रूप था। मध्वाचार्य के कृष्ण स्वय विष्णु थे जो अनंत गुणों से परिपूर्ण परतत्व परमात्मा थे। विष्णुस्वामी ने कृष्ण के गोपाल का रूप अपनाया था। निबार्क ने अपनी उपासना मे राधातत्व का समावेश करके राधा-कृष्ण के युगल रूप को स्वीकार किया था। चूंकि मध्वाचार्य के कृष्ण मे भगवान का ऐश्वर्य ही प्रधान था अतः उसमे न विस्तार सम्भव था न मनोवेग के लिए कोई स्थान ही था। आगे चलकर वल्लभाचार्य तथा कृष्ण चैतन्य द्वारा प्रतिपादित मतो मे कृष्णोपासना के रूप मे विशेष विकास और परिवर्तन हुआ। यद्यपि इन दोनो ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो का न्यूनाधिक रूप से अनुसरण किया तो भी अपने-अपने मत-विशेष के कारण अपनी पूजा-पद्धति एव भजन-कीर्तनो के द्वारा कृष्णोपासना को व्यापक रूप देते हुए वैष्णव धर्म को जन-समाज के अत्यत निकट पहुँचाने का उद्योग किया। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने राधावल्लभ अथवा गोपीवल्लभ कृष्ण की उपासना द्वारा वैष्णव धर्म मे नूतन शक्ति का सचार किया और समस्त उत्तरी भारत की जनता पर अपने असाधारण व्यक्तित्व की छाप डाली। जिस प्रकार स्वामी रामानन्द से प्रभावित भक्त कवियो द्वारा हिन्दी मे रामोपासना के अन्तर्गत विपुल साहित्य का निर्माण हुआ उसी प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य से प्रेरणा पाकर ब्रज भाषा में विशिष्ट भक्ति साहित्य का सृजन हुआ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सन् १४७९ ई० में हुआ। आचार्य के जीवन चरित का विस्तृत परिचय सम्प्रदाय के ग्रंथों में दिया गया मिलता है। वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट नामक तैलंग ब्राह्मण थे और उनकी माता का नाम था एल्लम्मगारु। कहा जाता है कि लक्ष्मण भट्ट आंध्र प्रदेश के

काकावाड नामक स्थान के निवासी थे। लेकिन वे काशी में अपने परिवार के साथ रहा करते थे। फलतः वल्लभाचार्य के समस्त संस्कार, शिक्षा-दीक्षा पठन-पाठन काशी में ही हुआ था। आचार्य ने बहुत कम उम्र में समस्त शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली थी और काशी में प्रसिद्ध हो गए थे। अपने पिता के गोलोक गमन के पश्चात् उन्होंने भारतवर्ष के प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और जगह-जगह पर विद्वानों से शास्त्रार्थ करके मायावाद का खण्डन और ब्रह्मवाद तथा भक्ति का प्रचार किया। यह प्रसिद्ध है कि कर्नाटक के विजय-नगर साम्राज्य की राजधानी मे वल्लभाचार्य ने माध्व-मतावलम्बी आचार्य व्यासराय के सभापतित्व मे आयोजित सभा में शास्त्रार्थ किया था और उप-स्थित नास्तिकों को हराया था। इस विजय से प्रसन्न होकर विजय नगर के राजा कृष्णदेव राय ने आचार्य का 'कनकाभिषेक' करके सत्कार किया था। भारतवर्ष के प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा करने के उपरान्त आचार्य ने कभी वृन्दावन, कभी मथुरा और कभी काशी को अपने मत के प्रचार का प्रधान केन्द्र बनाया। ब्रज की पहली यात्रा के समय (सन् १४९३ ई०) उन्हें गोवर्धन पर्वत पर एक भगवत् स्वरूप का प्राकाट्य हुआ और वल्लभाचार्य ने उसका नाम श्री नाथ रखा था और उन्ही की प्रेरणा से वही पक्का मन्दिर बनवा कर उनकी स्थापना भी की थी। अन्त मे काशी मे रहते हुए सन् १५३० में वल्लभाचार्य का गोलोकवास हुआ।

आचार्य वल्लभ ने अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए सस्कृत मे अनेक ग्रथ रचे थे जिनमे ब्रह्मसूत्र पर लिखा हुआ 'अणु भाष्य', पूर्व मीमांसा भाष्य, तत्वदीप निबन्ध, भागवत की व्याख्या—'सुबोधिनी' प्रमुख है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रथों की उन्होने रचना की थी।

दार्शनिक जगत मे श्री वल्लभाचार्य का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसा लगता है कि श्री शकराचार्य के अद्वैत से भिन्नता दिखलाने के लिए ही अद्वैत के साथ 'शुद्ध' विशेषण जोड़ दिया गया है। यह माना जाता है कि वल्लभाचार्य जी ने स्वतंत्र रूप से अपना अलग मत न चलाकर विष्णु स्वामी के मत का ही प्रचार किया था। विजयनगर के शास्त्रार्थ के बाद वल्लभाचार्य की इतनी ख्याति फैली कि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्यो ने उन्हे अपने सम्प्रदाय की गद्दी पर बैठाया। वल्लभाचार्य के पहले इस गद्दी पर विल्वमंगल नामक आचार्य विराजमान थे। शकर के अद्वैत मे माया-शबलित-ब्रह्म जगत का कारण माना है, परन्तु इस मत में माया से अलिप्त नितात शुद्ध ब्रह्म जगत का

कारण है।[1] यह शुद्धाद्वैत 'ब्रह्मवाद' अथवा 'परिणामवाद' भी कहलाता है। इस मत के आचार्यों का कहना है कि इस सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्त, जिनका निरूपण श्री वल्लभाचार्य जी तथा श्री विट्ठलनाथ जी ने किया था, वेद, उपनिषद्, श्री भागवत, गीता, ब्रह्मसूत्र आदि शास्त्रों के प्रमाणों पर आधारित है। श्री वल्लभाचार्य ने भी चार वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भागवत की समाधि भाषा—ये चार प्रमाण माने है।[2]

वल्लभाचार्य के अनुसार 'ब्रह्म' सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप है। वह व्यापक है, नाशरहित है तथा सर्व शक्तिमान है। वह स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है, और गुणों से वर्जित है। वल्लभ ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप नित्य मानते है। जो ब्रह्म अणोरणीयान है वह महतो महीयान भी है। ब्रह्म एक होकर भी अनेक है और स्वतंत्र होकर भी भक्तो के अधीन है। इसके अतिरिक्त वे सजातीय, विजातीय तथा भेदो से ब्रह्म को रहित मानते है। (सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैत-वर्जितम्-तत्व दीप निबध) वल्लभ मत के अनुसार जिस तरह ब्रह्म सत्य है उसी प्रकार जीव और जगत भी सत्य है। डा० भण्डारकर ने इस मत के दार्शनिक सिद्धात का सक्षिप्त परिचय देते हुए कहा है—परमात्मा ने अपने एकाकी रूप मे पूर्णत प्रसन्न न रह कर अपने को ही प्रकृति, जीवात्मा तथा अंतर्यामी आत्मा मे विभाजित किया और ये तीनो उनसे वस्तुत. जलती हुई आग की चिनगारियो की भाँति निकले, परमात्मा की इच्छा से ही प्रकृति मे चित् एव आनन्द तथा जीवात्मा मे केवल आनन्द का अभाव और तीसरे मे ये तीनो पूर्ण रूप मे वर्तमान है। भगवान को जब रमण करने की इच्छा होती है तब वह अपने आनद आदि गुणो के अशो को तिरोहित कर स्वय जीव रूप ग्रहण करता है। इस व्यापार मे भगवान की केवल इच्छा ही प्रधान है, माया का जरा भी सम्बन्ध नही रहता। जीव ज्ञाता, ज्ञात-रूप और अणु होता है। सच्चिदानन्द भगवान के अविकृत सदश से जड का निर्गमन

१—माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्यच्युतै बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥
शुद्धद्वैत मार्तण्ड॥२८॥

२—वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथंचन।
—तत्त्वदीपनिबंध, श्लोक ७ तथा ९

होता है और अविकृत चिदंश मे जीव का आविर्भाव। इस मत में ईश्वर को विरुद्ध धर्मो का आगार कहा गया है। वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है, जो निधर्मक है वह सधर्मक भी है, जो ब्रह्म मन और वाणी से परे है वह ध्यान से, शुद्ध भाव से और अपनी इच्छा मात्र से गोचर और गम्य भी हो जाता है। ब्रह्म मे आविर्भाव और तिरोभाव होने की शक्ति है, इसी शक्ति से वह एक से अनेक और अनेक से एक हो जाता है। अनुभाव योग्यता का होना ही आविर्भाव है और अनुभाव योग्य न होना ही तिरोभाव का लक्षण है। फिर ब्रह्म के तीन प्रकार बताए गए है—(१) आधि दैविक ब्रह्म, (२) आध्यात्मिक अर्थात् अक्षर ब्रह्म और (३) आधि भौतिक अर्थात् जगत् रूपी परब्रह्म। रस-रूप-पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म छः अप्राकृत धर्मो से व्यक्त है :—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, स्त्री, ज्ञान, और वैराग्य। भगवान की इच्छा से जब जीवन प्रेरित होता है तब उसके ऐश्वर्यादि छः गुण तिरोहित हो जाते है और उसे अन्यथा ज्ञान होने लगता है और वह दुःख का भागी बनता है। ईश्वर-भक्ति द्वारा जीव भगवान की कृपा को प्राप्त करता है और वे छः गुण फिर उसे मिल जाते है। जीव-प्रधानतया तीन प्रकार के होते है—शुद्ध, मुक्त तथा ससारी।

वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार श्री कृष्ण ही पूर्णानन्द-स्वरूप पुरुषोत्तम पर-ब्रह्म है। श्रीकृष्ण अपनी अनन्त शक्तियों से वेष्टित हो कर अपने भक्तो के साथ 'व्यापी बैकुठ' में नित्य लीला किया करते है। यह लोक विष्णु के बैकुठ से ऊपर स्थित है और गोलोक भी इस व्यापी बैकुण्ठ का एक अश मात्र है। भगवान मे अनन्त शक्तियाँ है जिनमे श्री, पुष्टि, गिरा, कान्त्या, श्री स्वामिनी, चन्द्रावली, राधा, यमुना आदि बारह मुख्य है। क्रीड़ा के निमित्त भगवान का समग्र परिवार इस भूतल पर अवतीर्ण होता है। तब व्यापी बैकुण्ठ ही गोकुल के रूप में विराजता है। इस सप्रदाय मे 'हरि' शब्द कृष्ण का ही पर्यायवाची है साथ ही विष्णु और शिव को ब्रह्म का ही रूप कहा गया है।

वल्लभ के अनुसार श्रीकृष्ण की प्राप्ति ही मुक्ति है और इसके लिये निवृत्त-मार्ग से प्रवृत्ति-मार्ग ही श्रेष्ठतर है।

जिस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय का दार्शनिक पक्ष शुद्धाद्वैत कहलाता है उसी प्रकार उसका उपासना या साधन पक्ष 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। भगवान के अनुग्रह को पुष्टि या पोषण कहते है। (पोषणं तदनुग्रह :—भागवत २। १०) जीव जब तक भगवान के अनुग्रह या पुष्टि को प्राप्त नही करता तब तक आनन्द की प्राप्ति नही कर सकता। इस पुष्टिमार्गीय भक्ति के चार भेद है—मर्यादा पुष्टि भक्ति, प्रवाहपुष्टि भक्ति, पुष्टिपुष्ट भक्ति और शुद्ध-पुष्टि भक्ति।

पहली मे भक्त भगवान के गुणो को जानता हुआ भक्ति करता है। कर्म मे विशेष रुचि रख कर भक्ति करना प्रवाहपुष्टि भक्ति है। पुष्टि-पुष्ट भक्ति वह है जिसमे भक्त हरि का यथार्थ ज्ञान उपलब्ध कर सर्वाधिक स्नेहसम्पन्न रहता है। पूर्ण प्रेमपूर्वक हरि की परिचर्या करते हुए गुण श्रवण ध्यान आदि मे दत्त चित्त रहना ही शुद्ध पुष्टि भक्ति है। भजन, पूजन आदि साधनो की सहायता से जिस भक्ति की उपलब्धि होती है वह मर्यादा-भक्ति कहलाती है, परन्तु जो भक्ति साधन निरपेक्ष हो कर भगवान के अनुग्रह मात्र से स्वत. प्रादुर्भाव पाती है, जिसमें जीवो पर स्वय दया करके भगवान अपने अनुग्रह की अभिव्यक्ति करते है वह पुष्टि भक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति है। जिस प्रकार भगवान अनन्त है वैसे ही उनके गुण ऐश्वर्यादि भी अनन्त है। वह लीलापुरुषोत्तम अपनी लीला के हेतु ही इस सृष्टि का सर्जन करता है तथा स्वयं अवतार लेकर नाना प्रकार की लीलाएँ किया करता है। लीला के अतिरिक्त इस जगत के आविर्भाव का दूसरा कोई उद्देश्य नही है। लीला विलास की इच्छा का ही नाम है।

पुष्टि मार्ग की भक्ति की सबसे बडी विशेषता यह है कि ईश्वर के प्रति सुदृढ और उत्कट प्रेम होना आवश्यक है। इस प्रेम के बिना अविद्या का नाश नही हो सकता। अविद्या विद्या से नष्ट होती है और भक्ति विद्या का एक पर्व है। लेकिन यह भक्ति केवल प्रभु के अनुग्रह द्वारा ही सम्भव है। तात्पर्य यह है कि भगवान का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सभी कार्यों का नियामकतत्व है और इसी तत्व पर सम्प्रदाय की साधना-पद्धति का भव्य भवन खड़ा है।

इस मत की भक्ति की दूसरी एक विशेषता यह है कि भगवान की किसी भी भाव से उपासना की जा सकती है।—चतुश्लोकी नामक अपने ग्रंथ मे वल्लभाचार्य ने कहा है कि सब समय में सब भावो से केवल व्रज कृष्ण ही भजनीय है। भक्तो का यही धर्म है, अन्य कोई धर्म नही है।[1] जिस किसी भाव से हो, भगवान का भजन ही जीव का एक मात्र धर्म है, सब प्रकार की कामना से रहित होकर भगवान की अनुकम्पा पर अपने को छोड देना चाहिए, उचित फल का सम्पादन भगवान स्वयं करेंगे।

भागवत मे प्रतिपादित नवधा भक्ति को वल्लभाचार्य ने स्वीकार किया है,

---

१—**सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।**
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥

—चतुःश्लोकी, श्लोक १।

किन्तु प्रेमरूपा भक्ति के साधन रूप में ही, क्योकि नवधा भक्ति की साधना से प्रेम की परिपूर्णता होती है और प्रेम की पूर्णता से भगवद्धर्मों का प्रादुर्भाव होता है। नवधा भक्ति में आत्मनिवेदन अथवा आत्म-समर्पण को बड़ी महत्ता दी गयी है।

श्री वल्लभाचार्य ने भक्त को सर्वभाव से भगवान की तीन प्रकार की सेवा करने का आदेश दिया है:—तनुजा, वित्तजा और मानसी। भगवान के निमित्त ही अपने शरीर तथा उसके व्यापारो का एक-निष्ठा से समर्पण तनुजा सेवा कहलाती है। अपने धन तथा सम्पत्ति से और मन के द्वारा भगवान की सेवा करना क्रमशः वित्तजा तथा मानसी कहलाती है। मानसी सेवा सर्वश्रेष्ठ तथा विशेष फलकारी बतायी गयी है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इस मत में भगवान की कृपा से ही भक्ति की उपलब्धि होती है। इसके लिए भक्त के हृदय में उत्कट प्रेम का होना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रेम के उत्कर्ष के लिए भगवान से बिछुड़ने का ज्ञान और उनसे मिलने की उत्कट अभिलाषा तथा विह्वलता का होना भी आवश्यक है। आचार्य जी ने भक्ति के प्रेम की तीन अवस्थाएँ मानी हैं—स्नेह, आसक्ति और व्यसन। इसका उद्देश्य यह है कि भगवान के प्रति स्नेह से लोक के प्रति होने वाले राग का नाश होता है, और आसक्ति से घर के प्रति अरुचि पैदा होती है। और व्यसन से भक्त को पूर्ण प्रेम की कृतार्थता सिद्ध होती है।

इस पुष्टि-मार्ग की एक और विशेषता यह है कि श्री कृष्ण के शरण में गए बिना मनुष्य का कल्याण नही हो सकता। जिस प्रकार गीता में 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' कहा गया है उसी प्रकार वल्लभ मत मे कहा गया है :—

तस्मात् सर्वात्मता नित्यं श्रीकृष्णशरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥

—नवरत्न—श्लोक ६।

इसके अनुसार श्री वल्लभ-मत का मंत्र है "श्रीकृष्णःशरणं मम"। इस प्रकार प्रपत्ति अथवा शरणागति तथा अनन्य भक्ति ही वल्लभ-सम्प्रदाय का चरम लक्ष्य है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, वल्लभाचार्य जी निवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्तिमार्ग को ही श्रेयस्कर समझते थे। उन्होंने विवाह किया था और उनके गोपीनाथ तथा विट्ठलनाथ नामक दो पुत्र भी थे। वल्लभाचार्य के उपरान्त विट्ठलनाथजी सम्प्रदाय की गद्दी पर बैठे। विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय के प्रचारार्थ

अनेक प्रयत्न किए। इस सम्प्रदाय को जन साधारण की प्रवृत्तियो के अनुकूल बना कर लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से उन्होंने विविध व्रतों तथा उत्सवों की योजना की, मन्दिरों मे समारोहपूर्वक पूजन, भजन, गायन वन्दनादि की व्यवस्था की। इस सेवा-विधि के दो रूप है--नित्य सेवा विधि तथा वर्षोत्सव की सेवा-विधि। प्रातःकाल से शयन पर्यन्त की नित्य सेवा-विधि मे वात्सल्य-भक्ति की प्रधानता है और उसके आठ समय बताये गए है–मगला, शृगार, ग्वाल, राज भोग, उत्थापन, भोग, संध्या-आरती तथा शयन। वर्षोत्सव की सेवा-विधि मे श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार-लीलाओ के उत्सव, छः ऋतुओ के उत्सव, लोकव्यवहार और वैदिक पर्वो के उत्सव तथा अन्य जयन्तियाँ सम्मिलित है। श्रीवल्लभाचार्य ने प्रथमत. माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक वात्सल्य-भक्ति का ही प्रचार किया था और बाद को उन्होने तथा उनके उत्तराधिकारियो ने किशोर कृष्ण की युगल लीलाओ का तथा युगल-स्वरूप की उपासना-विधि का समावेश कर लिया था। कुछ विद्वानो का मत है कि वल्लभ-सम्प्रदाय मे मधुर भक्ति का समावेश चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी वैष्णव भक्तों के सम्पर्क के कारण हुआ है। लेकिन कुछ अन्य विद्वानों का मत यह है कि इस भावना का उदय इसी सम्प्रदाय में आगे चल कर हुआ। जो हो, इतना निश्चित है कि गोसाई विट्ठल-नाथ जी ने मधुर भावना की उपासना का प्रचार किया था। राधा की उपासना का समावेश भी विट्ठलनाथ के समय मे हो गया था। उन्होने राधा की स्तुति में 'स्वामिन्यष्टक' तथा 'स्वामिनी स्तोत्र' नामक ग्रन्थो की रचना की है। गौड़ीय वैष्णवो की तरह इस सम्प्रदाय में राधा परकीया नहीं है, स्वकीया ही मानी जाती है। इसके अतिरिक्त गोपियो के नाम, धाम तथा प्रकार आदि का भी इस सम्प्रदाय में बड़े ही विस्तार से विवेचन किया गया है।

पुष्टि-मार्ग की सबसे बड़ी देन है हिन्दी के 'अष्टछाप' के भक्त कवियो द्वारा कृष्णोपासना के विपुल साहित्य का निर्माण। अष्टछाप के कवियो ने भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं पर नाना प्रकार के भजन-कीर्तन रच कर न केवल भक्ति-साहित्य को समृद्ध बनाया बल्कि वैष्णव धर्म का सदेश उत्तरीभारत के घर-घर मे पहुँचाया। इन अष्टछाप के कवियो में सूरदास सर्वश्रेष्ठ थे। सूरदास का जन्म लगभग सन् १४९३ ई० में 'रुनकता' नामक गाँव में हुआ था। सन् १५३३ के आसपास श्री वल्लभाचार्य जी से दीक्षित होकर सूरदास ने ब्रजभाषा मे कृष्णभक्ति का गान किया। उनके सैकड़ों भजन 'सूरसागर' में संग्रहीत हैं जो हिन्दी का एक अनमोल ग्रंथ है। अष्टछाप के अन्य कवि हैं—

श्री व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है ।
श्री हरिवंश गुसाई भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है ।
—(छप्पय—६०)

साराश यह है कि इसकी साधना-पद्धति को विरला ही कोई जान सकता है। इस मत की प्रधान उल्लेख-योग्य बाते है श्री राधाचरण की प्रधानता, कुंज केलि की खवासी अर्थात् किकरी और सखीभाव, महाप्रसाद की निष्ठा, विधिनिषेध का सर्वथा त्याग और अनन्य दास-भाव। नाभादास ने इसे कठिन इसीलिए कहा है कि साधारण लोगों के तो 'दम्पति कुज केलि' की साधना करके वासना के कूप मे उबरने के बदले उनमें डूबने की पूरी सम्भावना रहती है। यदि चैतन्य तथा वल्लभमतो मे इस प्रकार की भक्ति के साथ मधुर भक्ति की साधना परकीय भाव मे बतायी गयी है, तो हितहरिवंश जी के अनुसार राधाकृष्ण की परिचर्या करना आवश्यक है। दूसरी एक बात ध्यान देने की यह है कि इसमे प्रेम के सयोग-पक्ष को ही अपनाया गया है और वियोग-पक्ष सम्पूर्ण त्याज्य ही माना गया है। राधाकृष्ण की कुजलीला मे मनन से जो आनन्द मिलता है उसे "परम रस माधुरीभाव" कहा गया है। इस मत के भक्तो ने इस भाव की अभिव्यक्ति ब्रजभाषा के पदो मे की है।

श्री हितहरिवश के लिखे दो ग्रथो का उल्लेख किया जाता है—एक संस्कृत में 'राधा सुधानिधि' और दूसरा हिन्दी मे (ब्रज भाषा मे) 'चौरासी पद' अथवा "हित चौरासी"। इन ग्रथो मे सिद्धान्त का निरूपण नही किया गया है। राधाकृष्ण के विहार और प्रेम-लीला का ही शृङ्गारिक वर्णन किया गया है।

इस सम्प्रदाय के अनुयायियो मे श्री हरिराम व्यास, ध्रुवदास के नाम उल्लेखनीय है। श्री हरिराम के रचे ब्रजभाषा के पद्य बडे ही सरस व भावपूर्ण है। ध्रुवदास जी महान भक्त ही नही प्रत्युत् बडे विद्वान तथा कवि थे। उन्होंने लगभग चौतीस ग्रथों की रचना की थी जिनमें प्रेम भक्ति की मधुर अनुभूति की व्यंजना के साथ-साथ सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण भी किया गया है।

हरिदासी अथवा सखी सम्प्रदाय

वृन्दावन में जितने भक्ति प्रधान वैष्णव सम्प्रदाय फले-फूले हैं उनमें सखी सम्प्रदाय भी एक है जिसके प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी माने जाते हैं। कुछ

विद्वानों का विचार है कि यह मत निबार्क-सम्प्रदाय की ही एक शाखा है। श्री स्वामी हरिदास जी प्रथमतः निबार्क मत के अनुयायी थे और बाद में उन्होंने गोपीभाव को भगवत्प्राप्ति के लिए एक-मात्र उन्नत साधन मान कर अपनी साधन-पद्धति की प्रतिष्ठा की। श्री स्वामी जी ने आरम्भिक काल में अपने सम्प्रदाय को वेदान्त के किसी वाद को अथवा अन्य किसी दार्शनिक सिद्धांत का प्रचार करने के लिए माध्यम नहीं बनाया था। उनका एकमात्र उद्देश्य राधाकृष्ण की युगल उपासना का सखीभाव से प्रचार करना था। बताया जाता है कि वृन्दावन में श्री स्वामी जी के समय में ही बिहारी जी का मन्दिर बनवाया गया था।

श्री स्वामी हरिदास जी की जन्म-तिथि के बारे में विद्वानों में एक मत नहीं है। इनकी जन्म तिथि कोई सन् १४३४ ई० मानते हैं और कोई सन् १४७८। यह प्रसिद्ध है कि हरिदासपुर के एक सनाढ्य ब्राह्मण-कुल में इनका जन्म हुआ था। पच्चीस वर्ष की अवस्था में ही गृह त्याग कर श्री स्वामी जी ने वृन्दावन में वास करते हुए राधाकृष्ण की उपासना का प्रचार करना शुरू कर दिया था। इनके समकालीन भक्त नाभादास जी ने श्री हरिदास की भक्ति-पद्धति का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। यह इस प्रकार है—

आसधीर उद्योत कर 'रसिक' छाप हरिदास की।
जुगल नाम सौ नेम जपत नित कुंज बिहारी॥
अवलोकन रहे केलि सखी सुख को अधिकारी।
गान-कला-गन्धर्व स्याम-स्यामा को तोषैं।
उत्तम भोग लगाय, मोर मरकट तिमि पोषैं।
नृपति द्वार ठाढ़े रहैं, दर्सन आसा जास की।
आसधीर उद्योतकर, रसिक छाप हरिदास की॥

इस छप्पय द्वारा श्री स्वामी जी की उदार मनोवृत्ति, अनन्य भक्ति-भावना तथा उन्नत कला-प्रेम का परिचय मिलता है। इससे यह भी मालूम होता है कि स्वामी जी गान-कला में निष्णात थे और अपने सुमधुर भजनों द्वारा श्यामा-श्याम की स्तुति किया करते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध गायक तानसेन श्री हरिदास जी के शिष्य थे। श्री स्वामी जी की रची हुई 'केलिमाला' नामक पदावली विख्यात है जिसमें अन्तरंग के मधुरतम भावों की सुन्दर व्यंजना हुई है।

श्री स्वामी हरिदास जी का 'सखी सम्प्रदाय' 'टट्टी संस्थान' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने ब्रजभाषा में ही अपने पद

रचे है जिनमे गहरी भक्ति भावना के साथ-साथ साहित्यिक सौरभ भी विद्यमान है। श्री हरिदास की परम्परा के आचार्य भक्तों में श्री विट्ठल विपुल जी, श्री विहारिनी दास जी, श्री भगवत् रसिक जी तथा श्री ललितकिशोरी जी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी भक्तों ने अपनी रचनाओं से ब्रजसाहित्य का भण्डार समृद्ध किया है।

चतुर्थ अध्याय

उत्तरमध्यकालीन कर्नाटक का भक्ति-सम्प्रदाय

(क) वीरशैवमत और उसकी भक्ति-साधना

वीर शैवमत की स्थापना

भारतीय धर्म-साधना मे कर्नाटक की देन बहुत महत्वपूर्ण है। श्रीशकराचार्य ने अपने मत के प्रचार के लिए कर्नाटक मे अनुकूल वातावरण पाया और सबसे पहले अपना प्रधान मठ मैसूर राज्य के शृङ्गेरी नामक स्थान मे स्थापित किया। श्री रामानुजाचार्य जी शैवमतावलम्बी चोल राजाओ के अत्याचार से अपनी रक्षा के लिए मैसूर के निकट मेलुकोटे नामक स्थान मे बहुत दिन तक रहे। यह एक ऐतिहासिक घटना है। श्रीरामानुजाचार्य के बाद करीब दो सौ साल के अन्दर ही कर्नाटक मे दो प्रसिद्ध मतो की स्थापना हुई, एक का नाम था वीर शैवमत और दूसरे का माध्वमत।

वीर-शैव-सम्प्रदाय का जन्म कब हुआ और उसके जन्मदाता कौन थे इस सम्बन्ध में मतभेद है। साधारण तौर पर यह समझा जाता है कि कल्याण के कलचुरि वंश के राजा बिज्जल (सन् ११६०–११६७) के प्रधान मत्री तथा सेनापति बसव अथवा बसवण्ण ने वीरशैव मत चलाया। आधुनिक दृष्टि से जिन लोगो ने इस सम्प्रदाय के इतिहास की छान-बीन की है, उन लोगो का कहना है कि यह एक अतिप्राचीन सम्प्रदाय है, बसव के पहले ही किसी रूप मे कर्नाटक मे विद्यमान था और बसवेश्वर ने उसका पुनः संघटन किया। डा० नन्दीमठ ने कई प्रमुख विद्वानो के मतो का संग्रह करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कर्नाटक में अति प्राचीन काल से प्रलचित शैवमत का ही यह एक परिष्कृत रूप है। इसका परिष्करण बारहवी शताब्दी मे बसव, अल्लमप्रभु प्रभृतियो द्वारा हुआ।

इसमे सदेह नही है कि वीर शैव सम्प्रदाय कोई नया मत नही है। बारहवी शताब्दी के पहले ही कर्नाटक मे शैवमत अपने कई रूपो मे प्रचलित था। तमिलनाड का शैवसिद्धान्त, जो काश्मीर के शैवमत तथा गौडीय शैवमतों

से प्रभावित था कर्नाटक में प्रवेश कर चुका था।[1] इसके अतिरिक्त शाक्तमत, नाथपन्थ, कापालिक, कालामुख जैसे शैवमत की शाखाओं का कर्नाटक में प्रचार होगया था। कालामुख मत के गुरुओं का कर्नाटक के राजाओं पर विशेष प्रभाव था।[2] शिलालेखों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि बसव के परवर्ती काल में वीरशैव मत का इतना प्राबल्य हो गया था कि बड़े-बड़े कालामुख-मठ वीरशैव मठों के रूप मे परिवर्तित हुए। बेलगाव जिले मे आजकल जो वीर शैव-मठ है वह पहले कालामुख-मठ था।[3]

'वीरशैव' शब्द से यही प्रतीत होता है कि शैवमत का ही यह एक परिवर्तित रूप है। यह समझा जाता है कि बसव ने बड़ी वीरता के साथ शैव मत में घुस आई हुई बुराइयो को दूर करने का उद्योग किया। इसलिए इस सुधरे हुए मत का नाम 'वीरशैव' पड़ा। वीर-शैव सम्प्रदाय 'लिंगायत' अथवा 'लिंगवन्त' भी कहलाता है। क्योंकि इस सम्प्रदाय की व्यवस्था के अनुसार वीरशैव अपने वक्ष पर शिवलिंग को धारण करते है।

वीरशैव-मत की स्थापना के सम्बन्ध मे फर्कुहर यह मानते हैं कि सम्भवतः कर्नाटक मे बढते हुए दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय का प्रभाव कम करके लोगों को शिव-भक्ति की तरफ आकृष्ट करने के लिए वीरशैव मत की स्थापना हुई। वीरशैव-मतावलम्बियो में सामाजिक और धार्मिक जीवन में समानता तथा मठों की स्थापना पर विशेष जोर दिया जाता है। सम्भवतः इस दिशा में भी लिंगायतों ने जैनों का अनुकरण किया है।[4] वीरशैव सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने कुछ नूतन सिद्धान्तो के आधार पर समाज का पुनःसंघटन करना चाहा। इस पुनःसघटन की कुछ मुख्य बाते इस प्रकार है :—

(१) वर्णाश्रम-धर्म का पूर्णरूप से खण्डन करके लिङ्ग, वर्ण, जाति के कारण समाज में, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में किसी प्रकार के भेद को न मानना।

(२) अग्निपूजा तथा मूर्ति-पूजा का बहिष्कार करना।

(३) शरीर पर शिवलिङ्ग को धारण करना और शिवभक्ति पर जोर देना।

(४) पंचसूतकों को न मानना।

1—A Hand Book of Virasaivism—Dr. Nandimutha—P. 2.

2—Epigraphia Carnatica—Vol. VII P. 107.

3—A Hand Book of Virasaivism—Dr. Nandimatha—P. 10.

4—An outline of the Religious Literature of India—Farquhar J. N.—P. 259-260.

(५) सामाजिक जीवन में शरीर-श्रम पर विशेष रूप से ज़ोर देना।

(६) सात्विक शाकाहार सेवन करना और प्राणि-हिंसा न करना।

(७) एकेश्वरवाद पर विश्वास रखना।

वीरशैवों का विश्वास है कि शैवागम के आधार पर इस सम्प्रदाय का सगठन किया गया है। श्रीपति पण्डिताराध्य का वेदान्तसूत्र पर लिखा हुआ श्रीकरभाष्य इस मत का आधार-ग्रंथ माना जाता है। श्रीकरभाष्य की रचना बसव के पहले ही हुई थी या बाद को इसमे सदेह है।

पंचाचार्य:

वीर शैव मतावलम्बी यह मानते है कि इस धर्म का प्रत्येक युग में पाँच आचार्यो द्वारा सचालन हुआ करता है। सम्भवत: बसव के ज़माने में वीरशैव-मत के प्रचार के लिए श्रीशकराचार्य का अनुकरण करते हुए भारत के पाँच प्रधान स्थानो मे पाँच मठो की स्थापना हुई और उन मठों के संचालन के लिए पाँच सन्यासी नियुक्त हुए। इन पाँच आचार्यों और पाँच मठों के नाम इस प्रकार है :—

१—रेणुकाराध्य अथवा रेणुकाचार्य	रभापुरी अथवा बाल्ठेहल्लि (कौल्लिपाकि)
२—मरूव्ठाराध्य अथवा मरूव्ठसिद्ध	उज्जैन (वटक्षेत्र)
३—एकोराम	श्रीशैल (द्राक्षाराम)
४—पण्डिताराध्य	केदार (सुधाकुण्ड)
५—विश्वाराध्य	काशी (वाराणसी)

आजकल भी ये पाँचो मठ वर्त्तमान है। वीरशैवों मे इन मठों के संन्यासियों के नाम से गोत्र भी चलता है और सभी लिगायत अपने को ऊपर के किसी न किसी गोत्र के मानते है। इन मठो के आचार्यो के नाम से ही वीरशैवो मे सब विधियाँ चलती है। वीरशैव पुरोहित भी अपने को ऊपर के किसी न किसी मठ के अन्तर्गत मानते है।

शिवानुभव-मंटप.

वीरशैवमत की स्थापना किसी ग्रन्थ मे प्रतिपादित तत्त्वो की अपेक्षा उस मत के प्रमुख भक्तो के अनुभव के आधार पर ही अवलम्बित थी। बसव के समय मे कल्याण मे 'शिवानुभवमंटप' अथवा 'अनुभवमण्टप' नामक एक गोष्ठी की स्थापना हुई जिसमे वीरशैव-भक्त समय-समय पर मिल कर आध्यात्मिक,

सामाजिक समस्याओं पर विचार-विनिमय किया करते थे। इस मण्टप के प्रमुख सदस्य थे—अल्लमप्रभु, बसव, चेन्नबसव, सिद्धराम और अक्कमहादेवी। कहा जाता है कि अल्लमप्रभु इस अनुभव मण्टप के अध्यक्ष थे। इस मण्टप के सदस्य शिवशरण कहलाते थे और उनमें किसी प्रकार का जातिगत या वर्णगत भेदभाव नही था। शिवानुभवमण्टप में मथित विचार आगे चल कर वीरशैव-मत को रूप देने में सहायक सिद्ध हुए। अथवा यों कहना चाहिए कि शिवानुभव मंटप की चर्चा का परिणाम ही वीरशैव मत की स्थापना है। इस मण्टप मे सम्मिलित शिवशरणों या शिव-भक्तो के अनुभव का सार ही कन्नड का 'वचनसाहित्य' है।

वचन साहित्य और वचनकार

वीरशैव भक्तों ने, जिनको शिवशरण कहते है, अपने अनुभव की बातें सीधी और सरल भाषा मे सुनायी है। ये ही वाणियाँ कन्नड में 'वचन' कहलाती है। ये वचन एक प्रकार के गद्यगीत है। यद्यपि इन वचनों मे किसी छंद का अनुकरण नहीं किया गया है तो भी उनमे एक विशेष प्रकार का प्रवाह, लय और प्रास विद्यमान है। शिवशरणों ने विभिन्न प्रसंगों में अपने अनुभव की कसौटी पर कस कर अपनी आत्मानुभूति की प्रसादपूर्ण और प्रासयुक्त सरल कन्नड़ में व्यंजना की है। यही आत्मवाणी वचन-साहित्य के रूप मे कन्नड़ साहित्य की अमर निधि बनी है। प्रत्येक वचन अपने मे सम्पूर्ण है। वचन का आकार भी एक-सा नही है। यदि कोई वचन सात आठ वर्णो में समाप्त हो जाता है तो कोई कोई वचन दो पृष्ठो तक चलता है। लेकिन ऐसे लम्बे वचन बहुत कम है। कुछ वचन आकार में छोटे होते हुए भी अर्थ में बडे ही गम्भीर और गहन है। ऐसे भी कुछ वचन मिलते है जो सूत्र की तरह बड़े जटिल और गूढ़ अर्थ के द्योतक हैं। प्रत्येक वचन के अन्त मे रचयिता का कोई सकेत नाम रहता है। जैसा कि बसव के वचन के अन्त में 'कूडलसगमदेव', अल्लम के वचन के अन्त में 'गुहेश्वरा' और अक्कमहादेवी के वचन के अन्त मे 'चेन्नमल्लिकार्जुन'। ये संकेत—नाम शिवशरणों के उपास्य-देव शिव के प्रति लक्ष्य करके कहे गए हैं। यदि किसी वचन में अपने प्रति सबोधन है तो किसी मे मन के प्रति और किसी में अन्य शरणों के प्रति है। इन वचनों में अभिव्यक्त विचार मानव जीवन की आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक तथा नैतिक समस्यायो से सम्बन्ध रखते हैं। कन्नड़ में यह वचन-साहित्य 'वचन शास्त्र' के नाम से भी प्रसिद्ध है। क्योंकि बहुत से वचनों में वीरशैव सम्प्रदाय के तत्वों का प्रतिपादन भी बड़े विस्तार के साथ किया गया है।

इन वचनों की और एक विशेषता यह है कि वचनों के निर्माण के साथ साथ कन्नड भाषा और साहित्य के क्षेत्र में एक नूतन क्रांति उपस्थित हुई। अब तक कन्नड़ में जितने ग्रन्थ लिखे गए थे उनमें भाषा और वस्तु विधान की दृष्टि से पूर्ववर्ती संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथों का अन्धानुकरण किया गया था। भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के कारण बोझिल-सी हो गयी थी। संस्कृत की रचना शैली भी साधारण जनता के लिए बोधगम्य नहीं थी। ऐसे समय में वचनकारों ने पुरानी परिपाटी को तोडकर बडे ही साहस के साथ बोलचाल की भाषा मे अपने विचार व्यक्त किए। अब तक समाज की उच्च श्रेणी के लोग ही साहित्य का रसास्वादन कर सकते थे, लेकिन वचनकारों ने अपने वचनों द्वारा साहित्य को साधारण जनता की भी वस्तु बनाया। बोलचाल की भाषा साहित्य में प्रयुक्त होने के कारण खूब मंज गयी और परवर्ती अन्य सम्प्रदायों के साहित्यकारों पर भी वचनकारों की शैली का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार, वचन साहित्य के द्वारा बारहवी शताब्दी के बाद कन्नड साहित्य की गतिविधि मे नयी स्फूर्ति का संचार हुआ।

यद्यपि बसव के बाद, अर्थात् बारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध के बाद, वचन साहित्य के निर्माण मे विशेष वृद्धि हुई तो भी विद्वानों का मत है कि बसव के क़रीब सौ साल पहले ही वचन साहित्य का आरम्भ हो गया था। अतः ग्यारहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक वचन साहित्य की धारा प्रवाहित हुई। बारहवी और तेरहवी शताब्दियों मे वचन साहित्य अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया था। यह माना जाता है कि लगभग २१३ वचन-कार हुए थे जिनमें लगभग अट्ठाइस स्त्रियाँ भी थीं।

श्री एम० आर० श्रीनिवासमूर्ति ने वचन साहित्य की विशेषता का वर्णन इस प्रकार किया है—"कन्नड़ साहित्य जगत में विचरते हुए जब हम आगे बढ़ते है तब वचन साहित्य-रूपी तपोवन मे प्रवेश करते है। उस समय ऐसे दिव्य आनन्द का अनुभव होने लगता है मानों हमें सिद्ध साधक ऋषि-मुनियों के दर्शन हुए हों, उनके उदात्त जीवन तथा धार्मिक उपदेश से हमारे अंतःकरण की परिशुद्धि हुई हो और आत्मा के बंधन अपने आप टूट कर मुक्तावस्था प्राप्त हुई हो। यहाँ शहरवास का कोलाहल नहीं है, राजाओं के आस्थानों का वैभव नहीं है। तपोवन की सहज शांति, परस्पर प्रेम, समताभाव, स्वातन्त्र्य—ये मूर्तिमान हैं। यहाँ, वचन-साहित्य में धर्म का वैसा ही दर्शन मिलता है जैसाकि अरण्यकों में उपनिषद के दर्शन मिलते हैं। सत्य की जिज्ञासा ही साहित्य का

रूप धर कर, सत्यान्वेषण ही सिद्धान्त बनकर और सत्य का साक्षात्कार ही दर्शन बनकर हमें आनन्द की प्राप्ति कराते है।

यह वचन साहित्य ही तपोवन का उपनिषद साहित्य है। वचनकार ही उपनिषदो के कर्ता महर्षि है। यहाँ 'गुह्यात् गुह्यतरं' का वाद नहीं है, दुराव छिपाव नही है, जाति, लिग, वर्ण के कारण भेद-भाव नही है, अधिकारी-अनधिकारी की चर्चा नही है और न इस प्रकार के तर्क-वितर्क ही है कि वेद बड़ा है या आगम बड़ा है। सबके सम्मुख जो प्रश्न उपस्थित है वे समान है, उनका उत्तर भी समान है।"[१]

वीरशैव-मत का दार्शनिक-पक्ष

वैसे तो यह माना जाता है कि वीरशैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण शैवागमो तथा श्रीपति पण्डिताराध्य के वेदान्त-सूत्र पर लिखे श्रीकर भाष्य नामक ग्रंथ के आधार पर किया गया है। लेकिन वसव, अल्लमप्रभु, सिद्धराम, अक्कमहादेवी जैसे भक्तो के वचनो मे आध्यात्मिक विचारों की जो चर्चा हुई है उसी को इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त के लिए आधार मानना चाहिए। यही कारण है कि इन भक्तो के वचन 'वचनशास्त्र' अथवा 'वचनधर्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है। वचनकारो ने जीव, जगत्, ब्रह्म, मुक्ति, मुक्ति का साधना-मार्ग आदि गहन विचारो पर चिंतन किया है, मंथन किया है और बड़े ही सहज ढङ्ग मे अपने अनुभव की कसौटी पर कस कर आत्मानुभूति को व्यक्त किया है। उनकी अभिव्यक्ति मे ऐसी मौलिकता है कि आध्यात्मिक-ज्ञान की प्राप्ति के लिए और किसी शास्त्र-ग्रन्थ के अवलोकन करने की ज़रूरत नही रह जाती। किन्तु, इन भक्तों के विचार नाना वचनों में बिखरे पड़े है, कही एक ही जगह नही मिल सकते। अतः वचनों के आधार पर नीचे वीरशैव मत के दार्शनिक विचारों का संक्षेप में परिचय दिया जाता है।

वीरशैव एक ही ईश्वर को मानते है जिसे वे 'शिव' कहते है। शिव नित्य है, सर्व स्वतंत्र है, सृष्टि, स्थिति, लय से परे है। वे अवर्णनीय हैं, अनिर्वचनीय है। आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा आदि पचेंद्रियों के लिए अगोचर है, सब वस्तुओं से परे हैं। शिव चैतन्य-स्वरूप हैं, निराकार है। बसव कहते हैं—"जहाँ देखता हूँ वहाँ तुम हो, सब में तुम्हारा विस्तार है, विश्व के बाहु तुम हो, विश्व के नयन तुम हो, विश्व का मुख तुम हो, विश्व के पैर तुम हो, हे कूडल संगम देव।"[२]

१—वचनधर्मसार—श्री एम० आर० श्रीनिवास मूर्ति, पृष्ठ १।
२—बसव वचन—पृष्ठ ७९।

यह परवस्तु ब्रह्म, विष्णु, रुद्र नही है, उनमे भी परे है, और उनके लिए कारण-स्वरूप है।[१] अल्लमप्रभु अपने एक वचन मे शिव का निरूपण इस प्रकार करते है—"यह वह शिशु है जिसके माँ-बाप नही है, तुम स्वय ही पैदा होकर बड़े हुए हो.....अभेद्य हो। अपने चरित्र को तुम ही बता सकते हो।[२]

वीरशैव-मत मे हरि और हर के भेद के वाद के लिए कोई गुजाइश नही है—क्योकि शिव सबसे बडे है, अद्वितीय हैं। बसव कहते हैं "ईश्वर दो है, तीन है—जोश मे आकर, ऐसा मत कहो, ईश्वर एक ही है—दो कहना झूठ है, कूडलसंगम एक ही देव है और दूसरा कोई देव नहीं है।"[३] इस विचार का समर्थन सभी वचनकारो ने किया है।

उपनिषदो मे तत्त्व को 'नेति-नेति' कहा गया है उसी को वचनकारो ने 'बयलु' अर्थात् 'शून्य कहा है।

सृष्टि के सम्बन्ध मे वचनकारो का कहना है कि महाकर्ता अर्थात् शिव अपनी शक्ति के विनोद के लिए जगत् की सृष्टि करता है। इस सम्बन्ध में सिद्ध लिंगेश्वर का वचन देने योग्य है। वे कहते है महाकर्त्ता ने अपनी शक्ति के विनोद के लिए जगत् की सृष्टि की, अनंत लोक, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बिजली, वज्र, काल, कर्म, प्रलय, स्त्री, पुरुष, जाति, विजाति, नर, सुर, किन्नर, स्थल, भोग, आयु, निद्रा, आदि सबको बनाया और अपने विनोद के लिए चौरासी लाख जीवों को पैदा किया। यंत्रवाहक अर्थात् शिव का बनाया नियम कोई भी नही समझ सकता। सब आत्माएं मल के पाश (आणव मल, मायामल, कार्मिक मल) मे बदी हो पशु बन गयी हैं और वह स्वयं पशुपति बन गया है।[४]

यह जगत् परमात्मा का अंश है, पर वही परमात्मा नहीं है। परमात्मा जगत भर में व्याप्त है, इतना ही नही है, वह विश्व से भी अतीत है।

जीव को वीरशैव सम्प्रदाय मे अंग कहते हैं। यह अंग सदाशिव मूर्ति द्वारा उत्पन्न होता है। जब अंग पर अविद्या का आवरण पड़ता है तब वही

१—वचन शास्त्र सार—भाग १ पृष्ठ ८।
२—वही पृष्ठ १८।
३—बसव वचन—पृष्ठ ८१।
४—वचन शास्त्र रहस्य—पृष्ठ ६।

जीव कहलाता है। यह अंग परब्रह्म का एक स्वरूप है और लिंग दूसरा स्वरूप है। अविद्या ही जीव के संसार मे बंधित होने का कारण है। षट्-स्थल-भक्ति-साधना के द्वारा जीव संसार के बन्धन से मुक्त होता है। षटस्थल की आरम्भिक अवस्था मे जीव अपने को परमात्मा से अलग समझता है लेकिन अंत मे भक्ति के सहारे यह द्वैत-भाव दूर होता है।

काश्मीर शैव-सिद्धान्त की तरह वीरशैव-मत शक्ति की सत्ता में विश्वास करते है। शिव अपने ही भीतर स्थित शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टि करते है। शक्ति में शिव के सभी गुण वर्तमान है। शक्ति सर्वज्ञ क्षर्णा है, सत्य सम्पूर्णा है, निर्विकल्पा है और महेश्वरी है। वह अपनी स्वतन्त्र शक्ति के बल से कला-शक्ति और भक्तिशक्ति नामक दो रूपो में विभाजित होती है। कलाशक्ति का सम्बन्ध लिंग के साथ है। इसी कलाशक्ति से जगत की सृष्टि होती है। भक्ति-शक्ति का सम्बन्ध अंग अथवा जीव से है। यह भक्ति-शक्ति भव का नाश करती है। वीरशैव-मत में यही कलाशक्ति माया के रूप मे दिखायी पड़ती है। इस माया का दूसरा नाम है अविद्या। वचनकारों ने माया शब्द को सासारिक बन्धन के रूप में भी प्रयुक्त किया है। लेकिन इस मत मे माया उसी तरह शिव का अंग है जिस तरह गर्मी अग्नि का अंग है।

लिंगायत मत को शक्ति-विशिष्टाद्वैत भी कहते है। इका कारण यही है कि शिव परब्रह्म है, शक्ति उनमे एक-रस होकर विद्यमान रहती है 'सामरस्या-भेद ... ... सम्बन्धेन वर्तमाः'। इस शक्ति मे अद्भुत कार्य करने की शक्ति है। शिव अपनी शक्ति के द्वारा जगत की सृष्टि करते हैं, उसका पालन करते है और लय करते है।

वीरशैव यह मानते हैं कि शक्ति से भक्ति बड़ी है, क्योंकि शक्ति प्रवृत्ति-मार्ग की ओर ले जाती है और भक्ति निवृत्ति-मार्ग की ओर।

शक्ति से आवरण पैदा होता है अतः शिव और अंग के बीच में पर्दा पड़ता है। किन्तु भक्ति इस परदे को हटाने का प्रयत्न करती है। शक्ति से अंधकार उत्पन्न होता है और भक्ति शुभ्रतेज से चमकती है और परदा अथवा आवरण को हटाती है। निम्नलिखित श्लोक में भक्ति और शक्ति का यों वर्णन है :—

यथामहानस ज्वाला विभक्ता दीपिकाकृतिः।
तथा माहेश्वरी शक्तिः विभक्ता भक्तिरूपिणी।
ज्वाला तपस्विनी यस्माद् दीपिका सुप्रकाशिनी।
तस्मात्सवासना शक्तिर्भक्तिर्निर्वासना मता।

भक्तिर्महत्तरो शुद्धा सुसूक्ष्मा शोभना परा।
सच्चिदानन्दरूपा स्यात् भक्तिर्भक्तिप्रकाशः॥

अष्टावरणः

जीव मूलतः शिवस्वरूप है, लेकिन अज्ञान रूपी आवरण के अन्दर बद्ध होता है। फिर से शिवैक्य प्राप्त करने के लिए जीव को अपने अंग के गुणों से मुक्त होकर लिंगत्व प्राप्त करना चाहिए। वीरशैव मत में इस साधना के कुछ सहायक बताए गए है। ये सहायक कवच की तरह साधनावस्था में जीव की रक्षा करते है। ये सहायक आठ है जिन्हे अष्टावरण कहते है। अष्टावरण के नाम इस प्रकार हैं :—गुरु, लिंग, जंगम, प्रसाद, पादोदक, विभूति, रुद्राक्ष और मंत्र।

गुरु—इस मत में लिंग उपासना का प्रधान केन्द्र है। इस उपासना में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है। सबसे पहले गुरु ही जीव को अर्थात् अंग को भक्ति की साधना में लगाता है। परमात्मा के प्रतीक स्वरूप लिंग को शिष्य के हाथ में रख कर गुरु दीक्षा देता है। गुरु की मदद से अंग लिंग की तरफ जाने का निरन्तर प्रयत्न करता है। गुरु के द्वारा धर्म का मर्म मालूम होता है। गुरु तीन प्रकार के हुआ करते हैं—दीक्षागुरु, शिक्षागुरु और मोक्षगुरु। गुरु को परमात्मस्वरूप ही समझना चाहिए। गुरु जीवन्मुक्त है।

लिंग—लिंग का मतलब है परतत्त्व, सच्चिदानन्द स्वरूप। लिंग तीन प्रकार के होते है—भावलिंग, प्राणलिंग और इष्टलिंग। दीक्षा देते समय गुरु इन तीनों लिंगों की स्थापना क्रमशः कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, और स्थूल शरीर में करता है। अंग अर्थात् भक्त इष्ट लिंग को अपने बाएं हाथ में रखकर उसकी पूजा करता है। इस पूजा के समय भक्त इस बात की कल्पना करता है कि मै स्वयं शिव का अंग हूँ, यद्यपि अब उससे अलग हो गया हूँ। अंग लिंग को अपना सहायक तथा मित्र मानता है। इष्ट लिंग के सहारे प्राणलिंग का ज्ञान प्राप्त करता है और अंत में लिंग अर्थात् परतत्त्व में अपना स्वरूप देखता है। इस लिंग-पूजा को अहंग्रोपासना भी कहते हैं। लिंग पूजा में श्रद्धा और अनन्य भक्ति की आवश्यकता है।

जंगम—जंगम जीवन्मुक्त होते हैं जो भक्तों को उनकी आध्यात्मिक-साधना में मदद करने के लिए जगत में घूमते रहते है। जंगम गुरु के समान ही पूज्य हैं। जंगम तीन प्रकार के होते है—स्थिर जंगम, चर-जंगम और पर-जंगम। गुरु, लिङ्ग और जंगम में कोई अन्तर नहीं माना जाता।

पादोदक—गुरु और जंगम के पैर धोए हुए पानी को पादोदक कहते है। चूँकि गुरु और जंगम जीवन्मुक्त है अतः उनका स्पर्श किया हुआ पानी पवित्र माना जाता है और त्रिगुणात्मक मैल को धोने मे सहायक होता है। यह पादोदक सभी तीर्थो का प्रतीक है। इससे देह, मन और भाव की शुद्धि होती है।

प्रसाद—गुरु, लिंग या जगम का दिया हुआ प्रसाद है। इसके सेवन से चित्त की शुद्धि होती है, कर्म-सस्कार का नाश होता है। साधक को चाहिए कि वह जो कुछ खाता है उसे गुरु लिंग या जंगम का प्रसाद समझ कर ही खावे।

विभूति—विभूति का अर्थ भस्म है। चूँकि शिव भस्म को धारण करते है अतः वह परम पवित्र है। जिस प्रकार शिव जी काम को जलाकर भस्म धारण करते है उसी प्रकार इस विभूति के धारण करने से काम, क्रोध आदि षड्वैरियो को जीतने मे मदद मिलती है। जिसके शरीर पर भस्म रहता है उसे पाप छू नही सकता, ऐसा विश्वास है।

रुद्राक्ष—कहा जाता है कि जब त्रिपुरासुर और शिवजी के बीच मे युद्ध हुआ तब शिवजी की आँखो से आँसू के कण नीचे गिरे। ये ही आँसू के कण गाढे होकर रुद्राक्ष बन गए। वीरशैवो मे यह विश्वास है कि रुद्राक्षमाला पहनने से शिव की दृष्टि मे जो स्थिरता है उसका स्मरण हो जाता है। इससे भक्त को अपने ध्यान को स्थिर करने मे सहायता मिलती है। शिवजी परम योगी थे अतः रुद्राक्ष-माला के धारण करने से उनकी योगावस्था का मान होता है। रुद्राक्षमाला की महिमा यों गायी गयी है—

"रुद्राक्षं मुक्ति फलं च, रुद्राक्षं ज्ञानमुच्यते,
रुद्राक्षं ब्रह्ममुच्यते।"[१]

गुरु, लिंग, जंगम द्वारा प्रदान की गई रुद्राक्षमाला को गले में धारण करने या हाथ में लेकर जपने से साधक यह अनुभव करन लगता है कि मै भगवान के संरक्षण में रहता हूँ। इस प्रकार वीरशैव-मतावलम्बी रुद्राक्षमाला को बहुत महत्त्व देते हैं।

मंत्र—अन्य सम्प्रदायो की तरह वीरशैव मत का भी अपना मन्त्र निश्चित है। यह है 'ॐ नमः शिवाय'। यह समझा जाता है कि इस षड्क्षरी मंत्र की महत्ता गहन और अवर्णनीय है। दीक्षा देते समय गुरु इस मन्त्र की शिक्षा

१—वीरशैवामृत महापुराण—प्रथम काण्ड, तृतीय अध्याय।

देते है। वीरशैवों का विश्वास है कि यह मंत्र भक्त के शरीर को मंत्रशरीरी बना सकता है। भक्त को यह समझ लेना चाहिए कि शरीर में यह मंत्र सर्वत्र व्याप्त है। वीरशैवो के अनुसार यह शरीर सदा पवित्र है। नर जन्म को नरजन्म न मान कर हर जन्म ही मानना चाहिए।

पंचाचार:

अष्टावरण की तरह भक्त की साधना मे दूसरा एक सहायक है पचाचार। ये पंचाचार है---सदाचार, गणाचार, नित्याचार, शिवाचार तथा लिंगाचार। शुद्ध नैतिक जीवन बिताना सदाचार है। सत्य और धर्म की रक्षा करना गुणाचार है। पूजा, पाठ, ध्यान, व्रत आदि नियम से करना नित्याचार कहलाता है। लिंग-धारियों को साक्षात् शिव समझ कर उनको आदर देना सदाचार है। बड़ी निष्ठा के साथ लिंग धारण करके प्रतिदिन नियम से उसकी पूजा करना लिंगाचार है।

षट्स्थल-सिद्धान्त

वीरशैवमत का भक्ति-मार्ग षट्स्थल सिद्धान्त कहलाता है। साधक की साधनावस्था को छः भागो मे विभाजित किया गया है और प्रत्येक भाग के लिए एक-एक अलग नाम रख दिया गया है। ये षट्स्थल इस प्रकार हैं— भक्तस्थल, महेश्वर स्थल, प्रसादिस्थल, प्राणलिंगस्थल, शरणस्थल और ऐक्य-स्थल। ये छः स्थल एक प्रकार से छः सीढ़िया है। इन छः स्थलो मे ऐक्य-स्थल प्रधान है। इस स्थल का दूसरा नाम है शून्य सपादने। इसका मतलब यह है कि यहाँ पर जीव का जीवस्वरूप नष्ट होता है और वह शिवरूप में मिल जाता है। षट्स्थल दो प्रधान समूह में रखे गए है। पहला समूह है— भक्त, महेश्वर और प्रसादि और दूसरा समूह है---प्राणलिंग, शरण और ऐक्य। प्रथम समूह मे इष्ट-लिंग की पूजा करते समय क्रिया-भाग प्रधान रहता है और दूसरे मे ज्ञान-भाग। प्रथम भाग कर्म-मार्ग और दूसरा भाग ज्ञान-मार्ग भी कहा जा सकता है। लेकिन सभी भागों मे शिवलिंग की पूजा समान रूप में विद्यमान रहती है। पहला भाग सहमार्ग और दूसरा भाग सन्मार्ग भी कहलाता है। प्रथम भाग की अवस्था में परशिव के प्रति दृढ़ आस्था पैदा होती है और दूसरे भाग में आध्यात्मिक-भावना उत्पन्न होती है जिसमें शिव-स्वरूप के आरम्भिक ज्ञान का अनुभव मिलता है। उसके बाद यह अनुभव आनन्द-भक्ति के रूप में परिवर्तित होता है जो समरस-भक्ति कहलाता है।

प्रथम भाग अथवा कर्ममार्ग मे भक्ति का रूप गौण है और दूसरे भाग में अथवा ज्ञान-मार्ग मे पराभक्ति है ।

इस सम्प्रदाय मे साधक और परमात्मा अथवा जीव और शिव को अंग और लिंग कहते है । परशिव तत्त्व अपनी शक्ति के कारण लिंग और अंग के रूप में विभाजित हुआ । लिंग फिर मे गुरु-लिंग, जगम-लिंग और आचारलिंग मे विभाजित हुआ । ये तीनों फिर मे दो-दो मे विभक्त हुए—महालिंग, प्रसादलिंग, जंगमलिंग अथवा चरलिंग, शिव-लिंग, गुरुलिंग और आचारलिंग । इसी प्रकार अंग, योगांग, भोगांग, त्यागांग और अनुभवांग फिर मे ऐक्य, शरण, प्राणलिंग, प्रसादि, महेश-भक्त, दो-दो मे विभक्त हुए है । इस प्रकार छः लिंग-स्थल और छः अंगस्थल हुए । लिंग और अंग के बीच मे जो विशिष्ट सम्बन्ध है उसी के आधार पर प्रत्येक स्थल का नाम रखा गया है । नीचे प्रत्येक स्थल का अलग से परिचय दिया जायगा ।

भक्तस्थल—चैन्नबसव ने अपने एक वचन मे भक्तस्थल का लक्षण इस प्रकार बताया है । 'भक्त को शांत भाव का होना चाहिये, प्राणिमात्र को अपने समान समझना चाहिए, किसी के प्रति कटुवचन नहीं कहना चाहिए, गुरु, लिंग, जंगम की सेवा तन मन धन से करनी चाहिए । अपात्र को दान नहीं देना चाहिए । सब इंद्रियों को अपने वश मे रखना चाहिए । शरीर को निर्मल रखना चाहिए । लिंग की पूजा करके प्रसाद पाने का यही साधन है ।"[१] और एक वचनकार का कथन यों है—"भक्त को पके केले की तरह मुलायम और मीठा होना चाहिये, भक्त को गुड़ की भेली की तरह होना चाहिए, भक्त को आम की तरह रहना चाहिए—ये ही सद्भक्त है ।"[२]

भक्त को दीक्षा के समय गुरु के द्वारा प्राप्त इष्ट लिंग के सिवा स्थावर-लिंग की पूजा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इष्ट-लिंग ही परदेव है । इष्टलिंग से कभी अलग न होकर सदा उसकी नियम से पूजा करनी चाहिए । लिंग और जंगम को समान इसीलिए समझना चाहिए कि भक्तों का उद्धार करने के लिए शिव जंगम बनकर आते है । भक्त को साधु सज्जनों की संगति करनी चाहिए, क्योंकि भक्त को अपनी साधना में इनसे प्रेरणा तथा सहायता मिलती है । संक्षेप में भक्तस्थल की विशेषता इस प्रकार है—(१) एक मात्र परतत्त्व शिव में विश्वास रखना और उसकी भक्ति करना और किसी की पूजा न करना ।

१—वचनधर्मसार—एम० आर० श्रीनिवासमूर्ति—पृष्ठ १३१ ।
२—वचनशास्त्रसार—भाग १—पी० जी० हलकट्टि—पृष्ठ १९३ ।

(२) गुरु के दिए हुए इष्टलिंग को परब्रह्म शिव का प्रतीक समझना।

(३) पवित्र आचरण रखते हुए वीरशैव सम्प्रदाय के सभी विधि-नियमों का कड़ाई के साथ पालन करना।

(४) जीव और शिव में अंतर भलीभाँति समझना, क्योंकि जब जीव भक्त है और तब जिसके प्रति भक्ति की जाती है उसका अलग होना अनिवार्य है। शिव जीव से महान है और जीव शिव का एक अदना-सा दास है।[1]

इस स्थल में सद्भक्ति की वृद्धि होती है और वह स्थिर होती है। सत्क्रियाचरण द्वारा कर्मेन्द्रियों में निवृत्ति पैदा होती है, शरीर के प्रति जो मोह है वह दूर होता है और अंतरंग की शुद्धि होती है। अब भक्त निष्ठा-पूर्ण भक्ति करने योग्य बनता है।

महेश्वर स्थल

"अनृत, अनाचार, हिंसा, परधन, परस्त्री, परनिंदा—इन सबों से मुक्त होकर लिंग के प्रति निष्ठा का भाव रखना ही महेश्वर-स्थल है।"[2] इस स्थल में भक्त की भक्ति निष्ठा के रूप में परिणत होती है। "परधन को नहीं चाहने का हठ चाहिए, परस्त्री को नहीं चाहने का हठ चाहिए, अन्य देवों को नहीं मानने का हठ चाहिए, लिंग और जंगम एक ही है ऐसा हठ चाहिए, दूसरे मत का खण्डन करने में हठ चाहिये, प्रसाद सत्य है ऐसा हठ चाहिए, जिसमें ऐसा हठ नहीं है उसे कूडलसंगमदेव नहीं चाहते।"[3]

इस स्थल में भक्त के मन की चंचलता दूर होती है और ऐसी दृढ़ता आती है कि वह किसी भी प्रकार के प्रलोभन से अपनी रक्षा कर सकता है। सभी व्रत-नियमों का वीरता के साथ पालन करने में वह समर्थ बन जाता है। इस स्थान में निष्ठाभक्ति स्थापित होती है।

(ग) प्रसादिस्थल

जब अंतरंग में शान्ति स्थापित होती है और ज्ञान का उदय होता है तब सर्वत्र शिव को देखने का स्वभाव, सब कार्य शिव का कार्य समझने की बुद्धि, अपने को शिव आश्रय में पाकर जो कुछ मिलता है उसे शिव का प्रसाद

१—एस० सी० नंदीमठ—A Hand Book of Virasaivism, Page, 168-169.

२—सिद्धेश्वर वचन पृ० ६१।

३—बसवबण्णनवर षट्स्थल वचन—शि० शि० बसवनाल पृ० १८१।

समझने का ज्ञान उत्पन्न होता है। यही प्रसादि स्थल है। श्रीबसव अपने एक वचन में प्रसादि स्थल का बहुत सुन्दर निरूपण करते है—"लिग के लिए ही चिन्ता करता हूं, लिग के लिए ही सब कुछ करता हूँ, जो कुछ देता हूँ लिग को ही देता हूँ, सब कुछ लिग के लिए ही है, ऐसा समझता हूँ, मैं अपने अंग के गुणों से बिलकुल अनभिज्ञ हूँ, निष्काम भाव से लिग के लिए ही सब कुछ चाहता हूँ, मेरा शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि लिग की पत्नियाँ है, लिग के लिए ही चाहकर लिग-प्रागी बनी है, ऐसी कोई चीज नही है जिसे मैं लिग को अर्पित नही करता।"[1]

इस स्थल मे जीव का 'अह' पूर्ण रूप से दूर हो जाता है। सच्चा प्रसादि वह है जो लिग के प्रसाद ही से अपना अस्तित्व मानता है, किसी वस्तु की इच्छा नही करता है, और यह समझता है कि सब पदार्थ अपने आप लिग मे अर्पित होते है। फल, फूल आदि किसी चीज को तोडकर अर्पित करने की ज़रूरत नही है, वे चीजे स्वयं ही लिग में अर्पित होती है, क्योंकि लिग ही सब का सचालन करता है। 'यत्र जीवस्तत्र शिवः' वाला भाव जगता है। प्रसादि स्थल मे भक्त का हृदय परज्योति के प्रकाश से उज्ज्वल बनता है।

प्राणलिगस्थल

ऊपर के तीनो स्थलो मे कर्म प्रधान रहता है और ज्ञान अप्रधान। प्राणलिग-स्थल के बाद ज्ञान प्रधान बनता है और कर्म अप्रधान। अब तक शरीर और मन के द्वारा भक्ति की साधना की जाती है। चचल मन को स्थिर बनाकर बाह्य जगत द्वारा परमात्मा का जो साक्षात्कार हुआ है उसका आतरिक सूक्ष्म साक्षात्कार यहाँ पर कराया जाता है। इन तीन स्थलों में आत्मा के स्वरूप का ज्ञान मिलता है।

"लिग ही प्राण है, प्राण ही लिग है, अग लिग बन गया, गुहेश्वर लिग मे सर्वांग, प्राणलिग मिल गया।"[2] अब साधक अपने अंदर ही लिग का दर्शन पाता है। जमीन के अन्दर छिपी निधि की तरह अन्दर व्याप्त परंज्योति के दर्शनार्थ प्राणलिग अन्तर्मुखी होकर शिवयोग मे मग्न होता है। इसके पहले के स्थलो मे चित्त की शुद्धि हुई है, बुद्धि निर्मल बन गयी है, जीव अहकार से मुक्त हो गया है, मन में स्थिरता तथा शांति स्थापित होगयी है,

---

१—वचन शास्त्र सार–भाग २–पी० जी० हलकट्टि पृ० १३।

२—चवन शास्त्र सार–भाग २ पृ० १०४।

'इंद्रियाँ वश मे लायी गयी है। अत. अब आत्मा को लिंग ज्योति दिखायी पड़ती है। आत्मा को अपने स्वरूप का भान होता है तथा आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बढ़ता है। यहाँ की स्थिति अनुभव द्वारा समझी जाती है, अतः इसे 'अनुभव भक्ति' भी कहते है।

(ङ) शरणस्थल:

इस स्थल मे पहुंच कर भक्त शिव के प्रति अपना सब कुछ अर्पण करता है। यह भक्ति श्री वैष्णव संप्रदाय की शरणागति अथवा प्रपत्ति से मिलती जुलती है। जिसने अपना सर्वार्पण किया है उसे शरण कहते है। शरण वह है जो ज्ञानी है, नित्यानित्य को जानने वाला है, जिसने देह और संसार के मोह से अपने को मुक्त कर लिया है। शरण लिंग की महिमा जानता है और बाहर और भीतर लिंग का सदा स्मरण करते हुए लिंग के गुणों से युक्त है। जब शरण अन्तर्मुखी होता है तब कारण तनु और भाव लिंग का सम्बन्ध समझता है और जब वह बहिर्मुखी रहता है तब स्थूल सूक्ष्म तनुओं का व्यवहार करता है, तो भी तनु और मन के गुणो मे बाधित नही होता। "जहाँ शरण रहता है वही इहलोक, परलोक रहते है, वहीं गगन, मेरू, मन्दर रहते हैं, वही सकल भुवन रहते है, वही सत्य, नित्य, निरंजन शिवतत्त्व रहते है—वहीं चन्द्र सूर्य तारामण्डल रहते है····· "[1]

शरण स्थल के आरंभ में द्वैत-स्थिति विद्यमान रहती है, धीरे-धीरे वह अदृश्य होने लगती है। संभवतः इस स्थल के अन्त तक वह बनी रहती है।

(च) ऐक्यस्थल:

इस स्थल में पहुँच कर जीव और शिव अथवा अंग और लिंग में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता। पूजा करने वाला और जिसकी पूजा की जाती है—ये दोनों एक हो जाते है। निम्नलिखित वचन में ऐक्यस्थल की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की गई है। "जीव का शिव से मिलन उसी तरह है जिस तरह घी मे घी मिल जाता है, दूध से दूध मिल जाता है, तेल से तेल मिल जाता है, पानी में पानी मिल जाता है, ज्योति में ज्योति मिल जाती है, आकाश में आकाश, प्राण मे प्राण मिल जाता है। यही लिंग-समरस है····· ।"[2]

१—प्रभुदेवर रगळे, पृ० १७९।

२—वचन शास्त्र सार—भाग २, पृ० २५१।

पहले दो वस्तुएँ थीं, अब दोनों मिल कर एक हो गई हैं। यह है सम्पूर्ण समरस ऐक्य। वचनकारों ने निर्वाण-शब्द का बराबर प्रयोग किया है। निर्वाण शब्द का अर्थ 'कैवल्य' या 'मोक्ष' ही है। यह निर्वाण अथवा ऐक्य भक्त के जीवित समय ही हो सकता है। शरीर के रहते ही जो ऐक्य-स्थिति पाता है उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

संक्षेप में षट्स्थल का अर्थ इस प्रकार है—भक्तस्थल में भक्त लिंग मे पूर्ण विश्वास रखता है और अनन्य भक्ति से नियमानुसार पूजा उपासना करता है। इस स्थल में भक्ति और नैतिक जीवन पर विशेष जोर दिया गया है। महेश्वरस्थल में भक्तस्थल के गुणों के अतिरिक्त भक्ति की साधना में दृढता, धैर्य, विधि-नियमों के पालन में हठ आदि गुणों का समावेश होता है। विशेष निष्ठा का भाव जगता है। प्रसादिस्थल में पिछले दोनों स्थलों के गुण तो रहते ही है, इसके अतिरिक्त सब कुछ लिंग में अर्पण करने की वृत्ति आ जाती है। प्राणलिंगि स्थल में लिंग मे संपूर्ण लय अर्थात् लीन होने की दृष्टि मिलती है। यहाँ पर योग की प्रक्रियाओ पर जोर दिया जाता है। शरणस्थल में लिंग और अंग के योग का अनुभवयुक्त ज्ञान प्राप्त होता है। जब ज्ञान में स्थिरता आती है तब समरस अर्थात् ऐक्य की सिद्धि होती है। यद्यपि ये स्थल छः है तो भी क्रमशः इनका विस्तार छत्तीस, एक सौ एक, दो सौ सोलह, स्थलों में किया जाता है।

षट्स्थल सिद्धान्त मे कर्म, ज्ञान, भक्ति का समन्वय किया गया है। इन छः सीढ़ियों मे भक्ति के विकास का क्रम इस प्रकार है :—[1]

स्थल	भक्ति
भक्तस्थल	सद्भक्ति
महेश्वरस्थल	निष्ठाभक्ति
प्रसादिस्थल	अवधानभक्ति
प्राणलिंगिस्थल	अनुभवभक्ति
शरणस्थल	आनन्दभक्ति
ऐक्यस्थल	समरसभक्ति

इस षट्स्थल में द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत तत्त्वों का भी सुन्दर समावेश किया गया है। महेश्वरस्थल तक द्वैत भाव रहता है। प्राणलिंगिस्थल और

१—वचन धर्म सार—एम० आर० श्रीनिवास मूर्ति, पृ० १५५।

शरण स्थल में विशिष्टाद्वैत है और ऐक्य-स्थल में अद्वैत-भाव की सिद्धि होती है। इस भक्ति के सिद्धान्त को सामरस्य सिद्धान्त भी कहते हैं। यही वीर-शैव-मत का सार सर्वस्व है।

वीरशैव भक्तों की परम्परा

आरम्भ—अब इस बात मे कोई सन्देह नही रह गया है कि वीरशैव सम्प्रदाय का आरम्भ करने वाले बसव नहीं थे, बसव के पहले ही कर्नाटक में वह सम्प्रदाय प्रचलित था और बसव ने केवल उसका पुनरुद्धार किया। कन्नड के विद्वान यह भी मानने लगे है कि वचन-साहित्य का आरम्भ भी बसव के पहले हो गया था, क्योकि बसव तथा उनके समकालीन भक्तों के वचन-साहित्य की भाषा तथा शैली में ऐसी प्रौढता पाई जाती है कि यह निश्चय ही कहना पड़ता है कि बसव के पहले ही यह वचन-शैली चल पड़ी थी। डा० नन्दीमठ यह मानते है कि लगभग ग्यारहवी शताब्दी से अर्थात् बसव के क़रीब एक सौ साल पहले कन्नड मे वचन-साहित्य रचा जाने लगा था।[1] श्री दिवाकर का भी यही अनुमान है।[2] लेकिन सर्वप्रथम वचनकार कौन थे इसका कुछ निर्णय अब तक नही हो पाया है। बसव तथा उनके साथियो ने अपने वचनो में 'आद्यों के वचन', 'शरणो के वचन', 'पुरातनो के वचन' आदि शब्दों का प्रयोग किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि बसव के पहले वचनकार हो गए थे। बसव के पूर्ववर्ती वचनकारो मे सकलेश मादरस, देवरदासिमय्या, एकान्तदरामय्या आदि के नाम उल्लेखनीय है। देवरदासिमय्या अथवा जेडरदासिमय्या (सन् १०४० ई०) जुलाहे जाति के थे। इनकी कहानी बसवपुराण तथा चेन्नबसव पुराण मे कही गयी है। जनश्रुति है कि ये चालुक्य राजा की रानी सग्गव्वदेवी के गुरु थे और इन्होने जैन राजा को वीर शैवमतावलम्बी बनाया था। इनके वचनों मे 'रामनाथ' उपनाम का प्रयोग हुआ है। एकांतदरामय्या (लगभग सन् ११६०) एक प्रसिद्ध भक्त हो गये है। डा० फ्लीट ने शिलालेखो के आधार पर इनके जीवनवृत्त का थोड़ा सा परिचय दिया है।[3] यह बताया गया है कि ये पुरुषोत्तम और पद्मांबिका नामक शैव ब्राह्मण-दम्पति के पुत्र थे जो आलंदे नामक कुंतल देश के एक गाँव के निवासी थे। बसव पुराण

1—A Hand Book of Virasaivism—Dr. Nandimath—Page 19—20.

2—Vachana Sastra Rahasya—Divakar, R. R.—Page 163.

3—Epigraphia Indica Vol. V. P—245.

तथा चैन्नबसव पुराणों में भी इनकी कहानी कही गयी है। इन्ही को अक्सर वीरशैव मत का जन्मदाता भी बताया जाता है। सकलेश मादरस (लगभग सन् ११५०) बसव पुराण के अनुसार कल्लकुरिके नामक प्रदेश के सामन्त राजा थे। उनके पिता मल्लरस वीरशैव भक्त थे और श्रीशैल में रहा करते थे। मादरस भी अपने पिता की तरह बाद को विरक्त हो गए और कल्याण के बसव आदि भक्तो की मण्डली में जा मिले थे।

कल्याण में बसव द्वारा स्थापित शिवानुभव-मण्टप अथवा अनुभव मण्टप मे वीरशैव भक्तों का नए सिरे से संगठन किया गया। इस अनुभव मण्टप के प्रधान अल्लमप्रभु थे जो एक बड़े तपस्वी पुरुष थे। इस मण्टप में सैकड़ों भक्त आध्यात्मिक-चर्चा के लिए इकट्ठे होते थे जिन मे अल्लमप्रभु, बसव, चैन्नबसव, सिद्धराम तथा अक्कमहादेवी प्रमुख थे।

अल्लमप्रभु

अल्लमप्रभु बसव के समकालीन (सन् ११६०) थे जिनका वीरशैव भक्तो में महत्त्वपूर्ण स्थान था। बसव पुराण, चेन्नबसव पुराण आदि कई वीरशैव साम्प्रदायिक ग्रन्थों में प्रभुदेव के जीवन-वृत्त का परिचय दिया गया है। चामरस नामक कवि के लिखे 'प्रभुलिग लीले' नामक काव्य में अल्लम शिव का अवतार बताया गया है और बडे ही विस्तार के साथ उनकी कहानी कही गयी है। अल्लम का जन्म कहाँ हुआ और उनके माता पिता कौन थे इसका कुछ ठीक-ठीक पता नही है। श्री एम० आर० श्री निवास मूर्ति ने लिखा है कि अल्लम का जन्म मैसूर राज्य के शिवमोग्ग ज़िले में बल्लिव्ठगावे नामक जगह में हुआ था और उनका विवाह कामलता नामक एक रूपवती लड़की से हुआ था। लेकिन कुछ ही दिनो में उसकी सन्निपात ज्वर से मृत्यु हो गई। अपनी प्यारी पत्नी की आकस्मिक मृत्यु के कारण अल्लम संसार से विरक्त हो जगल में जाकर दीर्घ काल तक तपस्या करते रहे जिसके फलस्वरूप उन्हें आत्म-ज्ञान की सिद्धि हुई।[1] श्री दिवाकर जी ने बताया है कि अल्लमप्रभु कारबार ज़िले के बनवासी के निवासी थे और नागवसाधिपति और सज्जन देवी नामक शिवभक्त दम्पत्ति के पुत्र थे। पहले इनका नाम अल्लम था और बाद को अपने महान गुणों के कारण महाप्रभु, प्रभु, प्रभुदेव के नामों से सम्मानित हुए। इनकी पत्नी का नाम था कामलता। इनकी रचनाओं मे "गुहेश्वर" उपनाम पाया जाता है।

१—वचनधर्मसार—श्री निवास मूर्ति एम० आर०—पृ० ६७, ६८।

संसार से विरक्त होने के बाद इन्होने अनुभिषदेव नामक शिवयोगी से दीक्षा ली। अनन्तर अल्लमप्रभु ने शिवाद्वैत-तत्त्व का उपदेश देते हुए सारे देश की यात्रा की। यात्रा से लौट कर अपनी शिष्य-मण्डली के साथ जाकर कल्याण नगर मे बसव आदि भक्तो से मिले। अल्लम जैसे महान विरक्त और ज्ञानी के संसर्ग से बसव में जो कुछ अहं-भाव था वह दूर हुआ और कल्याण के सब भक्त अल्लम के असाधारण व्यक्तित्व से विशेष प्रभावित हुए। परिणामस्वरूप बसव द्वारा स्थापित अनुभव-मण्टप के अल्लमप्रभु प्रधान चुने गए। कुछ दिनों के बाद अल्लमप्रभु ने पौन्नवलनाथ, रामेश्वर, महाबलेश्वर, सौराष्ट्र सोमनाथ, केदार जैसे तीर्थो की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। इसी यात्रा के समय अल्लम को शिवयोग का पूर्णानुभव हुआ। इस प्रकार परशिव का साक्षात्कार पाकर अल्लम कल्याण लौटे और बसव द्वारा स्थापित साम्प्रदायिक आध्यात्मिक-गद्दी का अध्यक्ष-पद ग्रहण किया।[1] यह आध्यात्मिक गद्दी वीरशैवो मे 'शून्य सिहासन' कहलाती है।

डा० नन्दीमठ ने अल्लम की रचनाओ की सूची दी है। वह इस प्रकार है :—(१) षटस्थल ज्ञान चारित्र्य (२) शून्यसम्पादने (३) मन्त्रगोप्य (४) सृष्टि वचन (५) वेडगिन वचन (६) मन्त्र महात्म्य (७) कालज्ञानद वचन।[2]

अल्लम के वचन आकार मे छोटे होते हुए भी आध्यात्मिक ज्ञान के भण्डार है। भक्ति-साधना के मार्ग मे अल्लम को किसी प्रकार का ढकोसला, बेईमानी, भ्रष्टाचार सह्य नही था। जब वे कल्याण आए तब वहां बसव के आश्रम में एक बड़ी भक्त-मण्डली सगठित हो गई थी। बसव तो इतने उदार और कोमल स्वभाव के महात्मा थे कि कभी किसी से वे दिल दुखाने की बात नही कहते थे। इसका यह परिणाम हुआ कि बहुत-से ऐसे लोग जमा हो गए थे जो स्वार्थी व वेषधारी थे। जब अल्लम शिवानुभवमण्टप के प्रधान चुने गए तब उन्होने कपटियो को मण्टप में रहना कठिन कर दिया। अल्लम ऐसे खरे और स्पष्टवादी थे कि वेषधारियो का उनके सम्मुख कुछ वश नही चलता था। ऐसे लोगों को लक्ष्य करके अल्लम ने खूब फटकारा है। "जिसमे सद्भक्ति सदाचार नहीं है उसमे कैसे गुरुत्व आ सकता है। सद्भक्ति और सदाचार के बिना हे पगलो, निर्जलिंग कैसे प्राप्त हो सकता है? सद्भक्ति और सदाचार के बिना

१—**वचन शास्त्र रहस्य—श्री दिवाकर—पृ० १८५, १८६।**

२—A Hand Book of Virasaivism—डा० नन्दीमठ—P. 28.

कोई व्यक्ति जंगम और शरण कैसे बन सकता है ? सद्भक्ति और सदाचार के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती ।"[१]

"जो सत्य नहीं बोलता, जो सदाचारी नहीं है, जिसमें सद्भक्ति नहीं है, जो सत्क्रिया नहीं करता, जिसमें सम्यक्-ज्ञान नहीं है उसकी वेशभूषा देख कर गुहेश्वर लिंग हँस रहे हैं, धिक-धिक ऐसे लोगों को ।"[२]

अल्लम की राय में सच्चे ज्ञानी वे ही हैं जो अपने को ज्ञानी नहीं समझते। पर तत्त्व को जानना आसान नहीं है। जो यह समझते हैं कि हमने परब्रह्म को जान लिया है उन्होंने कुछ जाना ही नहीं है। ज्ञानी तो निरहंकारी है।[३]

जो जीवन्मुक्त हैं उन्हें मरने के बाद मुक्ति अवश्य ही मिल जाती है। जो जीवन्मुक्त नहीं है उन्हें इस भौतिक शरीर को छोड़ने के बाद मुक्ति कैसे मिल सकती है ? मुक्ति के लिए जीवन्मुक्ति पहली सीढी है। अतः अल्लम कहते हैं—मरने के बाद मुझे मुक्ति मिलेगी ऐसा समझ कर पूजा करूं तो भगवान क्या मुक्ति दे सकेंगे ? बिना मरे ही जगत के बन्धनों से मुक्ति पाकर ईश्वर और जीव का अभेद-ज्ञान जो पाते हैं वे ही, हे गुहेश्वर, तुम्हारे शरण हैं।[४] अल्लम यह मानते हैं कि जब तक सच्ची भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की साधना द्वारा अन्तः-शुद्धि नहीं होती तब तक केवल बाहरी क्रियाओं से कोई लाभ नहीं है। प्रभुदेव मानव-मानव में किसी प्रकार का भेद नहीं मानते। ऐसी थी उनकी विशाल-मनोवृत्ति।

प्रभुदेव के व्यक्तित्व का प्रभाव वीरशैव शरणों पर गहरा पड़ा था। अल्लम की जीवनी पर लिखा हुआ चामरस का 'प्रभुलिंगलीले' नामक महा-काव्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

बसव

बसव-बसवेश्वर और बसवण्ण के नाम से भी प्रसिद्ध है। बसव के जीवन-वृत्त पर कन्नड़, तेलुगु, तमिल और संस्कृत में बहुत-से ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमें सब से पुराना पालकुरिके सोम (सन् ११९५ ई०) का तेलुगु में लिखा हुआ ग्रंथ है जिसके आधार पर भीमकवि नामक कवि ने कन्नड़ में सन् १३६९ में "बसव पुराण" लिखा। सन् १६३० में घरणीपण्डित नामक जैन-कवि ने राजा बिज्जळ की जीवनी का वर्णन करते हुए बसव के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला है। इसमें बसव के व्यक्तित्व का काला चित्र खींचा गया है।

१—वचन धर्मसार पृ० ७७। २—वही पृ० ७७।
३—वही ४—वही पृ० ७१।

बसव शैवब्राह्मण दम्पत्ति मादरस और मादलम्बिका के पुत्र थे। उनका जन्मस्थान विजापुर जिले का बागेवाडी नामक गाँव था। कहा जाता है कि बसव बचपन मे बडे क्रांतिकारी विचार रखते थे। जब उनके माँ-बाप ने उपनयन-संस्कार कराना चाहा तब बसव घर से भाग गए और कृष्ण-मलापहारि नामक नदियों के संगम पर स्थित तीर्थ-क्षेत्र में रहने लगे। जातवेद नामक एक वीरशैव तपस्वी से दीक्षा लेकर वहीं लगभग पच्चीस साल रहे। कहा जाता है कि उन्होने संगम मे यात्रा के लिए आये हुए बहुत से पण्डितों को आध्यात्मिक चर्चा करके हराया था। धीरे-धीरे बसव की भक्ति और अध्यात्म ज्ञान की कीर्ति दूर दूर तक फैली। कल्याण नगर के जैन राजा बिज्जळ के मन्त्री बलदेव की लडकी गंगाम्बिका से बसव का विवाह हुआ। बसव के असाधारण व्यक्तित्व का परिचय पाकर बिज्जळ ने कुछ समय के बाद उन्हे अपना प्रधान मन्त्री तथा सेनानायक बनाया। यद्यपि बसव राजकाज के कार्य मे निरत थे तो भी उनकी भक्ति-साधना मे किसी प्रकार की क्षति नहीं हुई। थोड़े ही समय मे उनके पास बड़ी भारी एक भक्त मण्डली जुट गयी। जनश्रुति है कि उनके आश्रय मे एक लाख छियानबे शिवशरण अर्थात् वीरशैव भक्त इकट्ठे हो गए थे। जब इतनी बड़ी संख्या में वीरशैव भक्त बसव के उदार आश्रम मे रह कर वीरशैव मत का प्रचार करने लगे तब सम्भवत: जैन मतावलम्बियो मे बसव के प्रति विरोध बढ़ने लगा और यह विरोध विद्रोह का रूप ग्रहण कर गया। इस विद्रोह का यह परिणाम हुआ कि बिज्जळ ने उन दो शिवशरणो को मरवाया जो पहले शैव ब्राह्मण थे और बसव के प्रभाव से वीरशैव हो गए थे। इस हत्या के कारण शिवशरणों में भी प्रतिहिंसा की भावना तीव्र हुई। बसव तो स्वभाव से ही अहिंसा, शील और चारित्र्य की मूर्ति थे। उन्होंने इस परिस्थिति को शांति से संभालने की कोशिश की। लेकिन उन्हें जब यह भास हुआ कि इस मामले में मेरा कुछ बस नहीं चलेगा तब वे राजसी सुख-भोग तथा अधिकार को ठुकरा कर संगमतीर्थ चले गए और वही अन्त तक अनन्य भक्ति की साधना में निरत रहे। जैन मतावलम्बी बिज्जळ की हत्या का अपराध बसव पर डालते हैं और वीरशैव लोग यह साबित करने का प्रयत्न करते है कि बिज्जळ की हत्या से बसव का कोई सम्बन्ध नही है। बिज्जळ की हत्या तो एक ऐतिहासिक घटना है और इस हत्या का कारण क्या था इसका कोई निर्णय अब तक नहीं हो सका है और अब भी शोध का विषय बना हुआ है।

बसव के वचनों की संख्या लगभग नौ सौ सत्तर है। इन वचनों के कई सम्करण निकले है।

बसव का कार्य-क्षेत्र अति विशाल था। वे न केवल एक भक्त-श्रेष्ठ थे बल्कि एक आध्यात्मिक नेता, मतस्थापक, समाज-सुधारक भी थे। बसव ने अपने समय मे जितनी सामाजिक बुराइयाँ फैली हुई थी उनका साहस के साथ खण्डन किया और जाति, वर्ग, कुल, वर्गगत कृत्रिम ऊँच-नीच का भेद-भाव दूर कर सत्य, प्रेम, नीति के आधार पर एक नूतन समाज की स्थापना करने का प्रयत्न किया। स्त्री-समाज के प्रति जो तिरस्कार का भाव था उसे हटा कर उन्हें पुरुषों के बराबर गौरव का स्थान दिलाया। अन्त्यजों के लिए भी धर्म का द्वार खोल दिया। तत्त्वज्ञान की अपेक्षा धर्माचार की महत्ता पर ज़ोर दिया, धर्माचार में नीति, शील और सदाचार की आवश्यकता बतायी, कर्म और ज्ञान के समन्वय के साथ-साथ अनन्य भक्ति-साधना का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार बसव ने मानव मात्र की सर्वतोमुखी उन्नति और मुक्ति के लिए निरन्तर परिश्रम किया। इन्ही उपर्युक्त ऊँचे आदर्शो की सिद्धि के लिए उन्होने वीर-शैवमत का पुन. संगठन किया। एक नूतन-मत की स्थापना करके सम्प्रदायो की सख्या बढाने का उद्देश्य सम्भवत: उनका नही था। अगर बसव के बाद वीरशैव सम्प्रदाय की भी वही दशा हुई जो अन्य सभी मतों की हुई है तो उसका कारण यही कहा जा सकता है कि बसव मे जो दूरदर्शिता थी, उदात्त-भावना थी, विशाल मनोवृत्ति थी वह आगे नहीं रही। बसव में जो भक्ति, निष्ठा तथा तपस्या थी वह उनके परवर्ती अनुयायियो मे नही रही।

बसव की भक्ति प्रधानतया दास्य-भाव की थी। इस दास्य-भाव के अन्तर्गत नाना दशाओं का बसव ने बड़ा ही मार्मिक चित्र खीचा है। एक वचन मे वे अपनी विह्वलता की अभिव्यक्ति यों करते है :—"प्रभो, प्रभो, कह कर पुकार रहा हूँ, प्रभो, प्रभो, कह कर चिल्ला रहा हूँ, प्रभो, क्यों नही यह कहते 'आगया' सदा तुम्हे पुकार रहा हूँ, 'आया' कहे बिना हे कूडलसंगम देव, मौन धारण किए हुए हो ?[१]

भक्त और परमात्मा की तुलना करते हुए वे कहते है 'मुझसे कोई छोटा नहीं है, शिवभक्तों से बढ़ कर कोई बड़ा नही है। हे कूडलसंगम देव, तुम्हारे चरण इसके लिए साक्षी हैं, मेरा मन साक्षी है।"[२] और कभी अपने अपराधो

१—वचनधर्मसार—एम० आर० श्री निवासमूर्ति—पृ० ३५।
२—वही ,, पृ० ४९।

को गिनते हुए वे कहते है 'जब मै अपराधों को गिनने लगता हूँ तब उसका अन्त नही होता, आचार-व्यवहार में गल्ती करता हूँ, काम-काज में गल्ती करता हूँ, कुछ देने मे गल्ती करता हूँ, जाने-अनजाने में गल्ती करता हूँ, हे कूडलसंगम देव, इन गल्तियो का ख्याल न करो, मुझे क्षमा करो।"[१] क्योकि बसव यह अनुभव करने है कि वे बहुत छोटे है और परमात्मा बहुत बड़े है—"तुम महान हो, तुमसे मै क्या बराबरी कर सकता हूँ ! मेरू पर्वत कहाँ और एक कौआ कहाँ ? लोहे मे चुम्बक शक्ति कहाँ से आवे ?" अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहते है "इस मन की चंचलता का क्या बखान करूँ ? पेडो की एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने वाले बन्दर की तरह मेरा यह मन कूद रहा है। ऐसे दुष्ट मन का मै कैसे विश्वास करूँ ?"[२]

बसव यह समझते है कि भगवान के प्रति सब कुछ अर्पण किए बिना भक्ति नही हो सकती। वे कहते है—"मुझे ब्रह्म-पदवी नहीं चाहिए, विष्णु-पदवी नही चाहिए, रूद्रपदवी नही चाहिए, और किसी प्रकार का ऊँचा पद नही चाहिए, हे कूडलसगमदेव, तुम्हारे सद्भक्तों के चरणों का आश्रय मिल जावे तो वही काफी है।"[3]

परमात्मा को प्रसन्न करने का सबसे उत्तम और सरल मार्ग भक्ति है, यही बसव का दृढ़ विश्वास है। वे स्पष्ट शब्दो में कहते हैं—"हमारे कूडलसंगम देव नादप्रिय नही है, वेदप्रिय नही है, केवल भक्तिप्रिय है।"[४] "शास्त्र को बड़ा कहूँ, वह तो कर्म काण्ड की पूजा करता है, वेद को बड़ा कहूँ, वह प्राणिवध का उपदेश देता है, स्मृति को बड़ा कहूँ, वह तो अंधेरे में तुम्हें ढूढ रहा है, वहाँ तुम नही हो, हे कूडलसंगमदेव तुम त्रिविध दासोह से अर्थात् गुरु, लिग जंगम की सेवा करने से प्रसन्न होते हो।"[५] यद्यपि परमात्मा भक्ति द्वारा बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं तो भी भक्ति करना आसान नही है। भक्ति-साधना असिधाराव्रत की तरह कठिन साध्य है, क्योंकि भगवान भक्तों की कई तरह से जाँच करते हैं "हर (शिव) अपने भक्तों की पैने चाकू चला कर परीक्षा करते हैं, सोने की तरह कसौटी पर कस कर देखते हैं, चंदन की तरह पीस कर देखते

१—वचनधर्मसार—एम० आर० श्री निवासमूर्ति, पृ० ४३।
२—वही ,, पृ० ४२।
३—वही ,, पृ० ४९।
४—वही ,, पृ० ३५।
५—वसवण्णनवर षटस्थलद वचनगळु—पृ० ५५।

है, इतना मारा करने पर भी यदि नहीं डरे तो भगवान अपने भक्त को अपने हाथों में उठा लेते हैं।[1] बसव की भक्ति-साधना में धर्माचरण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। वह धर्म क्या है? बसव ने धर्म की व्याख्या बड़ी सरलता के साथ की है :—"दया रहित धर्म कैसा? सब प्राणियों के प्रति दया चाहिए, दया ही धर्म का मूल है।"[2]

भारत के अन्य भक्तों की तरह बसव ने भक्ति-साधना में गुरु का स्थान महत्त्वपूर्ण बताया है। "शिवपथ को जानने के लिए गुरुपथ का ज्ञान सबसे पहले प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए मिट्टी सबसे पहली आवश्यक वस्तु है, और जिस प्रकार गहने बनाने के लिए सोना ही पहली आवश्यक वस्तु है उसी प्रकार 'कूडलसंगम' को जानने के लिए गुरु ही सबसे पहले आवश्यक है।[3]

आत्मशुद्धि, सचाई, नैतिक-जीवन की आवश्यकता पर जोर देते हुए बसव ने बाह्याडंबर, पाखण्ड, स्वार्थ आदि का तीव्र शब्दों में खण्डन किया है।

स्वर्ग और नरक की कल्पना बसव के अनुसार यों है—"देवलोक, मर्त्य-लोक दूसरा नहीं है, सत्य बोलना ही देवलोक है, असत्य बोलना ही मर्त्यलोक है, आचार ही स्वर्ग है, अनाचार ही नरक है।"[4] काया, मनसा, वाचा पवित्र होना चाहिए। ऐसी पवित्रता के बिना भक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती।

वीरशैवों में बसव शिवजी के वाहन नंदी के अवतार माने जाते हैं।

चेन्नबसव

अल्लमप्रभु की तरह चेन्नबसव (सन् ११६०) भी बसवेश्वर के समकालीन और उनके प्रमुख साथियों में एक थे। बसव, अल्लम और चेन्नबसव "शिवशरण त्रिमूर्ति" के नाम से प्रसिद्ध थे। बसव भक्ति, अल्लम विरक्ति और चेन्नबसव ज्ञान के कारण वीरशैव भक्तों में लोकप्रिय हुए थे।

चेन्नबसव के जन्म के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि बसव की एक बड़ी बहन थी जिसका नाम था अक्कनागम्म अथवा नागायक्क। अक्कनागम्म के पति थे शिवस्वामी। चेन्नबसव इसी दम्पति के पुत्र थे। चेन्नबसव ने बसव के

१—वचन धर्म सार—पृ० ३७।
२—वसवण्णनवर षटस्थलद वचनगळु पृ० ६५।
३—वही पृ० १६।
४—वचन शास्त्र रहस्य—पृ० ६५।

सभी कार्यो में साथ दिया था और वीरशैवमत के पुनःसंगठन में पूरा योग दिया था। चेन्नबसव के वचनों मे "कूडलचेन्नसंगम देव" उपनाम पाया जाता है जिससे यह स्पष्ट है कि ये भी बसव की तरह संगमेश्वर के उपासक थे। कावार ज़िले के 'उण्ठवि' नामक स्थान में आपकी समाधि का होना बताया जाता है।

डा० नंदीमठ के अनुसार चेन्नबसव की कृतियो के नाम इस प्रकार है:— षटस्थलदवचन, करण हसुगे, मित्रार्पण, पदमंत्रगोप्य, कालज्ञान, घटचक्रद वचन और रुद्रभारत सृष्टि।[1]

चेन्नबसव अल्लम की तरह पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनकी रचनाओं में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान की ज्योति अधिक जगमगाती है। चेन्नबसव में बसव के न वे दैन्य व दास्य-भाव पाए जाते है न अपने पाप व दोष के लिए पश्चाताप ही। यदि बसव के वचनों में हृदय-पक्ष का प्रभाव अधिक दिखायी पड़ता है तो चेन्नबसव के वचनों मे बुद्धिपक्ष की प्रबलता पायी जाती है। अल्लम के बाद चेन्नबसव ने वीरशैव की गद्दी 'शून्यसिहासन' पर आरूढ होकर सम्प्रदाय के संगठन को और भी बलवान बनाया। उनकी ज्ञान की ऐसी प्रखर प्रभा थी कि जो कोई उनके संसर्ग मे आते थे परिशुद्ध हो जाते थे। षट्स्थल सिद्धान्त का शास्त्रीय निरूपण करके वीरशैवो मे उसका प्रचार करने के लिए चेन्नबसव ने विशेष उद्योग किया। मत-सम्बन्धी विधि-नियमों की प्रतिष्ठा बढ़ाकर चेन्नबसव ने समाज-व्यवस्था की बागडोर अपने हाथ मे ली थी। इनकी और एक विशेषता यह थी कि ये स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। पिटीपिटाई बात करना अथवा दूसरे के बताए मार्ग पर चलना चेन्नबसव अपनी शान के खिलाफ समझते थे। इसलिए वे कहते हैं—"प्रभो, लोक का रास्ता मेरे लिए टेढ़ा है और मेरा रास्ता लोक के लिए टेढ़ा है।" जगत को छोड़ कर जंगल जाने के लिए वीरशैव धर्म नही कहता। इस मत के अनुसार जगत में रहते हुए शिव मे ऐक्य प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अल्लमप्रभु की तरह चेन्नबसव ने भी अन्तरग-शुद्धि की सराहना की है। वेशभूषा, बाहरी आचार का तब तक कोई मूल्य नहीं है जब तक अन्तरंग ज्ञान का विकास नहीं हुआ हो। बाहरी क्रिया और आत्मज्ञान की समरसता मे ही भक्ति साधना सफल हो सकती है। तत्त्वों का सही ज्ञान प्राप्त किए बिना

1—A Hand Book of Virasaivism—Dr. Nandi Math P. 33.

अधपकी बातें करने वाले शिवशरणो, तथा जगमो को चेन्नबसव ने खूब खरी-खोटी सुनायी है।

चेन्नबसव की स्पष्टोक्ति उनके वचनों में भलीभाँति सर्वत्र प्रतिबिम्बित है। उनकी वाणी की एक विशेषता है कि थोडे ही चुने हुए सरल शब्दों में बडे गम्भीर तत्त्वो का निचोड़ इस तरह रख देना कि बिना प्रयास के सब किसी की समझ मे आ जाय। इनके कुछ ऐसे भी वचन मिलते है जो सूत्रों की तरह छोटे है।

जो लोग शील की, बडे-बडे तत्त्व की बाते किया करते है, सदाव्रत नियम रखते है, और समाज में बडप्पन का बाना पहन कर चलते है, उन्हे सम्बोधित करके निःसंकोच हो चेन्नबसव कहते है—"बडे घमण्ड से 'शील-शील' बका करते हो, क्या तुम जानते हो कि शील किसे कहते है? सुनो, जो है उसे नही छिपाना ही शील है, जो नहीं है उसे उधार न लेना ही शील है, परधन, परस्त्री को न छूना ही शील है, गुरुनिन्दा, हरनिन्दा न सुनना ही शील है, जब हमारे कूडलचेन्न सग के शरणों के आगमन पर अपना सब कुछ अर्पण करना ही शील है।"[१]

वीरशैव-मत ने सामाजिक जीवन को ऊपर उठा कर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा बढाने का प्रयत्न किया था। इसके लिए उस मत मे शरीर-श्रम को महत्त्व दिया गया है। चेन्नबसव ने शरीर-परिश्रम के तत्त्व पर विशेष ज़ोर दिया है। उन्होने जो कुछ कहा है उसे उन्होने सोच-समझ कर ईमानदारी से कहा है। प्रखर प्रतिभा, सचाई, विद्वत्ता शायद ही एक ही व्यक्ति मे देखने को मिले। किन्तु चेन्नबसव में हम इन तीनों गुणों का समन्वय पाते है।

इस प्रकार चेन्नबसव वीरशैव मत के एक विचारक, आचार्य, और साधक थे। श्रीसिद्धराम, जोकि एक महान भक्त हुए है, चेन्नबसव के प्रधान शिष्य थे। सिद्धराम ने चेन्नबसव की महानता का वर्णन करने में विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव किया है।

सिद्धराम

सिद्धराम अथवा सिद्धरामेश्वर बसव के समकालीन एक प्रमुख भक्त थे। सोलापुर के निवासी मुद्दप्प और सुग्गब्बे नामक दम्पत्ति ने अपनी वृद्धावस्था में सिद्धराम को जन्म दिया। जनश्रुति है कि वीरशैव गुरु रेवणसिद्ध ने

१—वचनधर्मसार—पृ० ६१।

सिद्धराम के जन्म के कुछ समय पूर्व मुद्दप्प के घर पैदल ही जाकर यह भविष्यद्वाणी की थी कि तुम्हारे घर में परशिव-स्वरूप एक शिवयोगी का अवतार होगा। जब सिद्धराम छोटे बालक थे तभी उन्हें चेन्नमल्लिकार्जुन अर्थात् परशिव का साक्षात्कार हो गया था। इस तरह के और भी अद्भुत प्रसंगों का वर्णन सिद्धराम के जीवन-वृत्त के साथ लिखा पाया जाता है। सिद्धराम बड़े कर्मयोगी थे। पुण्य कमाने की अभिलाषा से सिद्धराम ने कितने ही मन्दिर, कुआ, तालाब आदि का बनवाना शुरू किया था। जब अल्लम ने सिद्धराम की प्रतिभा का इस दिशा मे दुरुपयोग होते देखा तब उन्हें कुछ चुभती बातें सुनायी और उनका ध्यान भक्ति की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। सिद्धराम बहुत आसानी से अल्लम की बातो में आने वाले नहीं थे। कहा जाता है कि दोनों में बहुत देर तर्क, वाद-विवाद चलता रहा। वीरशैव-संप्रदाय में इस सम्वाद का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन मिलता है। अल्लम ने कहा कि मन्दिर बनवाकर उसमे स्थावर-लिंग की पूजा अर्थात् मूर्तिपूजा करना व्यर्थ काम है, इससे शिव का साक्षात्कार नही हो सकता। इस सम्बन्ध में अल्लम का एक वचन प्रसिद्ध है :—"अन्न दान करके, मीठी बात बोलकर, धर्मशाला और तालाब बनवाने से मरने के बाद स्वर्ग भले ही मिले, शिव का साक्षात्कार नही हो सकता। गुहेश्वर के समझदार शरणों (भक्तों) के लिए इससे कोई लाभ नही है।[1] अल्लम के तर्क से प्रभावित सिद्धराम कल्याण गए और चेन्न-बसव से दीक्षा लेकर अनुभव मण्टप मे शामिल हो गए।

सिद्धराम के वचनो की संख्या लगभग ८५० है। अन्य वचनकारों की तरह सिद्धराम ने भी यह उपदेश दिया है कि सच्ची योग्यता जप-तप तथा गुण से प्राप्त होती है, न कि कुल या जन्म से। सिद्धराम ने कुछ वचनों में पार्वती की भी स्तुति की है जो अन्य किसी वचनकार के वचनों मे नही मिलती। सिद्धराम के वचनों में उत्तम साहित्य के गुण विद्यमान है। उनके वचन छोटे है, पर है अर्थ-पूर्ण। उनमे विशेष प्रकार का प्रवाह और संगीत है। जटिल विषयों को सरल शैली में कहने में सिद्धराम सिद्धहस्त हैं। साम्प्रदायिक पारिभाषिक शब्दों की कहीं भी भरमार नही है। सिद्धराम की भक्ति में निष्ठा, ज्ञान और योग-साधना का सुन्दर समन्वय हुआ है।

महादेवीयक्क

वीरशैव भक्तों में महादेवीयक्क अथवा अक्कमहादेवी का महत्वपूर्ण स्थान

१—वचनधर्मसार पृष्ठ ८८।

है। श्री० एम० आर० श्रीनिवास मूर्ति ने महादेवी के व्यक्तित्व की महत्ता का यों वर्णन किया है। "महादेवीयक्क का जीवन चरित्र क्या है स्त्री की गौरव-गरिमा, स्वातंत्र्य-प्रियता और परमार्थ-साधना का एक महा-प्रकरण है।" श्री आर० आर० दिवाकर ने भी इस भक्त-नारी का वर्णन उल्लिखित रूप में किया है। "महादेवी अपने ज्ञान के प्रकाश से कामी पुरुषों को पथ-प्रदर्शित करने वाली वीर, वैराग्य-उज्ज्वल अनुभावयुक्त साहसी और धर्मज्ञता तथा शिव-शरणाओं में मुकुटमणि है। उनके शील से उनके वचनों मे क्रांति फैली है, उनके तेजःपुंज चरित्र से उनकी वाणी चमक उठी है।"

चामरस कवि कृत 'प्रभुलिंग लीला' मे महादेवी का जीवनवृत संक्षेप मे दिया गया है। 'शून्य सम्पादने' नामक सम्प्रदाय के ग्रन्थ में भी कुछ उल्लेख किया गया है। इसके आधार पर यह माना गया है कि मैसूर राज्य के शिव-मोग्ग जिले में वेळ्ळिळ्ळगावे नामक स्थान मे अक्कमहादेवी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम विमल था और माता का नाम सुमति। दोनों ही शिव-भक्त थे। गरीब होने पर भी शीलादिगुणों से यह परिवार सम्पन्न था। अक्क-महादेवी बडी रूपवती थी। महादेवी का रूप और यौवन देखकर उस प्रदेश के जैन राजा कौशिक मोहित होगए और लडकी को विवाह में देने के लिए परिवारवालों को मजबूर किया। गरीब मा-बाप में राजा की इच्छा के विरुद्ध जाने का साहस कहाँ? लेकिन अक्कमहादवी ने अपने को विवाह के बन्धन में फंसाकर अपनी अध्यात्म-साधना में बाधा डालने से इनकार कर दिया, क्योंकि बचपन से ही महादेवी में भक्ति का अंकुर पल्लवित तथा पुष्पित हो गया था। जब राजा की प्रेमभिक्षा ने राजाज्ञा का रूप धारण किया तब गरीब माता-पिता उभय संकट मे पडे। अपने प्यारे माता-पिता की हृदयवेदना को देखकर महादेवी का मन पिघल गया और विवाह के लिए राजी होगयी। किन्तु उन्होंने विवाह के लिए कुछ शर्तें लगायी। उन्होंने कहा कि मेरी अपनी पूजा-उपासना में किसी प्रकार की बाधा नही पड़नी चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्होने राजा से तीन नियमों का पालन करना आवश्यक बताया और कहा कि यदि इन नियमो के पालन मे कुछ क्षति हुई तो मै तुमसे अलग हो जाऊँगी। मोही कौशिक ने सब शर्तें मान ली। लेकिन स्त्री को एक भोग की वस्तु समझने वाले उस कामी राजा के साथ सदा शिव-ध्यान निरत महादेवी

१--वचनधर्मसार पृष्ठ ९७।

२--वचन शास्त्र रहस्य पृष्ठ १७२।

कैसे निभ सकती थी ? जैसे ही राजा ने किसी समय उक्त नियमों के पालन में त्रुटि की वैसे ही महादेवी राजसी सुख-भोग को लात मार कर महल से चन्नमल्लिकार्जुन अर्थात् परशिव की खोज में निकल पड़ी। लोगों ने बहुत कुछ समझाया और घर बार छोड़ देने से होने वाली विकट परिस्थितियो का भयावना चित्र उपस्थित किया। लेकिन महादेवी ने कहा "यदि भूख लगी तो भिक्षान्न मिलेगा, प्यास लगी तो झील-सरोवर का पानी है, सोने के लिए भग्न मन्दिर है, और चेन्नमल्लिकार्जुन सदा साथ है।" जिस तरह बसव के उपास्य-देव का नाम कूड़ल संगम था उसी प्रकार अक्कमहादेवी के उपास्य-देव का "चेन्नमल्लिकार्जुन" जो उनके प्रत्येक वचन के अन्त में अंकित है।

महादेवी अपने पति के यहाँ से अकेली चल पड़ी और जंगलों, पहाडो से होते हुए कल्याण नगर पहुंची। रूपवती इस नवयुवती को अकेली देखकर लोगों ने तरह-तरह के विचार व्यक्त किए। महादेवी को लोगों की व्यंग्य-भरी बाते सुनकर असहनीय मनोवेदना सहनी पड़ी। 'शिवानुभव मण्टप' में बसव, अल्लम आदि सबों ने महादेवी की कई तरह से परीक्षा ली। महादेवी की प्रेम-विह्वल निर्मल-भक्ति को देखकर बसव और अल्लम दोनों अत्यन्त प्रसन्न हुए। बसव से दीक्षा लेकर महादेवी शिवानुभव मण्टप में शामिल हुई। शिवानुभवमण्टप में आश्रय पाने पर महादेवी अत्यन्त प्रसन्न हुई और इस आनन्द से विभोर होकर उन्होने बहुत-से अनमोल वचनो की रचना की।

अक्कमहादेवी ने अपने चरित्र द्वारा यह साबित किया है कि अबलाये भी सबलाये बन सकती है। उनकी वीरवाणी अध्यात्म-साधना में अन्यत्र दुर्लभ हैं। वे कहती है—"जिसने पर्वत पर घर बसाया है वह जंगली जानवरों से क्यो डरे, जिसने समुद्र पर घर बनाया है वह लहरों को देखकर क्यो भयभीत हो, बाज़ार मे घर बसा कर शोरगुल्ल से क्यो घबरावे, हे चेन्नमल्लिकार्जुन, जब इस संसार मे जन्म लिया है तब फिर निन्दा स्तुति सुनकर क्यों कोई मन में क्रोध का भाव लावे, शांति से सब सहना चाहिए।"[१]

महादेवी का लोकानुभव अपार था। उन्होंने बसव से भक्ति, प्रभुदेव से ज्ञान, चेन्नबसव से धर्म इस प्रकार तीन महात्माओ से तीन गुणो को ग्रहण कर अपनी भक्ति-साधना को परिपक्व किया था। उन्होंने बड़े ही रोचक शब्दों में जगत की असारता का वर्णन किया है। उनकी विरक्ति का नमूना शायद ही अन्यत्र मिले। जितने दिन तक महादेवी कल्याण में रहीं उतने दिन तक उन्होंने

१—वचन धर्मसार—पृष्ठ १०८।

अपनी अनन्य भक्ति, शील, उज्ज्वल चरित्र और सेवा से वचनमण्टप के शिव-शरणों को मुग्ध कर रखा था। परतत्त्व का साक्षात्कार करके महादेवी अपनी अध्यात्म साधना का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए श्रीशैल की ओर चल पड़ी और वही शिवैक्य को प्राप्त हुई।

महादेवी की भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है मधुर भाव की सुन्दर अभिव्यंजना। गिरिधर-गोपाल के प्रति मीराबाई की जो प्रेम विह्वलता तथा विरहवेदना है वही महादेवी की भक्ति में पायी जाती है। उनके कई वचनों में इस मादक प्रेम-भक्ति का मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है। परमात्मा के विरह में महादेवी पागल होकर जो भी वस्तु सामने दिखायी पडती है उससे अपने प्रियतम का पता पूछती है। उनके एक प्रसिद्ध वचन का भाव इस प्रकार है "हे चहचहाने वाले शुकवृन्द, क्या तुमने देखा है? तार स्वर में गाने वाले हे कोकिलो, क्या तुमने देखा है? ऊपर उड़कर मंडराने वाले हे भौरो, क्या तुमने देखा है? सरोवर पर खेलने वाले हे हसगण, क्या तुमने देखा है? गिरि-कन्दराओ मे नाचने वाले हे केकियो, क्या, तुमने देखा है? तुम क्यो नही कहते कि चेन्नमल्लिकार्जुन कहाँ है।"[१]

जिस तरह शिवशरणो के साहित्य में मधुर भक्ति-साधना की दृष्टि से महादेवी के वचनो का महत्वपूर्ण स्थान है उसी तरह उनके वचन उच्चकोटि के साहित्यिक गुणों के लिए भी प्रसिद्ध है। उनके साहित्य-सौष्ठव का वर्णन कन्नड के एक आलोचक ने इस प्रकार किया है "अक्क महादेवी के वचनों में भावोत्कर्ष है, अर्थ-गाभीर्य है, मधुर पद-योजना है, आलंकारिक भाषा है। एक शब्द मे कहना हो तो कह सकते है कि उत्तम कवि-जीवन का सारा संस्कार, हृदय का सारा रसानुभव उनमे कूट-कूट कर भरा है। कन्नड-शारदा ने उनकी रसना पर चढकर काव्य रूपी वचन मुक्तको का गान कराया है।"[२] अक्क महादेवी की कृतियाँ क्या है ज्ञान की निधि है, विरक्ति और प्रेम-भक्ति का पारावार है, साहित्य-सौदर्य का आगार है। महादेवी के वचनों की संख्या बहुत कम है, किन्तु गागर में सागर भरा है। वचनो के अतिरिक्त 'योगांग त्रिविधि' नामक एक छोटी-सी रचना उनकी बतायी जाती है जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों का सरल भाषा में निरूपण किया गया है।

१—महादेवी अक्क—एस० वी० परमेश्वर भट्ट—पृष्ठ ४२।

२—अक्कमहादेवी—पृष्ठ ५३।

बसव, अल्लमप्रभु की तरह महादेवी ने सामाजिक जीवन की आलोचना नहीं की है। उनके वचनों में जहाँ कही भी सामाजिक समस्या की चर्चा हुई है वहाँ उनकी उदार-दृष्टि, स्पष्टवादिता दिखायी देती है।

अन्य वीरशैव भक्त-कवि

हरिहर

शिवानुभव मण्टप के शिव शरणो ने एक ओर अनन्य भक्ति-गगा बहा कर नाना मत-सम्प्रदायो के शुष्क वादो और समाज मे फैली हुई कुरीतियो-धाँधलियों से सतप्त जनता के हृदय को शीतल किया और दूसरी ओर कन्नड भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे एक नूतन क्रान्ति उपस्थित की। अबतक कन्नड मे जैन कवियो द्वारा जितने काव्य-ग्रथ रचे गये थे उनमे सस्कृत तथा प्राकृत की काव्य-शैलियो का अंधानुकरण किया गया था। जो साहित्य रचा गया था वह समाज के इने-गिने उच्च वर्ग के लोगों के लिए ही उपयोगी था। वचनकारो ने बोलचाल की भाषा को अपनाया और उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा एवं क्षमता प्रदान की। इन्ही वचनकारो से प्रेरित होकर बहुत से वीरशैव कवियों ने भक्ति भाव प्रधान नाना प्रकार के काव्य-ग्रंथ देशी छन्दो का उपयोग करते हुए प्रस्तुत किए। बारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे तीन वीरशैव श्रेष्ठ कवि हुए। वे है—हरिहर, राघवाक और पद्मरस।

हरिहर (सन् १२००) के कई नाम है—हरिहर देव, हरीश्वर, हरियण्ण पण्डित, और हंपेय हरीश्वर। जन-श्रुति के अनुसार हरिहर मादरस के पुत्र थे और मायिदेव के शिष्य थे। वे हळेबीडु के राजा नरसिंह बल्लाल के दफ्तर मे एक गुमाश्ते का काम करते थे। उन्होने अपने जीवन का अन्तिम समय हंपि के विरूपाक्ष-मदिर में बिताया था। इनकी उपलब्ध कृतियां है—'पपा शतक', 'रक्षाशतक', 'मुडिगेय अष्टक', 'गिरिजा-कल्याण' और 'शिवगणद रगव्ठे'। 'पंपाशतक' और 'रक्षा-शतक' मे हंपि के विरूपाक्ष के प्रति उत्कट भक्ति के भाव प्रकट किए गए है। नागवर्माचार्य के वैराग्यशतक के बाद कन्नड में शतक-काव्य रचने की परिपाटी इन शतको के द्वारा फिर से चल पड़ी। साहित्य की दृष्टि से भी इन शतकों का विशेष महत्त्व है।

'गिरिजा कल्याण' एक प्रौढ़ चम्पू-काव्य है। शैवपौराणिक काव्यों मे वर्णित शिवपार्वती विवाह ही इस काव्य की कथावस्तु है। गिरिजा के चरित्र का चित्रण करने में कवि ने विशेष रुचि दिखायी है। इसलिए काव्य का नाम 'गिरिजा कल्याण' पड़ा। कालिदास के कुमार-संभव का भी कुछ प्रभाव इस

काव्य पर लक्षित होता है। घटनाओं से वर्णन-कौशल द्वारा कहानी को बड़ी गति मिली है। दैवीपात्रों का निरूपण मानव-चरित्र के रूप में किया गया है, इसलिए सारा काव्य एक प्रकार का रूपक बन गया है। यद्यपि गिरजा दैवी-सौन्दर्य तथा तपःशक्ति की साकार मूर्ति है तो भी उनमें ग्रहभाव, क्रोध, हठ आदि मानवीय गुण विद्यमान है। निश्चय ही 'गिरजा कल्याण' हरिहर का एक उत्तम काव्य है।

'शिवगणदरगळे' रगळे नामक छन्द में लिखा हुआ शिवभक्तों का एक काव्यात्मक जीवनवृत्त है। इसमें एक सौ बीस शिवभक्तो का वर्णन है। तमिल के पेरियपुराण में चित्रित तिरसठ शिवभक्तो की कहानियाँ भी इसमे शामिल है। इसमें वर्णित जीवनियों में 'बसव राज देवर रगळे' अर्थात् बसव की कहानी बड़ी रोचक बनी है जिसमें बसव की अनन्य दास्य-भक्ति का सरस भाषा में निरूपण किया गया है। 'नंबियण्णन रगळे, 'महादेवियक्कन रगळे', 'प्रभुदेवर रगळे', 'रेवणसिद्धेश्वर रगळे' भी चित्ताकर्षक है।

हरिहर की समस्त रचनाओं का अवलोकन करने पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि उनकी काव्य-प्रतिभा उनकी अनन्य-भक्ति की सहचारिणी बनी है। उनकी कल्पना में शिव-दृष्टि की झलक सर्वत्र विद्यमान है। अत. 'शिव-कवि' नामक उनकी पदवी ही सार्थक है। उनकी भाषा बड़ी ही सुगठित, सरस एवं गतियुक्त है। चाहे गद्य हो चाहे पद्य, सर्वत्र उक्तिवैचित्र्य तथा रस-मग्नता का परिचय मिलता है। शिवभक्त कवियों में हरिहर का स्थान बहुत ऊँचा है।

राघवांक

राघवांक (सन् १२२५) हरिहर के भानजे थे। राघवांक के पिता का नाम था महादेव भट्ट और माता का रुद्राणी। हरिहर से दीक्षा लेकर राघवांक शिवभक्त हुए। यद्यपि उन्होंने हरिहर के बताए मार्ग पर चलकर काव्य-रचना की, तो भी कथावस्तु, निरूपण-पद्धति तथा काव्यरूप में अपनी पूरी मौलिकता दिखायी। उन्होंने हरिहर की तरह रगळे तथा चम्पू-शैली नही अपनायी और षट्पदि छन्द में ही अपने सभी काव्य रचे। राघवांक की रचनाएँ कुल छः बतायी जाती हैं, लेकिन अब तक पाँच ही उपलब्ध हो सकी है। उनके नाम हैं— 'सोमनाथ चरिते', 'वीरेश चरिते', 'सिद्धराम पुराण', 'हरिश्चन्द्र काव्य', 'रामचारित्र' और 'हरिहर महत्व'। इनमें 'हरिहरमहत्व' अब तक प्राप्त नहीं हुआ है।

हरिश्चन्द्र काव्य मे राघवांक ने हरिश्चन्द्र को शिवभक्त के रूप में अवश्य चित्रित किया है, लेकिन शिव के गणों के रूप में नहीं, जैसाकि वीरशैव कवियो ने सभी भक्तो को किसी न किसी शिवगण का प्रतिरूप माना है। अतः 'हरिश्चन्द्र काव्य' में सम्प्रदाय की बातो का समावेश कम ही हुआ है। अन्य पाँचो कृतियो मे वीरशैव सम्प्रदाय सम्बन्धी तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इसलिए उनमें काव्यत्व की कमी दिखाई देती है। 'सोमनाथ चरित्र' में सौराष्ट्र के शिवभक्त आदय्या का पुलिगेरे आना, सोमनाथ की स्थापना करना, नाना अद्भुत कार्य करके बहुत से जैनों को वीरशैव बनाना आदि घटनाओ का वर्णन किया गया है। हरिहर के 'आदय्यारगळे' का प्रभाव इस पर सुस्पष्ट है। आदय्या की अनन्य शिव भक्ति का चित्र बड़ा ही प्रभाव शाली बना है। 'वीरेशचरिते' की कथावस्तु शिव के कोप से प्रसूत वीरभद्र का दक्षयज्ञ-नाश करना है। इसमें अन्य देवताओं से शिव की श्रेष्ठता का गान करना ही कवि का उद्देश्य मालूम होता है। 'सिद्धराम चारित्र' एक बृहत् षट्पदिकाव्य है जिसमें महान् शिवभक्त सिद्धराम की जीवनी का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

पद्मरस

हरिहर और राघवाक के समकालीन प्रमुख कवियो में पद्मरस (सन् १२००) का नाम उल्लेखनीय है। पद्मणांक नामक कवि के लिखे पद्मराज पुराण (सन् १३८५) में पद्मरस का जवीन-वृत्त विस्तार के साथ दिया गया है। उनके पिता का नाम मायीदेव था और माता का मंगले। कहा जाता है कि उन्होने बेलूर मे एक सरोवर बनवाया था, इसलिये उनका नाम केरेयपद्मरस पड़ा। कन्नड में 'केरे' शब्द का अर्थ है तालाब। पद्मरस ने सस्कृत मे 'सानन्द चरित्र' और कन्नड मे 'दीक्षा बोधे' नामक ग्रंथ रचे थे। इनकी कृतियों में सदैव भक्ति की धारा प्रवाहित है। इनकी शैली साहित्यिक है। लेकिन ऐसा लगता है कि सम्प्रदाय के तत्त्वों का प्रतिपादन करना ही उनका प्रधान उद्देश्य है।

पाल्कुरिके सोमेश्वर

ये गोदावरी ज़िले के पाल्कुरिके नामक स्थान के निवासी थे और कन्नड, तेलुगु और संस्कृत के विद्वान थे। सोमेश्वर ने बसव तथा उनके सम-कालीन समस्त वीरशैव भक्तों के जीवन-वृत्त रगळे छंद में रचे थे। इनका तेलुगु में लिखा हुआ 'बसवपुराण' परवर्ती वीरशैव भक्तों के लिए मार्ग-

दर्शक बना । भीम कवि ने 'बसव पुराण' का कन्नड में अनुवाद किया । इनकी इतर रचनाओं में 'शील सम्पादने', 'पंचरत्न', 'गंगोदय', 'गणशरणनाम' आदि मुख्य हैं । इनकी रचनाओं में भक्ति पर कम और तत्त्व-निरूपण पर अधिक प्रधानता दिखाई देती है । इसलिए इन्हें 'तत्त्व विद्याकलाप' नामक पदवी भी मिली थी । इनका समय लगभग सन् १२०० माना जाता है ।

भीमकवि

यह माना जाता है कि लगभग सन् १३६९ में भीमकवि ने तेलुगु से 'बसव पुराण' का कन्नड में अनुवाद किया था । इस ग्रंथ के कारण भीम कवि को वीरशैव भक्तों में बड़ी ख्याति प्राप्त हुई । बसवपुराण में न केवल वीरशैव मत सम्बन्धी तत्त्वों का निरूपण हुआ है बल्कि बसव तथा उनके समकालीन वीरशैव भक्तों की कहानियों का रोचक वर्णन किया गया है । भीमकवि की अन्य रचनाएँ हैं--'भीमकवीश्वर रगळे' और 'मृड्डिदण्डकं' । 'बसव पुराण' द्वारा कन्नड मे 'षट् पदि छन्द' शैली का विशेष प्रचार हुआ ।

महालिंगदेव

चौदहवीं शताब्दी में वीरशैव-मत का वैभवसूर्य ढलने लगा था । विजय नगर के राजाओं की उदार धार्मिक नीति के कारण पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ मे वीरशैव-मत मे कुछ नूतन शक्ति का सचार हुआ । इस समय कई प्रतिभा सम्पन्न वीरशैव भक्त कवि हुए जिनमें महालिंग देव का नाम उल्लेखनीय है । महालिंगदेव एक बड़े ज्ञानी और भक्त थे । वीरशैव-सम्प्रदाय के तत्त्वो का प्रचार करने के उद्देश्य से महालिंग देव ने 'प्रभुदेवर षट्स्थल ज्ञान चारित्रवचनद टीके' तथा 'षट्स्थल विवेक' नामक टीकाएँ रचकर सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बढ़ाई । महालिंग का अनुकरण करते हुए उनके शिष्य जक्कणार्य ने भी 'एकोत्तर स्थल' नामक सकलन उपस्थित किया । प्राचीन भक्तो के वचनों का संग्रह करने, उनके लिए टीकाएँ लिखने की प्रणाली इस समय से खूब चल पड़ी । ऐसे सग्राहकों और टीकाकारो मे कल्लमठप्रभुदेव, गुव्विय मल्लण्ण, गुरुशांतदेव, सपादनेय चेन्नंजेदेव, सिद्धवीरणाचार्य, गूव्वूर सिद्ध वीरणाचार्य आदि प्रमुख हैं ।

चामरस (सन् १४३०)

हरिहर ने अल्लमप्रभु के जीवन-चरित्र का चित्रण करके जो मार्ग दिखाया था उसी पर चलकर चामरस ने 'प्रभुलिंग लीले' नामक महाकाव्य रचा ।

षट्पदि छन्द में लिखा हुआ यह काव्य एक रूपक है। प्रभुदेव के रूप में लिंग अर्थात् परशिव की लीला का इसमें विस्तार किया गया है। अल्लमप्रभु जैसे एक महान सिद्ध पुरुष को कथानायक बना कर कवि ने कथावस्तु की ऐतिहासिकता को बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया है जिसमें उन्हें पूरी सफलता मिली है। "हरिहर के 'बसवराजदेव रगळे' का जो स्थान है वही चामरस के 'प्रभुलिगलीले' का है। पहले के काव्य में भक्ति की एक बाढ़ आयी है दूसरे में ज्ञान का सागर उमड़ पड़ा है। ·····हरिहर और चामरस दोनों ने कन्नड को अनुपम कृतियाँ प्रदान की है। दोनो ने अपने-अपने कथानायक के व्यक्तित्व का मर्म जानकर उनका उज्ज्वल तथा सजीव चित्र खीचा है।"[१]

चामरस ने वीरशैव-मत के षट्स्थल-भक्ति-सिद्धान्त का इस काव्य द्वारा इस प्रकार निरूपण किया है कि काव्य के अध्ययन के साथ-साथ भक्ति का रहस्य भी हृदयंगम हो जाय। काव्य के आरम्भ में चामरस ने पार्वती-परमेश्वर सवाद द्वारा यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि विश्व-सृष्टि मे शिव-शक्ति का हाथ प्रधान है, लेकिन जीव की मुक्ति-साधना में भक्ति शक्ति से वढ कर है। साथ ही गोग्गय्या, मुक्तायवक जैसे भक्तो के 'शिवैक्य-पद को प्राप्त होने का वर्णन दिया गया है। यह भी बताया गया है कि षट-स्थल-भक्ति-साधना द्वारा जो जीव जीवन्मुक्त होता है वह गुरुपद प्राप्त कर किस प्रकार जगत का उद्धार कर सकता है।[२]

चामरस के जन्म, मातापिता, जन्मस्थान के सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी नही हुई है। प्रसिद्धि है कि चामरस पहले एक शैव ब्राह्मण थे और बाद को वीरशैव मत मे दीक्षित हुए। यह भी बताया जाता है कि वे कन्नड के ब्राह्मण महाकवि कुमार-व्यास अथवा नार्गप्प के कुछ रिश्तेदार भी थे।

'प्रभुलिग लीले' का तेलुगु, तामिल, मराठी और संस्कृत में भी अनुवाद हुआ है। यह भी इस ग्रन्थ की महत्ता का द्योतक है।

मग्गेय मायिदेव (सन् १४३०)

सम्प्रदाय के अनुसार विजय नगर के राजा कृष्णदेव राय २ (सन् १४१६-१४४६) के समय मे मायिदेव वर्तमान थे। अतः ये निश्चित ही चामरस के समकालीन थे। इनकी रचनाओं में मत सम्बन्धी तत्त्वो का बड़ा विशद

१—कन्नड साहित्य चरित्रे—प्रो० मुगळि—पृ० ३३६।
२—प्रभुलिग लीलेय संग्रह—मैसूर विश्वविद्यालय—पृ० ६।

निरूपण किया गया है। डा० नन्दीमठ ने इनकी रचनाओं की सूची निम्न-लिखित प्रकार दी है—'अनुभवसूत्र', 'एकोत्तर षट्स्थल षट्पदि', षट्स्थलगद्य, 'शतक त्रय', 'वचन', और 'विशेषार्थ प्रकाशिका'।[1]

तोण्टद सिद्धलिग (सन् १४७० ई०)

पन्द्रहवी शताब्दी में कन्नड में फिर से वचन-साहित्य के निर्माण की ओर वीरशैव भक्तों ने विशेष ध्यान दिया। यद्यपि इस समय के वचनकारो में वह प्रतिभा नही थी जो बसव तथा उनके समकालीन वचनकारों मे थी तो भी कतिपय वचनकारो की वाणियों में आत्मानुभूति की सरस अभिव्यक्ति हुई है। इस समय के वचनकारों में तोण्टद सिद्धलिग का स्थान ऊँचा है। इनका लिखा ग्रन्थ है 'षट्स्थल ज्ञानसारामृत' जिसमें ७०१ वचन और ७ वृत्त नामक छन्द है। 'महालिग गुरूशिव सिद्धेश्वर प्रभु' इनका काव्य-नाम है।

निजगुण शिवयोगी (सन् १४७०)

वीरशैवों में यह प्रसिद्धि है कि निजगुण शिवयोगी एक सामन्त राजा थे और बाद को विरक्त होकर उन्होने चेन्नसदाशिव नामक गुरु से दीक्षा ली। निजगुण शिवयोगी वीरशैव मत के एक उदार तत्वज्ञानी तथा उच्चकोटि के भक्त कवि थे। उन्होंने अपने ग्रथों मे वेद-उपनिषदो मे प्रतिपादित अद्वैत तथा आगमो के आधार पर प्रतिपादित षट्स्थल सिद्धान्त का सुन्दर समन्वय किया हे।"[2] इनकी कृतियाँ हैं—'कैवल्यपद्धति', 'परमानुभव बोधे', 'परमार्थगीते', 'अनुभवसार', 'अरूवत्तु मूवर त्रिपदि', 'परमार्थ प्रकाशिके', 'विवेक चिन्तामणि'। प्रथम पाँच क्रमशः गीत, सांगत्य, रगळे, त्रिपदि छन्दों मे लिखे गए हे और अन्तिम दो शास्त्रीय गद्य में हैं। 'कैवल्य पद्धति' 'तत्त्वोपदेश' शिवस्तुति के गीत है। यह बड़ी सरस और सरल कन्नड में लिखी गई है। शुरू से अन्त तक गुरु महिमा का सुन्दर वर्णन किया गया है। 'परमानुभवबोधे में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी के सम्वाद के रूप में अद्वैत तत्त्व का निरूपण किया गया है और वीरशैव मत के तत्त्वों के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। 'अनुभवसार' में साधकों को आसानी से सकल-वेदान्त-सार बताने का उद्योग किया है। 'परमार्थगीते' में गुरु-शिष्य के सम्वाद द्वारा योगशास्त्र के साथ-साथ मोक्ष का रहस्य बताया गया है। 'अरुवत्तु मूवर त्रिपदि' में तमिलनाड के ६३ शैव भक्तों

१—A Hand Book of Virasaivism—Dr. Nandi Matha—पृ० ४८।

२—कन्नड साहित्य चरित्रे—प्रो० मुगळि—पृ० ३२३।

की स्तुति की गयी है। इन पाँचों ग्रंथों में उन्नत सिद्धि, अनन्य भक्ति तथा ज्ञान का निरूपण सरस शैली में किया गया है। 'परमार्थ प्रकाशिके' में शिव योग-शास्त्र को इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि बिना प्रयास के ही मोक्ष प्राप्ति का रहस्य हृदयगम कर सके। निजगुण शिवयोगी की कृतियो मे 'विवेक-चिन्तामणि' सर्व श्रेष्ठ है। इसमे तत्कालीन सभी तात्त्विक, भौगोलिक, साहित्यिक विषयो के ज्ञान का निचोड़ है। "मतातीत सकल ज्ञान कोश के रूप में लिखा गया यह ग्रन्थ कन्नड वाङ्मय की एक अद्वितीय कृति है।"[1] विवेक चिंतामणि का तमिल मे भी अनुवाद हुआ है।

मुप्पिन षडक्षरि

ये निजगुण शिवगुण योगी के समकालीन थे। वीरशैव-साहित्य मे बसव के समय में सगीत का थोडा बहुत समावेशन हो गया था। लेकिन गीतितत्त्व का विकास उस समय अधिक नही हो पाया था। मुप्पिन षडक्षरि के भक्ति-प्रधान गीतो का 'सुबोध सार' सग्रह लोकप्रिय हुआ। इन गीतों में षट्पदि के कई रूपो का सफल प्रयोग हुआ है। षडक्षरि के गीतो मे सर्वार्पण भक्ति, धर्म, शील आदि का वर्णन किया गया है। आगे चल कर इनका अनुकरण करते हुए अनेक शैव भक्तों ने भक्ति-परक गीतो की रचना की।

लक्कण्ण दण्डेश (सन् १४२८)

इस समय तक वीरशैव मत का प्रतिपादन करने के लिए बहुत-से ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। प्रौढदेव राय के प्रधान-मंत्री लक्कण्ण दण्डेश ने 'शिवतत्त्व चिंतामणि' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नूतन शैली में प्रस्तुत किया। इसमें मत सम्बन्धी तत्त्वों के साथ-साथ, लिङ्ग-धारण, शिवपूजा-विधि, शिवचरण-चरित्र, शिवाधिक्य, शिवलीला आदि विषयों का समावेश किया गया है। ५५ अध्यायों में लगभग दो हजार वार्धिक षट्पदि नामक छन्दों का यह ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा ही है। इसमें कवि की कविता-शक्ति तथा भक्ति का सुन्दर परिचय मिलता है।

लक्कण्ण का अनुकरण करते हुए गुब्बिमल्लणार्य ने भी "वीरशैवामृत पुराण" नामक एक वृहत् ग्रन्थ लिखा। "बहु-विषय-गर्भित यह ग्रन्थ वीरशैवों का विश्वकोष है जिसमें एक उत्तम कवि की कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है। इनकी दूसरी रचना है "भावचिंतारत्न" जो तमिल से अनुवादित है और

१—कन्नडसाहित्य चरित्रे—प्रो० मुगळि, पृ० ३२६।

उसमें पंचाक्षरी-मन्त्र की महिमा का बखान करते हुए सत्येंद्र चोळ्ठ का जीवन चरित्र चित्रित किया गया है। इसकी शैली बडी प्रौढ है और भाषा मे आधुनिकता की ओर झुकाव है।

सर्वज्ञ

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वीरशैव कवियो द्वारा बहुत-से 'शतक' काव्य रचे गए जिनमे मग्गेय मायि देव का 'शतक त्रय', चन्द्र कवि का 'गुरूमूर्ति शंकर शतक', वीरभद्रराज का 'पंच शतक', सिरिनाम देव का 'मल्लेश्वरशतक', चेन्नमल्लिकार्जुन का 'शिवमहिमाशतक', शंकरदेव का 'शंकर शतक', शान्त वृषभेष का 'अनुभव शतक' आदि उल्लेखनीय है। इन सब शतकों मे वीरशैव सम्प्रदाय के तत्त्वो का निरूपण करते हुए भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का उपदेश दिया गया है। 'इन शतको मे मग्गेय मायिदेव का 'शतक त्रय' सब दृष्टियो से सर्वोत्तम कहा जा सकता है। यदि भर्तृहरि के सस्कृत शतक त्रय मे शृङ्गार, वैराग्य, नीति का वर्णन किया गया है तो इनके शतक मे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य को प्रधानता दी गयी है।

इसी शताब्दी के अन्त मे एक महान वीरशैव सन्त का अवतार हुआ। उनका असली नाम क्या था इसका कुछ पता नही लगा है। उनका साहित्यिक नाम 'सर्वज्ञ' था।

जिस प्रकार भारत के अन्य महान सन्तो और कवियों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जनश्रुतियों, ऊहापोहों के आधार पर बाते कही जाती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ का जन्म कब हुआ, कहाँ हुआ और उनके माँ-बाप कौन थे इन बातो का कुछ पता नही चला है। "सर्वज्ञ के कुछ वचनों में उनके जन्मस्थान, माँ-बाप, आदि का कुछ परिचय मिलता है। लेकिन ये वचन उन्ही के लिखे है या क्षेपक है यह कहना कठिन है। इन वचनो के अनुसार वे पुष्यदत्त नामक शिवगण के अवतार थे। उनका जन्मस्थान अबलूर था। पिता का नाम था मासूर का बसवरस अथवा मल्लरस जो आराध्य ब्राह्मण थे। उनकी माता कुँबार जाति की स्त्री थी, और उनका नाम था माळ्ठि। इन नामों के आधार पर यह कहा गया है कि सम्भवतः वे धारवाड़ के पास कही रहते थे। उनका काल लगभग सन् १६०० था।"[1]

"माँ बाप भिन्न-भिन्न जाति के थे इसलिए सर्वज्ञ को समाज मे बहुत

१—सर्वज्ञ—प्रो० ए० आर० कृष्ण शास्त्री—पृ० ३, ४।

व्यंग्योक्तियाँ सुननी पड़ी थी। माता के साथ रहना भी कठिन हो गया था, और बचपन में ही उन्हे घर से अलग होना पड़ा था। सम्भवतः उनको इसी कारण से यह कहना पड़ा था कि 'मै शिव का पुत्र हूँ'।"[१] इससे यह स्पष्ट है कि उन्हें बचपन ही में जीविका चलाने की समस्या का सामना करना पड़ा था। किसी वीरशैव गुरु से शिक्षा पाकर उन्होने नाना प्रकार की कठिनाइयाँ सहते हुए जीवन निर्वाह किया था।

" 'सर्वज्ञ' यह उनका असली नाम था या नहीं यह कहना कठिन है। या तो यह लोगो का दिया हुआ नाम था या कवि ने अन्य वीरशैव भक्तों की तरह अपने उपास्य देव सर्वज्ञानी परमात्मा के अर्थ में 'सर्वज्ञ' अपने वचनों मे प्रयुक्त किया था। जगत मे एक ही ईश्वर है यह उन्होंने घोषित किया। अतः 'सर्वज्ञ' उनका नाम नही था।"[२]

सर्वज्ञ ने 'त्रिपदि' नामक छोटे छन्द में अपनी अमृत-वाणी सुनायी है। प्रत्येक छन्द 'सर्वज्ञ' शब्द के साथ अन्त होता है और हिन्दी के दोहे की तरह स्वतन्त्र अर्थ रखता है। सर्वज्ञ का एक-एक वचन एक-एक कहावत की तरह कन्नड भाषा-भाषियो की जीभो पर नाचता रहता है। अब तक संगृहीत और प्रकाशित उनके वचनो की संख्या लगभग दो हजार है। इस त्रिपदि छन्द का नमूना इस प्रकार है—

अंतिक्कु इंतिक्कु ऍन बेड
चितिसि देह बडक्कु, शिव तोरि।
दंतिहुदे लेसु सर्वज्ञ ॥[३]

भावार्थ—यह सोचो नही कि कैसे रहा जाय, चिता करने से शरीर कृश हो जायगा, सर्वज्ञ कहते हैं कि शिव ने जो मार्ग दिखलाया है वैसा ही रहना चाहिए।

"सर्वज्ञ के वचनो मे कोई कहानी नही मिलती, न उनमें किसी घटना का वर्णन ही है। लेकिन उनमें समग्र जीवन की कथा अथवा जीवन धर्म का निरूपण हुआ है और वह जीवन-रस का पोषक बना है। उनमें केवल नीति का ही उपदेश नही है अपितु अनुभव और विवेक की वाणी है। कुछ वचनों मे विधि-निषेध की बातें मृदुहास्य के साथ सरस भाषा में कही गयी है। ऐसे

१—कन्नड साहित्य चरित्रे—प्रो० मुगळि—पृ० ३४४।
२—सर्वज्ञ—प्रो० कृष्णशास्त्री—पृ० ७–८।
३—सर्वज्ञ कवि—प्रो० कृष्णशास्त्री—पृ० २५।

बहुत से वचन है जिनमें बड़ी निर्भीकता के साथ समाज की आलोचना की गयी है। उन्होंने जिसको जैसा देखा उसको वैसा ही निडर होकर कहा है। कन्नड साहित्य मे इतनी स्वतन्त्र मनोवृत्ति के कवि विरले ही मिलेंगे।"[१]

सर्वज्ञ एक पहुँचे हुए ज्ञानी, भक्त और कवि थे। प्रो० कृष्णशास्त्री का वचनों के बारे में यह मत है कि यह एक नीति-काव्य होने हुए भी उत्तम साहित्यिक कृति है।[२] चेन्नप्प उत्तंगि ने भी इसे श्रेष्ठ काव्य कहा है।[३] सर्वज्ञ ने अनुभव, तत्त्व, नीति, भक्ति आदि की बाते बड़ी ही सरस भाषा में सुनायी है। उत्तम वचनकारो मे जो विचार-शक्ति थी, जीवन के सहज-सौन्दर्य का उद्घाटन करने की जो क्षमता थी वह सर्वज्ञ में वर्तमान थी। सर्वज्ञ के वचन सचमुच कन्नड भाषाभाषियों का ज्ञान भण्डार है।

मानव-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी कोई समस्या नही है जिस पर सर्वज्ञ ने अपनी पैनी दृष्टि नहीं डाली हो। लेकिन सर्वज्ञ प्रधानतया संत थे और उनकी भक्ति ही सब विचारों मे केन्द्र-बिन्दु है। वैसे तो उन्होने वीरशैव सम्प्रदाय के षट्स्थल भक्ति-सिद्धान्त का निरूपण जगह-जगह किया है, लेकिन ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्प्रदायिक सीमाओं मे बँधे न रह कर सार्वभौमिक तत्त्व का उद्घाटन करना ही उनकी साधना का लक्ष्य है। सर्वज्ञ ने भक्ति, भक्त, गुरु, सत्संग आदि की महिमा का गान किया है। वे कहते हैं कि "भक्ति से ही मुक्ति मिलती है और मुक्ति से ही शक्ति, यदि भक्ति तथा विरक्ति न हों तो जगत मे मुक्ति नहीं है।"[४] और वे कहते है कि अन्तरंग भक्ति ही बड़ी है। "देह ही मन्दिर है, जीव ही शिवलिग है, बाह्य व्यापारों से मुक्त होकर जो भजता है उसे निःसन्देह मुक्ति मिलती है।"[५] सर्वज्ञ गुरु को परमात्मा से भी बड़ा मानते हैं क्योंकि गुरु ही ईश्वर का साक्षात्कार कराते हैं न कि ईश्वर गुरु का दर्शन कराते हैं।"[६] गुरु और शिष्य के लक्षण क्या होने चाहिए इसका भी उन्होंने वर्णन किया है। तीर्थ-यात्रा, जप-तप आदि बाहरी क्रियाओं से भक्ति के बिना कोई लाभ नही है। जिसमे सच्ची भक्ति है उसे ईश्वर को बाहर ढूँढ़ने की जरूरत नही है। "वाराणसी जाने

१—कन्नड साहित्य चरित्रे—प्रो० मुगळि—पृ० ३४५।
२—सर्वज्ञ कवि—प्रो० कृष्ण शास्त्री—पृ० ५३।
३—सर्वज्ञ वचनगळु—चेन्नप्प उत्तंगि—पृ० ६५—भूमिका।
४—सर्वज्ञान वचनगुळ—पृ० ३१। ५—वही पृ० ३३।
६—वही पृ० ६।

की जरूरत ही क्या है ? जब उद्धार करने वाले भगवान मन के अन्दर ही है तब बाहर क्यों घूमना चाहिए ?"[१] आत्म-ज्ञान ही ब्रह्म-ज्ञान है। "जो अपने को जानता है उसमें किसी प्रकार की भिन्नता की भावना नहीं रह सकती। ये मेरे है, ये पराए हैं, इस तरह के भाव जिसमें नहीं है उस व्यक्ति के अन्दर ही तीनों लोक समाए हुए है।"[२] सर्वज्ञ माया को नहीं मानते। ज्ञान की आवश्यकता भी उतनी ही है जितनी कि भक्ति की, क्योंकि सच्चे ज्ञान बिना भक्ति बढ नहीं सकती अतः ज्ञान-पूर्ण भक्ति ही श्रेष्ठ है।

षडक्षरदेव (सन् १६५०)

कन्नड में चम्पू काव्य की शैली पहले पहल जैनों ने चलायी जिसका अनुकरण अन्य सम्प्रदाय के कवियों ने किया। विशेषतया ब्राह्मण कवियों ने चम्पू शैली में बहुत से काव्य रचे और इस कला में प्रवीणता दिखायी। सत्रहवीं शताब्दी में वीरशैव कवियों ने भी इसे अपनाया। इस समय कन्नड साहित्य-जगत में जैन अदृश्य-से हो गए थे। चम्पू शैली के सफल वीरशैव कवियों में षडक्षरदेव का नाम प्रमुख है। इस शैली के अन्य वीरशैव कवि थे—चन्द्रकवि, सुरंग कवि, प्रभुग, वीरभद्रराज, सदाशिवयोगी, मुरिगेदेशिकेन्द्र, सिद्धलिंग शिवयोगी, शांतवीरदेशिक, कविमादण्ण। इन सबों ने प्रायः काव्य-विषय, वस्तुयोजना तथा भक्ति की दृष्टि से हरिहर का ही अनुकरण किया है और अलंकार, वर्णन, कवि-समय आदि बातों में अन्य कन्नड तथा संस्कृत के चम्पू-काव्यों का अनुकरण किया है। सुरंग कवि ने अपने "त्रिषष्टिपुरातनर-चरित्रे" में तमिळनाड के ६३ शैवभक्तों के जीवनवृत्त का चित्ताकर्षक वर्णन किया है।

षडक्षरदेव इस काल के एक प्रतिभासम्पन्न कवि तथा संस्कृत और कन्नड के प्रकाण्ड पन्डित थे। इनकी रचनाएँ हैं—'राजशेखर विळास', 'शवर शंकर विळास', और वृषभेंद्रविजय'। ये तीनों चम्पू काव्य है और इनमें पाण्डित्य और कविता-शक्ति का सुन्दर समन्वय हुआ है। 'राजशेखर विलास' में जहां उन्होंने मल्लणार्य के 'भावचितारत्न' की कथावस्तु को अपनाया है वहाँ हरिहर की काव्य-शैली का अनुकरण किया है। इसमें पंचाक्षरी तथा शिवभक्ति की महिमा का वर्णन किया गया है और शृंगार, करुण आदि रसों की व्यंजना भी

१—सर्वज्ञान वचनगुच्छ—पृ० ४८। २—वही पृ० ५३।

षष्ठ अध्याय

कन्नड के जैन साहित्य में भक्ति-तत्त्व और परवर्ती कन्नड-साहित्य पर उसका प्रभाव

कन्नड में साहित्य सृष्टि का आरम्भ

द्राविड-भाषा-परिवार की भाषाओं में प्राचीनता की दृष्टि से तमिल के बाद कन्नड का स्थान है। हल्मिडि के शिलालेखो के आधार पर डा० एम० एच० कृष्ण ने यह सिद्ध किया है कि सन् ४५० के पहले ही कन्नड मे साहित्य-रचना हुआ करती थी।[1] लेकिन अब तक प्राप्त ग्रन्थो में नवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे लिखा हुआ 'कविराज मार्ग' ही सबसे प्राचीन माना जाता है। 'कविराज मार्ग' दण्डि के काव्यादर्श के आधार पर लिखा हुआ एक प्रौढ़ चम्पू लक्षण-काव्य है। इसकी रचना सम्भवत. जैन राजा नृपतुंग ने या श्रीविजय नामक उनके किसी दरबारी कवि ने की थी। इसका रचना-काल लगभग सन् ८९७ ई० माना गया है। कविराजमार्ग के बाद कन्नड मे एक से बढ़कर एक प्रौढ़ कृतियाँ निर्मित हुई। "दसवी शताब्दी तो कन्नड-साहित्य का स्वर्ण-काल माना जाता है।"[2] इसी काल में कन्नड के 'कविरत्न त्रय'—पम्प, रन्न, पोन्न नामक तीन महाकवि हुए जिनकी रचनाओ ने इस काल को 'स्वर्णकाल' का गौरव प्रदान किया। लगभग बारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध तक कन्नड साहित्य-जगत पर जैन कवियो का एकाधिकार ही था। बारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध में बसव के अवतार के साथ साथ कर्नाटक मे जैनो का वैभव-सूर्य ढलने लगा। उसके बाद जैन सिर नही उठा सके। वैसे तो बारहवी शताब्दी के उपरान्त भी बहुत-से जैन कवि हुए, लेकिन न उनमें कवि-रत्न-त्रयों की काव्य-प्रतिभा थी न उनको वैसा राज्याश्रय मिला जैसा वीरशैव और वैष्णव-कवियों को प्राप्त हुआ।

१—अत्यन्त प्राचीन कन्नड शासन—डा० एम० एव० कृष्ण—प्र० क० २०—३ पृ० ३८।

२—क० सा० चरित्रे—प्रो० मुगळि—पृ० १२२।

जैन काव्यों की विशेषताएं

कर्नाटक के सांस्कृतिक विकास मे जैनियों का योग महत्त्वपूर्ण है। जैन मतावलंबियों ने कर्नाटक की जगह-जगह मे विहारों तथा मूर्तियों का निर्माण करके वास्तुशिल्प और मूर्तिकला की उन्नति मे योग दिया। श्रवणबेळ्गोळ, कार्कळ, वेणूर की गोमेटेश्वर की दीर्घकाय शिला-प्रतिमाये जैन-धर्म के वैभव के मेरूदण्ड है। संस्कृत और प्राकृत के अनगिनत महान ग्रन्थो का कन्नड-प्रतिरूप जैन कवियो ने प्रस्तुत किया जिनसे कन्नड भाषा साहित्यिक गौरव प्राप्त कर सुसमृद्ध बनी। जैन-मत के उदात्त तत्त्वो का जनता में खूब प्रचार हुआ जिससे कर्नाटक के लोक-जीवन मे उदार भावना, संतुलन-वृत्ति की वृद्धि हुई। यही कारण है कि कर्नाटक के लोग आज भी अपने उदार विचार, धार्मिक सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध हैं।

जैन मतावलंबियों ने जिस उद्देश्य से कन्नड में साहित्य की सृष्टि की थी वह अपने धर्म का प्रचार करना ही था। लेकिन यह कहना अन्याय होगा कि जैनों द्वारा रचे गए साहित्य मे साहित्य-सौष्ठव की कमी थी। साधारणतया प्रत्येक कवि ने दो प्रकार के ग्रन्थ रचे। पहले प्रकार के ग्रन्थ वे है जिनमें जैन तीर्थकरो, मुनियों की जीवन-गाथा सम्प्रदाय के तत्त्वों का निरूपण करते हुए गायी गयी है। दूसरे प्रकार के काव्य वे है जिनमें किन्ही प्रसिद्ध पौराणिक कथानकों का चित्रण जैन-मत का रंग चढ़ा कर किया गया है। पहले प्रकार के ग्रन्थ 'धार्मिक' दूसरे प्रकार के 'लौकिक' कहलाते हैं। प्रथम प्रकार के ग्रन्थ पुराण के नाम से भी प्रसद्धि है। उदाहरण के लिए महाकवि पम्प ने दो ग्रन्थ लिखे है—पहला 'आदि पुराण' दूसरा 'पम्प भारत' अथवा 'विक्रमार्जुन विजय'। इसी प्रकार पोन्न ने 'शान्तिपुराण' और 'भवनैकरामाभ्युदय', रन्न ने 'अजित पुराण' और 'गदायुद्ध' अथवा 'साहस भीम विजय', नागचन्द्र ने 'मल्लिनाथ पुराण' और 'पम्परामायण', अथवा [illegible] रचे हैं। बारहवीं शताब्दी के अन्त तक जैन कवियो मे इस तरह की परिपाटी बराबर जारी रही। लेकिन उसके बाद जैन कवियों ने या तो एक-एक पुराण लिखकर ही छुट्टी पाली या उसके साथ-साथ छन्द, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, कामशास्त्र, पाकशास्त्र जैसे विविध विषयों पर ग्रन्थ-निर्माण की ओर ध्यान दिया। नागवर्म (दूसरे) का 'भाषा भूषण', 'काव्यालोकन', नेमिचन्द्र की 'लीलावती', केशिराज का 'शब्द मणिदर्पण', साल्व का "वैद्यसांगत्य", भट्टाकळंक का 'शब्दानुशास', आदि उल्लेखनीय हैं। यदा-कदा कुछ कवियों

ने रामायण, महाभारत आदि के कुछ छोटे-मोटे पात्रों का भी वर्णन किया। यह ध्यान में रखने की बात है कि जैन कवियों ने सभी वैदिक महाकाव्यों की कथावस्तुओं को मूल रूप में न लेकर अपने धर्म के अनुकूल बना लिया। इन लोकप्रिय कथानकों को अपनाने में उनका उद्देश्य क्या रहा होगा यह कहने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रामायण, भारत जैसे महाकाव्यों का कन्नड में रसास्वादन कराने का श्रेय जैन कवियों को मिलना चाहिए। यह कहना कठिन है कि जैन कवियों को अपने उद्देश्य में यहाँ तक सफलता मिली है। बारहवीं शताब्दी के बाद जैसे-जैसे भागवत सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने महाकाव्यों को मूल रूप में कन्नड में प्रस्तुत किया वैसे ही वैसे जैन-काव्यों के प्रति लोगों का आकर्षण घटता गया। इन जैन काव्यों का मूल्य केवल काव्य शास्त्र की दृष्टि से उत्तम कला-कृतियों के रूप में रह गया।

जैन-काव्यों में भक्ति-तत्त्व

भक्ति की पहली शर्त है परमात्मा में पूर्ण आस्था रखना जो जैन धर्म में बिल्कुल नहीं है। इसलिए वैदिक साहित्य में भक्ति का जो रूप स्थिर किया गया है उसके लिए जैन-धर्म में कोई स्थान नहीं है। जैन धर्म में 'केवल ज्ञान' प्राप्त करना ही जीव का चरम लक्ष्य है। 'केवल ज्ञान' की प्राप्ति के लिए कुछ नियम बनाए गए हैं जिनमें 'अणुव्रत' मुख्य है। अणुव्रत पाँच प्रकार के हैं (१) हत्या न करना (२) झूठ न बोलना (३) परस्त्री से मोहित न होना (४) चोरी न करना और (५) अपरिग्रह। कन्नड के जैन काव्यों में इस अणु व्रतात्मक जीवन की ओर अग्रसर कराने का प्रयत्न सर्वत्र पाया जाता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, जैनों ने प्रधानतया कन्नड में दो प्रकार के काव्य ग्रन्थ रचे हैं—एक 'धार्मिक' और दूसरे 'लौकिक'। धार्मिक ग्रन्थों में तीर्थंकरों का जीवन-वृत्त विस्तार से कहा गया है। चाहे धार्मिक ग्रन्थ हों चाहे लौकिक ग्रन्थ, कहीं भी ऐसी भक्ति का निरूपण नहीं किया गया है जैसा कि वैदिक काव्यों में किया गया है। लेकिन सभी ग्रन्थों में भक्ति, स्तुति, प्रार्थना, पूजा, आराधना, ध्यान आदि शब्दों का प्रयोग बराबर हुआ है। काव्य के आरम्भ में, प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में और अन्त में जिन मुनियों, तीर्थंकरों, जैन आचार्यों की श्रद्धा-भक्ति के साथ स्तुति की गयी है। उदाहरण के लिए पम्प के आदि पुराण में पंचपरमेष्ठि-स्तुति, चक्रेश्वरिस्तुति, जिनेश्वर की प्रार्थना, श्रुतस्कंध की स्तुति—आदि कई प्रकार की स्तुतियों का उल्लेख मिलता है। आदि पुराण के आरम्भ में कथा-नायक आदि ब्रह्म और सिद्धों की

स्तुति की गयी है। कवि कहते है कि "मै अपरिमित भक्ति मे काव्य की रचना करता हूँ।"[1] अन्तिम अध्याय मे मागिक्य भट्टारक की स्तुति की गयी है।[2]

पम्पभारत के आठवे अध्याय मे शिव के रूप का और अर्जुन की तपस्या का सुन्दर वर्णन किया गया है। अन्त मे शिव प्रत्यक्ष होकर अर्जुन से कहते है कि मैं तुम्हारी तपः शक्ति और भक्ति से प्रसन्न हूँ।[3]

पम्पभारत मे कृष्ण पुरुषोत्तम है श्री मन्नारायण है।
वे विश्वरूप को दिखाते है और पाण्डवो का पक्ष लेते है।
लेकिन वे परमात्मा के रूप मे दिखाई नही देते।
केवल सत्पक्ष की सहायता करते है तथा शूर और
राजनीति-कुशल है।[4]

जैनो के लिखे पुराणो मे, जिनमे तीर्थंकरो की कहानियाँ कही गयी है, विशेष रूप से जैन धर्म के तत्वो का निरूपण हुआ है। रामायण, भारत जैसे महाकाव्यो के कथानको का रूप ही उन्होने बदल लिया है। इन काव्यों के सब पात्र जैन है, घटनाओं का सम्बन्ध जैन-धर्म की घटनाओ के साथ है और सारा वातावरण ही जैन धर्म का है। बारहवी शताब्दी के आरम्भ मे (सन् ११००) नागचन्द्र ने रामचन्द्रचरित पुराण या पम्परामायण लिखी। पम्परामायण में राम को पुरुषोत्तम कहा गया है। इसमे सब के सब पात्र जैन है। रावण की हत्या राम नहीं करते, लक्ष्मण रावण की हत्या करते है और इस पाप के लिए नरक भी भोगते हैं। राम की अपेक्षा रावण के पात्र के चित्रण में कवि ने अपनी प्रतिभा का अधिक परिचय दिया है। इस रामायण में भक्ति, स्तुति आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है। राम और लक्ष्मण चिन्तावेगदेव की भक्ति से स्तुति करते है और उनसे कई प्रकार के अस्त्र प्राप्त करते है। रामचन्द्र जी अप्रमेय भट्टारक की भी स्तुति करते है।"[5]

१—आदि पुराण—पृ० ४२।

२—नमः श्रीवासुपूज्याय भजतां भावपूजया।
यो भवेधरदस्यत्यं भक्त्या तुष्यंति देवताः ॥२२॥
आदि पुराण—पृ० ४०६।

३—पम्पभारत—पृ० १९९।

४—प्रो० मुगळि—क० सा० चरित्रे—पृष्ठ ९८, ९९।

५—पम्परामायण—अध्याय १४ और १५ पद्य १–२।

तेरहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे कुमुदेंदु मुनि नामक जैन कवि ने "कुमुदेन्दु रामायण" की रचना की है। राम अयोध्या से वनवासार्थ जाते समय राजधानी के सम्मुख जो जिनगृह है उसमें प्रवेश करते है और राम, लक्ष्मण, सीता तीनो विमल-भक्ति से शतसहस्र स्तुति करते है, प्रेमाश्रु बहाते है, और रोमाचित होते है। अन्त में जिन-चरण का ध्यान करके वहाँ से चलते है।[1]

तेरहवी शताब्दी के कवि दूसरे गुणवर्मा के 'चन्द्रनाष्टक' मे भक्ति भाव की अभिव्यक्ति हुए हे।[2]

जैन काव्यो में वैराग्य, संसार के सुख-भोग की असारता, आदि का वर्णन सर्वत्र किया गया है। लेकिन यहाँ वैराग्य भक्ति का पोषक नही है।

पंच-स्तोत्र-तत्वार्थ-सूत्र-सग्रह मे 'दश-भक्ति' का निरूपण किया गया है जिसका ज्ञान जैनो के लिए आवश्यक बताया गया है। ये दश-भक्ति है सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, चारित्र-भक्ति, योगि-भक्ति, आचार्य-भक्ति, निर्वाण-भक्ति नन्दीश्वर-भक्ति, चैत्य-भक्ति, शाति-भक्ति, और पंच-गुरु-भक्ति।

इसके अतिरिक्त तीर्थकर-भक्ति और समाधि-भक्ति नामक और दो भक्तियां है जिनका सम्बन्ध विशेष रूप से धार्मिक क्रियाओ के साथ है। पुस्तक में भक्ति शब्द का अर्थ भजन अर्थात् सेवा बताया गया है। किन्तु यहाँ पर "कारणे कार्योपचारः" नियम के अनुसार आध्यात्मिक सेवा सम्बन्धी ग्रथ भी भक्ति के अन्तर्गत माने गए है।

दश-भक्ति का प्रचार इस प्रकार है। उपवासव्रत आरम्भ करके उसकी अवधि के समाप्त होने पर जब आहार स्वीकार किया जाता है उस समय की क्रिया को सिद्ध-भक्ति कहते है। श्रुतभक्ति और आचार्य-भक्ति उस क्रिया को कहते है जो शास्त्र का स्वाध्याय आरम्भ और अन्त करते समय की जाती है। जब कोई योगी सम्मुख आते है उस समय योगी-भक्ति का पाठ करना चाहिए। चतुर्दशी के दिन, त्रिसध्या काल में देवता-प्रार्थना करते समय चैत्य-भक्ति, श्रुत-भक्ति, पंच-गुरु-भक्ति और सिद्ध-भक्ति का पाठ करना चाहिए। आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन मासो मे शुक्लपक्ष अष्टमी से पूर्णमासी तक आठ-आठ दिन नन्दीश्वराष्टान्हिक आदि मे सिद्ध-भक्ति, नन्दीश्वर-भक्ति, पचगुरु-भक्ति, शाति

३—कुमुदेंदुरामायण—अध्याय १४।

१—कन्नड साहित्य चरित्रे—प्रो० मुगळि—पृष्ठ २०८।

भक्ति का जप करना चाहिए। इस प्रकार दशभक्ति का विस्तार किया गया है।[1]

जैन भक्ति-साहित्य का अन्य साहित्य पर प्रभाव

प्रो० मुगळि ने कन्नड-साहित्य के काल-विभाजन पर विचार करते हुए कहा है कि जैनयुग कन्नड का classical trend का युग था। इसमे संदेह नही है कि भाषा, शैली और वस्तुविधान की दृष्टि से जैन कवियो द्वारा निर्मित साहित्य का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर यथेष्ट पडा है। लेकिन जहाँ तक भक्ति-साहित्य का सवाल है, जैनियो का कोई ऋण और कवियों पर नही है, क्योकि जैन साहित्य मे, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, भक्ति को प्रवेश नही मिल सकता है।

तमिलनाड का वैष्णव भक्ति-सम्प्रदाय

वीरशैव और माध्वमत ये दो ऐसे भक्तिप्रधान सम्प्रदाय है जिनकी स्थापना के साथ-साथ कर्नाटक के लोक-जीवन मे अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। भाषा के क्षेत्र मे क्या, साहित्य मे क्या, सामाजिक व्यवस्था मे क्या, धार्मिक विचार-धारा मे क्या, सब मे एक नूतन क्राति पैदा हुई। ये दोनो सम्प्रदाय ऐसे सुसंगठित और प्रभावशाली थे कि इस समय दूसरे कोई भी मत-धर्म कर्नाटक की जमीन पर पनप नही सके। इन दोनो मतो के लोकव्यापी होने का एक सबसे बड़ा कारण दोनो मे पायी जाने वाली प्रबल भक्ति-भावना ही था। यह भक्ति-भावना कुछ नई नही थी। वीरशैवो ने अपने भक्ति-पंथ का निरूपण अपने पूर्ववर्ती नाना शैव भक्ति-परक सम्प्रदायो से प्रेरणा पाकर किया था। वीरशैवों के कई शताब्दियो पहले तमिलनाड मे शैव भक्तों ने व्यापक भक्ति-आन्दोलन चलाया था। इस शैव-भक्ति का प्रभाव वीरशैव भक्तों पर अवश्य पड़ा था। जिन मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर माध्वभक्तों ने अपने भक्ति-पंथ की रूपरेखा तैयार की थी वह भी पूर्णरूप से नया नहीं था। माध्वमत की स्थापना के बहुत समय पहले ही, तमिलनाड में शैवभक्ति साधना के साथ-साथ वैष्णव-भक्ति-साधना का विशेष प्रचार हो चला था। शैव भक्त नायनमार कहलाते थे और वे शैव मन्दिरों में रहा करते थे। वैष्णव भक्त आळ्वार कहलाते थे जिन्होंने वैष्णव मन्दिरो को अपनी साधना का केंद्र बना लिया था। अब दोनो सम्प्रदायो का सक्षेप में परिचय दिया जायगा।

१—दशभक्ति—संपादक—मिजि अण्णाराय —मनोहर प्रकाशन समिति, धारवाड़।

आळ्वर भक्त

तमिलनाड के वैष्णव भक्त आळ्वार कहलाते है। आळ्वार शब्द का अर्थ है 'डूबे हुए'। भगवान के ध्यान मे जो डूबे हुए रहते हैं वे ही आळ्वार है। भगवान के ध्यान में डूबे रहते समय आळ्वारो ने जो आनन्द पाया था उसे उन्होने मधुर गीतों में गाया है। ऐसे मधुर गीत, जो तमिल मे गाये गए हैं, दिव्य प्रबन्धम् कहलाते है। इन प्रबन्धों की संख्या चार हजार है, इसलिए तमिल में इन्हे 'नालायिर प्रबन्धम्' कहते है। भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य तथा आनन्द से ओत-प्रोत होने के कारण ये 'नालायिर प्रबन्धम्' तमिल भाषा-भाषियो मे 'द्राविडवेद' या 'द्रविडोपनिषद्' के नाम मे प्रसिद्ध है। ये प्रबन्धम् जनता की भाषा मे लिखे गए, इसलिए दो लाभ हुए। एक यह कि तमिल भाषा को वह गौरव का स्थान मिला जो संस्कृत को मिला था। दूसरा यह कि प्रबन्धो मे प्रतिपादित भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का प्रचार तमिलनाड के घर-घर मे हुआ। आजकल भी ये भजन तमिलनाड के मन्दिरो मे वेदमन्त्रो की भाँति गाए जाते है और अक्सर उनकी झाकियाँ भी दिखायी जाती है।

आळ्वार कुल बारह थे जो भिन्न-भिन्न समय मे वर्तमान थे। सम्प्रदाय के लोग यह मानते है कि ये अळ्वार ईसा के पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दियो के पहले ही हो गए थे। किन्तु कुछ आधुनिक विद्वानो ने इस विषय की छान-बीन करके यह बताया है कि ये आळ्वार भक्त ईसा की सातवी और नौवी शताब्दी के बीच मे हुए थे। इन आळ्वारो का अवतार तमिलनाड के भिन्न-भिन्न स्थानो मे, मुख्यतया ताम्रवर्णि, कृतमाल (वैगै), पयस्विनी (पालार), कावेरी, जैसी प्रसिद्ध नदियो के किनारे के प्रदेशों मे हुआ था। जिस प्रकार इन सरिताओ ने अपनी धाराओ से तमिलनाड के लोगो के तन-मन को संतृप्त किया था उसी प्रकार आळ्वारो की भक्तिधारा ने उनके हृदयो और आत्माओं को शीतल किया था। आळ्वारो मे जात-पाँत का कोई भेदभाव नही था। स्त्रियाँ भी इस भक्तमण्डली में शामिल थी। राजा भी थे, रंक भी। इस भक्ति-सम्प्रदाय में वर्ण-भेद, स्त्री-पुरुष भेद, पण्डित-पामर भेद—किसी प्रकार का भेद नही था। आळ्वारो का भक्ति-मार्ग वही था जो आळ्वारों के कई शताब्दियों पहले ही भारतवर्ष में भागवत-धर्म के नाम से प्रचलित हो गया था। पांच-रात्र, सात्वत और एकांतिक भागवत धर्म के ही पर्यायवाची नाम हैं। ये चारों नाम एक ही मत से सम्बन्ध रखते है। पाद्म-तंत्र में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया गया है :—

सूरिस्सुहृद्भागवतस्सात्वत. पंच कालवित् ।
एकातिकस्तन्मयश्च पांचरात्रिक इत्यपि ।।

भगवान एक है, प्रेमपूर्ण है, दयामय है, और वे भक्ति-प्रपत्ति शरणागति द्वारा जाति, कुल, स्त्री, पुरुष इत्यादि भेद-भाव के बिना सबको प्राप्त होते हैं। एक देवोपासना ही सबका कर्त्तव्य है। ये ही भागवत-धर्म के मूल तत्व है। भागवत-धर्म मे मोक्ष का मार्ग सबके लिए सुलभ है जो नीचे के श्लोक से स्पष्ट है :—

सर्वे समानाश्चत्वारो गोत्रप्रवर वर्जिता: ।
उत्कर्षो नापकर्षश्च जातितस्तेषु सम्मत: ।
फलेषु निस्पृहास्सर्वे द्वादशाक्षरचिंतका ।
मोक्षैकनिश्चयाश्चावसूतकाशौचवर्जिता. ।।

भागवतो का मन्त्र है 'ॐ नमोभगवते वासुदेवाय' जिसका सदा ध्यान करना आवश्यक है। भागवतो का विश्वास है कि 'कुल नरूम् शैल्वं तदिडुम्' अर्थात् भागवत्-धर्म उनको कुल देता है जिनका कोई कुल नही है, उनको सम्पत्ति देता है जिनके पास सम्पत्ति नहीं है। आळ्वार भक्तो ने इसी भागवत सम्प्रदाय को अपना कर नारायण की अनन्य-भक्ति की साधना मे बाह्य जगत को भुला दिया था। प्राय. आळ्वार अधिक पढ़े लिखे नही थे। उनकी भक्ति मे बुद्धि-पक्ष की अपेक्षा हृदय-पक्ष की प्रबलता थी। उन्होने विशेष रूप से सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य-भाव अपनाये थे। आण्डाळ की माधुर्य भावना मे जैसी रस-मग्नता पायी जाती है वैसी अन्यत्र शायद ही प्राप्त हो।

आळ्वारो के जीवनवृत्त का वर्णन दिव्य सूरिचरित, प्रपन्नामृत नामक सस्कृत तथा सस्कृत और तमिल मिश्रित मणिप्रवाल नामक शैली मे लिखे ग्रंथों में दिया गया है। गुरुपरम्पराओ के अनुसार आळ्वार निम्नलिखित क्रम से आविभूत हुए थे—पोय् गैयाळ्वार, पूतत्ताळ्वार, पेयाळ्वार, निरूमळिशैवाळ्वार, कुशशेखराळ्वार, पेरियाळ्वार, आण्डाल, तोण्डरडिप्पाडियाळ्वार, तिरूप्पाणाळ्वार, तिरूमगेयाळ्वार, नम्माळ्वार और मधुरकवियाळ्वार।

प्रथम तीन आळ्वार

प्रथम तीनो आळ्वार समकालीन थे और तीनों की जीवनियां एक ही घटना-सूत्र से बंधी हुई है। यह जनश्रुति है कि पोयगैयाळ्वार का जन्म काँचिपुरम् के सरोवर के कमलपराग से हुआ था, पूतत्ताळ्वार माधवी-पुष्प से पैदा हुए थे और पेयाळ्वार का जन्म लाल कमल अथवा इंदीवर से हुआ था।

ये तीनो पुष्प-पुत्र ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के अवतार थे और तीर्थयात्रा में ही अपना समय बिताते थे। किसी समय संयोग से ये तीनों तिरुक्कोविलूर गाँव गए। उस समय बड़े जोर से पानी बरसने लगा और पानी से बचने के लिए तीनों एक के बाद एक किसी घर के बाहरी बैठक-खाने के पास पहुँचे। रात्रि का समय था और सर्वत्र गाढांधकार फैला हुआ था। पहले-पहल पोयगेय आए और वहाँ लेट गए। उसके बाद पूतत्ताळ्वार ने टटोलते हुए आकर पूछा कि क्या यहाँ थोडी-सी जगह मिल सकती है? यह सुन कर पोयगै उठ बैठे और बोले, यहाँ एक आदमी के सोने भर और दो के बैठने भर की जगह है। तब दोनों बैठ गए। इतने में पैयाळ्वार भी पानी से भीगे वहाँ आए और थोडी-सी जगह मांगी। उत्तर मिला कि यहाँ दो लोग बैठ सकते है और तीन लोग खडे रह सकते है। तब तीनों खडे रहे। अन्धकार इतना था कि एक को दूसरे का चेहरा दिखाई नही पडता था। तीनों ने परस्पर परिचय पूछा। एक ने कहा कि मै भगवान का अश हूं, दूसरे ने कहा कि मैं हूं कोमदेव का दास। तीसरे ने कहा कि मै वासुदेव का दास हूँ। इसी बीच में कोई एक चौथा व्यक्ति आ गया और इस तरह इन तीनो के बीच मे समा गया कि तीनों ने अनुभव किया कि कोई चौथा व्यक्ति बीचमे है। तीनों ने योग दृष्टि से देखा कि स्वयं परमात्मा चौथे व्यक्ति के रूप में घुस आए हैं। आनन्द मे मग्न होकर उस समय तीनों ने 'तिरुवदादि' नामक लगभग तीन सौ गीत गाए। ये तीन सौ गीत ऋग्वेद का सार माने जाते है।

तिरुमळिशै आळ्वार

तमिळनाड के तिरुमळिशै नामक गाँव में जन्म लेने के कारण इनका नाम तिरुमळिशै आळ्वार पडा। कहा जाता है कि इनके पिता कोई ऋषि थे और इनकी माता कोई अप्सरा स्त्री थी। इस अप्सरा ने शिशु को जगल में किसी लताकुंज मे फेंक दिया था और किसी व्याध जाति के दम्पति ने इस बच्चे को प्राप्त किया और पाल-पोस कर बड़ा किया। दूसरी कहानी के अनुसार इनके पिता का नाम था भार्गव और माता का नाम कनकावती। थोडी ही अवस्था में तिरुमळिशै ने सब धर्म-ग्रंथों का अध्ययन समाप्त करके बडी विद्वत्ता प्राप्त की। ये प्रकाण्ड विद्वान ही नही थे बल्कि महान् भक्त भी थे। इनके भक्ति-भरे गीतों के दो सग्रह मिलते है—एक मे ९६ पद हैं और दूसरे मे १२०। पहला संग्रह 'नान्मुर्क तिरुवंदादि' और दूसरा "तिरुच्चदं-विरुत्तम्" नाम से प्रसिद्ध है।

एक पद्य में वे कहते हैं "मैंने ब्राह्मण जाति मे जन्म नही लिया है, मुझ मे चतुर्वेद का ज्ञान नही हैं, इन्द्रिय-निग्रह किसे कहते है यह मुझे मालूम नहीं है, मै तो एक बात जानता हूँ, वह है श्री हरि के पादपद्म। हे देव, तुम्हारे स्वर्णचरण के सिवा मेरा दूसरा कौन रक्षक है ?"[१]

तिरूमळिशै का यह विश्वास है कि चराचर सब वस्तुएँ भगवान से जन्म पाती है और उनमे ही अन्त में समा जाती है। लेकिन भगवान जगत से परे हैं और वे जगत की आत्मा के समान है। तिरूमळिशै के गीतो मे भक्ति के साथ-साथ तत्वचिंतन का भी समावेश हुआ है। उन्होने एकेश्वर की उपासना पर जोर देते हुए क्षुद्र-देवताओं का पूर्ण निराकरण किया है।

कुलशेखराळ्वार

ये केरल के राजा थे और इनका काल लगभग नौवी शताब्दी का आदि भाग माना जाता है। राजा होने पर भी ये भगवान के चिन्तन में सदा निमग्न रहते थे। ये जितने बडे भक्त थे उतने ही बडे ज्ञानी और विरक्त भी थे। इनकी भक्ति के बारे में यह प्रसिद्धि है कि जब किसी समय ये रामायण की कथा सुन रहे थे तब खरदूषणों के साथ राम के अकेले युद्ध करने का प्रसग आया। कुलशेखर कथा सुनने मे इस तरह तन्मय थे कि अपने सेनानायक को आज्ञा दी कि चलो, हम लोग श्रीराम की सहायता के लिए राक्षसो से युद्ध करें। व्यास जी के आश्वासन देने पर कि अकेले राम ने वैरियो का पूरा नाश कर दिया है, राजा को शान्ति मिली और तब उन्होने अपनी सेना को लौट आने की आज्ञा दी। कुलशेखर ने अपना राजपाट तज दिया और श्रीरंगम के भगवान रंगनाथ की पूजा मे निमग्न रहते हुए अपनी प्रसिद्ध स्तुति 'मुकुन्द माला' की रचना की। जयदेव के गीत गोविन्द की तरह यह मुकुन्दमाला भी भाषा की मधुरता, तथा भावो की कोमलता के लिए प्रसिद्ध है। इनकी दूसरी रचना है "पेरूमाळ तिरूमोळि" जो भगवान के मिलन से होने वाले आनन्दानुभव का रस सागर ही है।

पेरियाळ्वार

गुरुपरम्परा के अनुसार कुलशेखर के बाद पेरियाळ्वार का स्थान है। ये जाति के ब्राह्मण थे और इनका जन्म श्रीविल्लिपुत्तूर मे हुआ था। इनके माता-पिता का नाम था मुकुदाचार्य तथा पद्मा। ये गरुड के अवतार भी

१—आळ्वारगळ—एम० यामुनाचार्य, पृ० १३।

माने जाते है। श्रीविल्लिपुत्तूर के बटपत्रशायी भगवान की अनन्य-भक्ति में तल्लीन होकर पेरियाव्ठवार ने मधुररससिक्त सैकड़ों अनमोल पद गाए है जो "तिरूपल्लाण्डु" और "तिरूमोव्ठि" के नाम से दो भागों में पाए जाते है। इन दोनों में कृष्ण की बाललीला का अनुपम वर्णन किया गया है। वात्सल्य-भक्ति का सुन्दरतम रूप देखना हो तो पेरियाव्ठवार के गीतों का अवलोकन करना चाहिए। आव्ठवारों के 'नालायिर प्रबन्धम्' मे पेरियाव्ठवार के पदो का एक विशिष्ट स्थान है। तमिव्ठनाड में यह नियम-सा हो गया है कि जब कोई 'नालायिर प्रबन्धम्' का पाठ शुरू किया जाता है तब उसका आरम्भ और अन्त पेरियाव्ठवार के गीतों के साथ होना चाहिए। कहा जाता है कि पाण्ड्य राजा वल्लभदेव ने पेरियाव्ठवार को 'पट्टर पिरान्' नामक पदवी देकर उनकी विद्ववत्ता का आदर किया था।

आन्डाव्ठ

कहा जाता है कि आण्डाव्ठ पेरियाव्ठवार की पालित पुत्री थी। किसी समय जब पेरियाव्ठवार तुलसी वन में फूल चुन रहे थे तब हाल ही की पैदा हुई एक लड़की दिखायी पड़ी। उन्होंने उसे अपने घर ले जाकर पाला-पोसा और 'कोदइ' नाम रखा। 'कोदइ' का अर्थ है, फूलों के हार के समान कमनीय। भगवान की कृपा और प्रेम की अधिकारिणी होने पर उनका नाम आण्डाव्ठ पड़ा। आण्डाव्ठ अनुपम सुन्दरी और निरीह प्रेम की साकार मूर्ति थी। जैसे-जैसे आण्डाल का यौवन निखरने लगा और वह विवाह-योग्य हो गयी तब पेरियाव्ठवार को यह चिन्ता सताने लगी कि आण्डाव्ठ के अनुरूप लड़का कहाँ मिल सकेगा। जब जब इस तरह की चिंता उनके मन मे उठती थी तब तब वे अपने को निस्सहाय-सा पाकर भगवान के अनन्य गुण और सौन्दर्य का ध्यान करते हुए भावमग्न हो जाते थे। आण्डाव्ठ उनके बगल में बैठी हुई अपने पिता का गाना ध्यान से सुनती और भगवान की दिव्य-मूर्ति के प्रति आकर्षित होती। जिस तरह पेरियाव्ठवार फूलों के प्रति प्रेमी थे उसी तरह फूलों के चुनने, सुन्दर माला बनाने में आण्डाल भी विशेष आनन्द का अनुभव करती थी। आण्डाल के निरीह प्रेम के बारे में एक रोचक कहानी कही जाती है। पेरियाव्ठवार प्रति दिन भगवान की पूजा के लिए नाना प्रकार के फूल, तुलसी दल आदि चुन कर लाते और आण्डाल को उनकी सुन्दर माला बनाने का काम सोंपते। आण्डाल अपने कोमल हाथों से माला बनाती और भगवान के प्रति प्रेमावेश में अपने को भूल जाती और फूलों की माला स्वयं पहनकर

आइने में यह देखती कि यह माला भगवान को अर्पित करने लायक बनी है कि नहीं। यही क्रम बहुत दिन तक चलता रहा। किसी दिन जब पेरियाव्ठवार को इसका पता लग गया तब उन्हे विशेष मनोवेदना हुई। इसी वेदना से खिन्न होकर वे उस दिन मन्दिर नही गए, घर ही में पडे रह गए। पिता का यह हाल देखकर आण्डाव्ठ भी अत्यन्त दुखित हुई और पिता के पास ही लेट गयी। इस प्रकार चिन्ता मे निमग्न होकर दोनो सो गये और अर्चा मूर्ति परमात्मा स्वप्न में प्रयत्क्ष होकर पेरियाव्ठवार से यह पूछने लगे कि तुमने आज मुझे फूल की माला क्यो नही पहनायी। पेरियाव्ठवार ने उत्तर मे कहा कि जो माला आपके लिए बनायी गयी थी उसे मेरी लडकी ने स्वयं पहन कर अपवित्र कर दिया था। यह सुनकर परमात्मा ने कहा कि मै तो वही माला पहनना चाहता हूँ जिसे आण्डाव्ठ ने एक बार पहन लिया हो। यह सुन कर बापबेटी की आँखो से प्रेम के आँसुओ की धारा उमड़ पडी। उस समय से उन दोनो की कृष्ण-भक्ति ने प्रेम-भक्ति का रूप धारण किया। इस घटना के बाद आण्डाव्ठ की प्रेम-भक्ति की कीर्ति सर्वत्र फैली। कहते है कि एक बार आण्डाव्ठ का विवाह भी श्रीरंगम मे रंगनाथ के साथ हुआ और अन्त मे वह भगवान रंगनाथ में समा गई।

आण्डाव्ठ ने श्रीकृष्ण के प्रेम में उन्मत्त होकर सैकडो पद गाए है जिनके दो संग्रह पाए जाते हैं--एक है "तिरुप्पावै" और दूसरा "नाच्चियार तिरूमोव्ठि"। 'तिरूप्पावै" मे आण्डाव्ठ ने स्वयं गोपी बनकर कृष्ण के प्रति प्रेम के नाना भावो की चित्ताकर्षक अभिव्यक्ति की है। इन पद्यो में प्रेम के साथ-साथ तत्कालीन ग्राम्य जीवन के सौन्दर्य का भी चित्र खीचा गया है। प्रकृति का भी रसपूर्ण वर्णन मिलता है।

तोण्डरडिप्पोडियाव्ठवार

श्रीरगनाथ के भक्त वर्ग मे तोण्डरडिप्पोडियाव्ठवार का महत्वपूर्ण स्थान था। ये जाति के ब्राह्मण थे और इन्होने नियम से सब शास्त्रो का अभ्यास करके अपार विद्वत्ता प्राप्त की थी। इनके और दो नाम है--विप्रनारायण और भक्ताघ्रिरेणु। निष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य का जीवन बिताते हुए ये श्री रगम् के निकटवर्ती गाँव मे (तिरुक्करबनूर) फलफूल का बगीचा बना कर वास करते रहे। उसी गाँव मे देवदेवी नामक एक वेश्या भगवान की पूजा के लिए फूल चुनने उस बगीचे मे अपनी एक बहिन के साथ आया करती थी। वह वेश्या अपनी सुन्दरता के लिए बहुत प्रसिद्ध थी। किसी दिन तोण्डर-

तोण्डरडिप्पोडियाळ्वार भगवान का नाममस्मरण करते हुए पौधों में पानी देने के लिए अपनी झोंपड़ी में जब बाहर आए तब देवदेवी अपनी बहिन के साथ पेड़ की छाया में बैठी मनोविनोद की बातें कर रही थी। तेजस्वी नवयुवक सन्यासी को देखकर देवदेवी मोहित हो गयी। लेकिन तोण्डरडिप्पोडियाळ्वार को अपने मोह जाल में फसाना उसके लिए आसान कार्य नहीं था। अत उसने एक उपाय सोचा और सन्यासी के सम्मुख जाकर उनके चरणों पर नत हुई। सन्यासी ने पूछा कि बेटी, तुम कौन हो और मुझसे क्या चाहती हो? देवदेवी ने कहा कि मैं इस गाँव की वेश्या हूं, अब वेश्या जीवन से ऊब गयी हूँ और चाहती हूं कि किसी तरह अपना उद्धार कर लूँ। कृपा करके मुझे अपने पास रखिए और श्रीरंगनाथ की सेवा में मुझे भी अपनी जिन्दगी बिताने का मौका दीजिए। सन्यासी ने इस पर अपनी स्वीकृति दे दी।

देवदेवी जिस उद्देश्य से सन्यासी के यहाँ आयी थी उसकी पूर्ति कुछ दिनों के बाद हुई। किसी दिन जब देवदेवी फूल चुन रही थी, तब जोर का पानी बरसा। पानी से भीगने पर भी जब वह फूल चुनने में रत रही तब सन्यासी के मन में उसकी श्रद्धा देखकर दया आयी। उन्होंने देवदेवी को अपनी कुटी के अन्दर बुला लिया। यह देखकर कि उसके कपड़े गीले है, सन्यासी ने गरम कपड़े देकर, कपड़े बदलने के लिए कहा। बहुत देर तक पानी का बरसान बन्द नहीं हुआ अत: देवदेवी को सन्यासी के साथ कुटिया में रह जाना पड़ा। अनुकूल मौका पाकर देवदेवी ने सन्यासी के चरणों में शिर रख दिया और बड़ी नम्रता से कहा कि मेरे इस शरीर को स्वीकार करें और मुझे धन्य बनावें। स्त्री के स्पर्श से तोण्डरडिप्पोडियार का भी मन चचल होगया और भगवान की रूप सुधा से हट कर नारी-प्रेम में फस गया। इसके बाद इस वेश्या के प्रेम में वे इस तरह रत रहे कि अपना और सारा कार्य भूल गए। इस कारण से उन्हें समाज में बड़ी बदनामी भी सहनी पडी। कुछ महीने सुख से समय बिताने के बाद देवदेवी के मन में सन्यासी के प्रति घृणा के भाव जगे। इसका कारण यही था कि जब विप्रनारायण के पास जीविका चलाने के लिए कौड़ी तक नहीं रही तब इसी वेश्या के कारण राजमहल से सोने की थाली चुराने के अपराध पर विप्रनारायण को जेल भी जाना पड़ा। यह प्रसिद्धि है कि श्री रंगनाथ ने राजा को स्वप्न में प्रत्यक्ष होकर विप्रनारायण को जेल से मुक्त करने की आज्ञा दी। इस प्रकार विप्रनारायण ने जेल से तथा नारी-प्रेम से मुक्त होकर फिर से भगवान की भक्ति में तन मन लगाया।

तोण्डरडिप्पोडियाळ्वार के भक्तिभरे गीतों के दो संग्रह मिलते हैं—

"तिरुमालै" और "तिरुप्पल्लिण्ड येळुच्चि"। इनके पदो मे भक्ति और कविता-शक्ति का सुन्दर समन्वय हुआ है।

तिरुप्पाणाळ्वार

ये जाति के अत्यज थे और इनका जन्मस्थान उरैयूर नामक गाँव था। संगीत के मर्मज्ञ होने के कारण गुरुपरम्परा के अनुसार "भगवद्गान-विषय-सार्वभौम" नामक पदवी से आभूषित थे। अछूत होने के अभिशाप से इन्हें श्री रंगनाथ के दर्शन करने का सौभाग्य नही मिल सकता था। इसलिये ये कावेरी नदी के तट पर एक कुटी बनाकर रहा करते थे और भगवान की भक्ति से विह्वल होकर मधुर-मधुर गाते रहते थे। अछूत होने पर भी ये अपनी अनन्य भक्ति के लिए गाँव भर में प्रसिद्ध हो गए थे।

एक बार एक विचित्र घटना घटी। लोक सारंग नामक एक ब्राह्मण-श्रेष्ठ अपने अन्य ब्राह्मण साथियो के साथ शिर पर सोने के घड़े में श्रीरंगनाथ के मज्जन के लिए कावेरी का पवित्र जल ले जा रहे थे। उस समय रास्ते के एक बगल में तिरुप्पाणाळ्वार भगवान के ध्यान मे मग्न होकर बैठे हुए थे। ब्राह्मणों ने रास्ते से दूर हटने के लिए ज़ोर से आवाज दी। तिरुप्पाणाळ्वार भगवान के ध्यान में इस तरह मग्न थे कि बाहरी दुनियाँ के व्यापारो से बिलकुल विमुख हो गए थे। लोक सारंग मे अब भी अहंकार बचा था। यह देखकर कि बहुत बार ज़ोर से कहने पर भी तिरुप्पाणाळ्वार परवाह नही कर रहे हैं, उन्होंने एक पत्थर उठा कर उनकी तरफ़ इस तरह फेंका कि तिरुप्पाणाळ्वार के शिर पर बड़ा घाव लगा और रक्त की धारा बह चली। इतने मे ध्यान मग्न तिरुप्पाणाळ्वार जाग पड़े और अपने अपराध के लिए खेद प्रकट किया। लोकसारंग को भी इस घटना से बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उस दिन लोकसारंग जब पूजार्थ श्रीरंग के सम्मुख उपस्थित हुए तब उन्हे ऐसा लगा कि भगवान बहुत ही खिन्न हैं। उसी रात को जब वे तिरुप्पाणाळ्वार की निर्मल भक्ति, अंत्यज होने के कारण उन्हें प्राप्त कठिनाइयाँ आदि बातो पर विचार करते हुए सो गए तब स्वप्न में रंगनाथ प्रकट होकर कहने लगे कि "तुम्हारा फेंका हुआ पत्थर तिरुप्पाणाळ्वार के शिर पर नहीं मेरे शिर पर लगा है, उन्हे अछूत मत समझो, वे मेरे लिए अत्यन्त प्रिय हैं, वे मेरे मित्र हैं, दास हैं। उनके पास जाओ और उन्हे अपने कन्धों पर बिठा कर मेरे पास ले आओ। यह काम प्रकट रूप मे ही करो, कोई बात छिपाओ नहीं, यह मेरी आज्ञा है। यदि ऐसा करोगे तो तुमने जो अपराध किया है उसके लिए सच्चा

प्रायश्चित हो जायगा।" दूसरे दिन सवेरे लोकसारग ने ऐसा ही किया। भगवान का दर्शन पाकर तिरूप्पाणाळ्वार आनन्द-विभोर हुए अपने तंबूरे पर गाने लगे। तिरूप्पाणाळ्वार के भक्ति भरे गीत "अमलनादिपिरान्" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

तिरूमंगेआळ्वार

जगलों पहाड़ों मे वास कर के लूटमार से जीविका चलने वाले 'कळ्ळर' नामक व्याध-जाति में इनका जन्म हुआ था। इनका पहला नाम नीलन् था। तिरूमगे के पिता चोळ राजा के यहाँ सेनापति थे और पिता की मृत्यु के बाद ये भी सेना में शामिल होकर सेनापति भी बन गए थे। इनकी वीरता से प्रसन्न होकर चोळ राजा ने इन्हें 'तिरूवाळि नाड' नामक प्रदेश का सामन्त राजा बनाया था। जिस प्रकार ये युद्ध-विद्या मे कुशल थे उसी प्रकार संगीत, नृत्य नाटक, काव्य-कलाओं में भी प्रवीण थे। बहुत दिन तक ये अविवाहित ही रहे। इनके पास रूप था, यौवन था और थी अतुल सम्पत्ति भी। तिरूमंगे बडे ही रसिक थे और इन्द्रिय सुख को ही जीवन का लक्ष्य समझते थे।

तिरूवेळ्ळ्कुळं नामक गाँव मे एक वैष्णव वैद्य रहते थे जिनकी एक लावण्यवती पुत्री थी। लड़की का नाम था कुमुदवल्ली और उसने अपने विवाह के लिए यह शर्त लगायी थी कि जो कोई मुझसे विवाह करना चाहता है उसे पहले विष्णुभक्त बनना चाहिए। और प्रतिदिन विष्णु-भक्तों को भोजन करा कर स्वयं भोजन करना चाहिए। तिरूमगे कुमुदवल्ली के रूप से मोहित होगए और उपर्युक्त शर्तों का पालन करने का वादा करके उससे विवाह कर लिया। रोज विष्णुभक्तों को भोजन कराने का क्रम बराबर चलता रहा और इसका परिणाम यह हुआ कि न केवल उनकी अपनी सारी सम्पत्ति लुट गयी बल्कि राजकोष का धन भी समाप्त होगया। राजा ने राजकोष के धन को हड़प लेने के अपराध में गिरफ्तार करके नीलन् को जेल भेज दिया। इस बीच में जब कुछ दैवी प्रेरणा से तिरूमंगे को जमीन में गड़ी हुई किसी गुप्त सम्पत्ति का पता लगा तब उन्होंने राजकर अदा करके जेल से मुक्ति पायी। लेकिन नौकरी के छूट जाने के कारण कुमुदवल्ली को दिए गए वचन का पालन करने के लिए उन्हें फिर से लूटमार का पेशा करना पड़ा। कहते हैं कि किसी समय जब तिरुमंगे लूटमार में लगे थे तब भगवान ने गुप्त रूप में प्रत्यक्ष होकर उन्हें नारायण मन्त्र का उपदेश दिया। उस समय से उनके जीवन में काया-पलट हुई और वे भगवान के महान् भक्त बन गए। तिरूमंगे आळ्वार ने समय

समय पर जो भक्ति भरे गीत गाए हैं वे छः भागों में पाए जाते हैं। इनके नाम हैं—पेरियतिरूमोळि, तिरूक्कुरून्दाडगम्, तिरूनेडुन्दांडगम्, तिरूवेळुक्कूरि-रूक्के, शिरिय तिरूमडल, पेरियतिरूमडल। आशु, मधुरम्, चित्तम्, विस्तारम् नामक चार प्रकार की काव्य-रचना शैली में कविता करने में तिरूमंगेआळ्वार सिद्धहस्त थे। इनके कुछ गीतों में आत्मनिवेदन के भाव बड़े ही अनूठे पाए जाते हैं। जाति, कुल का भेद-भाव तज कर भगवान की भक्ति करने का संदेश देते हुए तिरूमगे आळ्वार ने अपनी इहलीला समाप्त की।

मधुरकवियाळ्वार और नम्माळ्वार

इन दोनों का जीवन एक ही सूत्र में गुथा हुआ है। जिस प्रकार लता के लिए वृक्ष आधार है उसी प्रकार मधुर कवि आळ्वार का व्यक्तित्व नम्माळ्वार की छत्र छाया में विकसित हुआ है। नम्माळ्वार वेळ्ळाळ्ळ नामक शूद्र जाति के थे और मधुर कवि ब्राह्मण थे। लेकिन मधुर कवि ने नम्माळ्वार को अपना गुरु मानकर सच्चे जिज्ञासु होने का आदर्श उपस्थित किया।

ताम्रपर्णी नदी के किनारे पर स्थित कुरु गुरु नामक गाँव में नम्माळ्वार का जन्म हुआ। इनका दूसरा नाम शठगोप था। प्रसिद्ध है कि ये पैदा होने के बाद सोलह साल तक एक इमली के पेड़ के खोखले में योगनिद्रा में तल्लीन थे। जिस समय मधुरकवियाळ्वार उत्तर भारत की यात्रा करते हुए बदरीकाश्रम से अयोध्या की ओर आ रहे थे उस समय उन्होंने दक्षिण की ओर से एक उज्ज्वल प्रकाश देखा। इस प्रकाश का रहस्य जानने की इच्छा से मधुर कवि उसी ओर चले जिस ओर से प्रकाश आ रहा था। बहुत दिनों तक यात्रा करने के उपरान्त वे कुरुगुरु पहुँचे। जैसे ही वे उस गाँव में पहुँचे वैसे ही वह प्रकाश अदृश्य हो गया। लेकिन शीघ्र ही उन्हें मालूम हो गया कि इमली के पेड़ के अन्दर एक ध्यानमग्न शिशु है और यह भी भास हुआ कि जो प्रकाश पहले दिखाई पड़ा था और अब इस शिशु के मुख पर जो छवि है दोनों समान हैं। अब भी वह सोलह साल का बालक शिलाप्रतिमा की भाँति ध्यान-मग्न ही दिखाई दिया। यह भ्रम भी हुआ कि कहीं यह पत्थर तो नहीं है। इसलिए मधुर कवि ने एक पत्थर उठाकर नीचे गिराया जिसकी आवाज पाकर नम्माळ्वार ने आँखें खोल दीं और अपनी कृपादृष्टि मधुर कवि पर फेरी। अब भी नम्माळ्वार कुछ नहीं बोले। तब मधुर कवि ने उनसे एक ही प्रश्न पूछा—"वह जीव जो प्रकृति के उदर से पैदा हुआ, किस चीज़ को खाकर किस तरह बना है?" उत्तर मिला "उसी को खाकर वहीं पड़ा है।" यह सुनते ही मधुर

कवि अत्यन्त आनन्दित हुए और नम्माळ्वार के प्रति उत्पन्न अपनी प्रगाढ़-भक्ति को सुन्दर गीतों के रूप में व्यक्त करने लगे। नम्माळ्वार ने अपनी तपस्या के फलस्वरूप ईश्वर के साक्षात्कार का अनुभव पाया था और उसे सुन्दर गीतों में सुनाया था। उनके गीतों के चार संग्रह नालायिर प्रबन्धम् में शामिल है। वे हैं—"तिरूविरूत्तम्" 'तिरूवाशिरियम्' 'पेरिय तिरूवंदादि' 'तिरूवाय्मोळ्ळि'। 'तिरूवाय्मोळ्ळि' और 'तिरूविरूत्तम्' में प्रेमी और प्रेमिका के बीच में होने वाले संयोग और वियोग के शृङ्गार-भाव का सरस वर्णन है। उन्होंने परमात्मा को नायक मानकर और स्वयं नायिका बनकर मिलन और विरह के नाना भावानुभावों का मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है। दास्य-भक्ति का भी उनके गीतों में सुन्दर वर्णन मिलता है। दास्य-भक्ति के एक गीत का भाव इस प्रकार है—

> "प्रभो, यह ठीक है कि मैं बहुत बड़ा पापी हूँ। लेकिन हे दामोदर, हे दामोदर, कहकर चिल्ला-चिल्लाकर अब मेरी छाती फटी जा रही है, आँसुओं की धारा बह रही है। मुझ पापी के सामने आकर उपस्थित हो जाओ और यह कहकर कि "तुम पापी हो" चले जाओ। इस प्रकार तुम्हें एक बार देखने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय।"[१]

उपर्युक्त विवरण से आळ्वारों के भक्ति-पथ का सामान्य ज्ञान हो जाता है। आळ्वारों के अनुसार बुद्धि से भाव बड़ा है और ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ तथा सुगम है। भगवान एक है और उसके प्रति ऐकांतिक भक्ति होनी चाहिए। और किसी देवी-देवता की उपासना नहीं करनी चाहिए। नारायण ही जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय के कारण हैं। वे जगत् में अन्तर्यामी हैं और वे ही संसार का चक्र चलाते हैं। जगत् उनका शरीर है। इस शरीर में आत्मा भी वे ही हैं। चेतनाचेतन वस्तुएँ उनके प्रकारांतर हैं। भगवान सर्वव्यापी, अक्षर, अमृत हैं। वे सत्य सौन्दर्य की निधि, सच्चिदानन्द-स्वरूप, सर्व-कल्याण गुण-परिपूर्ण है और कृपासागर है। यह कृपा ही नारायण के वक्ष-स्थल निवासिनी लक्ष्मी है। वे अपने शील, वात्सल्य गुणों के कारण भक्तों के हित रामकृष्ण आदि अवतार लेकर अपने अर्चारूप पत्थर, पेड़, कांसा आदि से बनी प्रतिमा द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं। परमात्मा अपने भक्तों के लिए पिता, माता, मित्र, प्रभु, पति, गुरु के रूप में भिन्न-भिन्न समय में प्रगट होते है। ऐसे

१—'आळ्वारगळ्'—एम० यामुनाचार्य—पृष्ठ ५३।

परमात्मा की सब प्रकार से अहभाव तज कर, अपना सारा कार्य उनको अर्पित कर आराधना करनी चाहिए। संपूर्ण शरणागति द्वारा ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। यही प्रपत्ति-मार्ग है।

तमिळनाड का शैव-सिद्धान्त

शैव-सिद्धान्त का आरम्भ :

यो तो साधारणतया यह माना जाता है कि तमिळनाड का शैव सिद्धान्त एक अति प्राचीन संप्रदाय है। कुछ विद्वानो के अनुसार भारत मे आर्यों के आगमन के पहले ही वह तमिळनाड में विद्यमान था। डा० राधाकृष्णन् शैव-सिद्धान्त के बारे में लिखते हुए कहते हैं कि वह दक्षिणभारत में ईसा के जन्म के पहले ही प्रचलित था, लेकिन ईसा की पाँचवी या छठवीं शताब्दी में, जब कि बौद्ध और जैन धर्मों का हमला हुआ, वैष्णव-धर्म के साथ-साथ शैव-सिद्धान्त ने शिर उठाया और अपनी पूरी शक्ति लगाकर बौद्ध और जैन धर्मों के पैर उखाड़ दिए।[1] वह एक ऐसा समय था कि बौद्ध और जैन धर्म के प्रचारको ने दक्षिण भारत के कौने कौने मे पहुँच कर अपने-अपने धर्मों का झण्डा ऊँचा करने का प्रबल प्रयत्न किया था। ऐसी विकट परिस्थिति मे जिन शिव-भक्तो ने अपने उच्च व्यक्तिगत जीवन के उदाहरणों तथा अपने भक्ति भरे गीतों के द्वारा शैव-धर्म का पुनरुद्धार किया उनमें चार अत्यन्त प्रमुख थे। वे थे सन्त अप्पर, सबन्दर, सुरदर और माणिकवाचकर। इन भक्तो को समयाचारी भी कहते है। इन सन्तो ने न केवल समय-समय पर विदेशी धर्म-प्रचारकों से वाग्वाद करके अपने अकाट्य तर्कों द्वारा उनके धर्मों की असारता घोषित की बल्कि अपने निर्मल हृदय से निकले हुए भक्ति भरे भावों का ऐसा मधुर गीत गाया कि तमिळनाड की जनता का हृदय शिवभक्ति से ओतप्रोत हो गया। इन भक्तों के मधुर गीत 'तेवारम्' और 'तिरूवाचकम्' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम तीन भक्तों के गीत 'तेवारम्' कहलाते है जो तिरुमुरै नामक सात भागो में संग्रहीत है। माणिकवाचकर का लिखा हुआ

1—While it prevailed in South India even before the Christian era, it received a great access of strength from its opposition to Buddhism and Jainism, which it, along with Vaishnavism overcame about the fifth or sixth Century after Christ.

—Dr. Radhakrishnan.

'तिरूवाचकम्' आठवा तिरूमुरै कहलाता है। कहा जाता है कि इन चारों भक्तों ने भारतवर्ष के सभी तीर्थ-स्थानों की यात्रा की थी और शैव सिद्धान्त की उच्चता का प्रचार किया था। वे जहाँ गए वहाँ भक्ति के द्वारा शिव के साक्षात्कार का सरल मार्ग बताते गए। इन भक्तों के उपदेश का प्रभाव इतना पड़ा कि तत्कालीन पल्लव राजा महेंद्रवर्मन (प्रथम), जो जैन था, शैवधर्म में शामिल हुआ। उसी राजवंश के राजसिंह (प्रथम) (सन् ६९०–७१५ ई०) अपने एक शिलालेख में बड़े ही अभिमान के साथ शैवसिद्धान्त का अनुयायी होने का उल्लेख करते हैं।[1] उपर्युक्त चार महान भक्तों तथा गायकों ने अपने भक्ति भरे मधुर गीतों में सत्य, प्रेम, त्याग और सेवा का संदेश सुनाया और शैवधर्म को लोकप्रिय बनाया।

उपर्युक्त चार महान भक्तों के बाद तमिळनाड में शैवभक्तों की एक बड़ी मण्डली जुट गयी। ये भक्त तमिळ में नायनमार कहलाते हैं जिनकी संख्या तिरसठ बतायी जाती है। जिस प्रकार प्रथम चार प्रसिद्ध नायनमारों के गीतों के आठ संग्रह तैयार किए गए उसी प्रकार बाद के नायनमारों के भक्ति-परक पद और चार भागों में एकत्रित किए गए। इस प्रकार इन नायनमारों के बारह 'तिरूमुरै' प्रसिद्ध हुए जो शैव-सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए आधार-ग्रन्थ माने जाते हैं। बारहवें 'तिरूमुरै' का नाम है 'पेरियपुराणम' जिसमें उन तिरसठ भक्त नायनमारों का जीवनवृत्त वर्णित है जिन्होंने अपनी भक्ति और उपासना द्वारा मोक्ष प्राप्त किया था। इस पेरियपुराणम के रचयिता थे शेक्किळ्ठर जो सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान थे। इसी शताब्दी में मेयिकण्डर नामक शैवभक्त ने तमिळनाड के शैवसिद्धान्त का बारह सूत्रों में निरूपण किया। ये बारह सूत्र 'शिवज्ञान बोधं' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि सन आठवीं शताब्दी के पहले ही प्रथम चार भक्तों ने शैव-सिद्धान्त के तत्त्वों का अपने भक्ति भरे गीतों में निरूपण किया था तो भी उनके बाद सन्त तिरूमूलर ने अपने 'तिरूमन्त्रम्', 'ज्ञानामृतम्' 'तिरूवडंतियार' 'तिरूकळ्ठिट्-पडियार' आदि कृतियों द्वारा सम्प्रदाय को शास्त्रीय रूप प्रदान किया था। लेकिन शैव-सिद्धान्त की विचार-धारा में मेयिकण्डर के 'शिवज्ञान बोधम्' द्वारा पुनर्जागरण का युग उपस्थित हुआ। मेयिकण्डर के एक प्रमुख शिष्य अरूळ्ठनंदि शिवाचारयर ने शिवज्ञानबोधं की एक विस्तृत टीका लिखी। उसके बाद और भी कई भक्तों ने सम्प्रदाय के तत्त्वों का निरूपण अपने-अपने ढंग

1—South Indian Inscriptions, Volume—1, No. 24.

मे किया जिसमे उमापति शिवाचार्य का 'शिवप्रकाशम्' मुख्य है। यह है शैव-सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय। उपर्युक्त सिद्धान्त के तत्त्वों का निरूपण करने वाले ग्रन्थों की विशेषता एक तमिल पद्य मे बहुत सुन्दर ढंग से बतायी गयी है। पद्य का भावार्थ यों है :

> "वेद एक गाय है, आगम उसका दूध है, तेवारम् और तिरुवाचकम् उसमे निकाला हुआ घी है, मेयिकण्डर का शिवज्ञानबोधम् उस घी का सार है।"[1]

शैव-सिद्धान्त आगम को मानता है।

शैव-सिद्धान्त का दर्शन-पक्ष

शैव सिद्धान्ती लोग त्रिपदार्थ अर्थात् पति, पशु और पाश को मानते है। पति (शिव), पशु (जीव) और पाश (बन्धन)—ये तीनों अविनाशी है। इनका न आदि है न अन्त। पशु में तीन तत्त्व है—मल, माया और कर्म। मल सदा जीव के साथ लगा रहता है। जीव अपनी मूल स्थिति मे इस मल से आवृत रहता है। जीव को तनु, करण, भुवन और भोग प्रदान करने के लिए जगत का निर्माण होता है। अपने-अपने कर्म के अनुसार जीव को ऊपर कहे चार रूप प्राप्त होते हैं। कर्म एक अबाधित धारा है जिससे जीव जन्म-मरण के चक्र में बंधा रहता है। यद्यपि इसका आविर्भाव शिव से नही हुआ है तो भी उसका सचालन शिव ही करते है। जब कर्म परिपक्व नहीं होता तब जीव कर्म से मुक्ति नहीं पा सकता। भगवान तो सबको मुक्त करना चाहते हैं लेकिन जब तक जीव मलपरिपाक की स्थिति को प्राप्त नही होता तब तक शिव की कृपा का कोई फल नही मिलता।

जीवन अपने कर्म का फल भोगने के लिए जन्म-मरण के बन्धन में फंसा रहता है। जीव स्वयं ही इस बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। शिव सर्व शक्तिमान और सर्व-व्यापक है। उनकी व्यापकता की सिद्धि शक्ति द्वारा होती है जो उन्ही से इस तरह उत्पन्न होती है जिस तरह सूर्य से किरणें निकलती हैं। जगत की सृष्टि का कारण उनकी लीला ही है। यह लीला बच्चो की क्रीड़ा नहीं है। क्योंकि इस क्रीड़ा के लिए उन्हे किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक परिश्रम करना नही पड़ता। यह संकल्प मात्र है। परमात्मा अपनी

1—Introduction and History of Saiva Siddhantha by G. Subramanya Pillai, Page 19.

अपार कृपा के कारण ही जीवों को बन्धन से मुक्त करने के लिए जगत की सृष्टि करते हैं। शिव ज्ञानमय और चैतन्यमय हैं, सर्वशक्तिमान हैं, परम दयावान हैं। शैव-सिद्धान्त जीव और परशिव के बीच में अद्वैत भाव मानता है, लेकिन उनकी अद्वैत कल्पना कुछ भिन्न प्रकार की है। नदी के पानी का जब समुद्र के पानी में मिलाप होता है तब दोनों में न किसी प्रकार का अन्तर रह जाता है और न उनका अलग-अलग अस्तित्व ही रहता है। शैव सिद्धान्त इस प्रकार के अद्वैत को नहीं मानता। क्योंकि उसके अनुसार जीव, जगत और परमात्मा तीनों सत्य है। जीव अनंत हैं और शिव से भिन्न है। प्रत्येक जीव अपना अलग अस्तित्व रखता है। इस सिद्धान्त में अद्वैत का अर्थ नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। सूर्य के उदय होने पर आकाश में जितने तारे हैं वे दिखाई नहीं पड़ते। उनका प्रकाश सूर्य के प्रकाश में लीन हो जाता है, लेकिन नक्षत्र अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं। इसी प्रकार जीव और परमात्मा दोनों अद्वैत अवस्था में अपना अलग अस्तित्व बनाए रखते हैं।

साधना-मार्ग

शैव-सिद्धान्त में मोक्ष के लिए चार मार्ग बताए गए हैं—चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान। चर्चा का मतलब है मन्दिरों में शिव के सकल रूप की उपासना करना। आगमों में वर्णित क्रियाओं के अनुसार शिव के सकल और निष्कल रूप की पूजा करना क्रिया कहलाती है। इसके अन्तर्गत मूर्त और अमूर्त स्वरूप का बाह्य और आन्तरिक ध्यान भी आ जाता है। बिना किसी बाहरी उपकरण के परमात्मा के अचिंत्य स्वरूप की मानसिक उपासना ही योग है। योगी के मन में केवल भगवान का निष्कल रूप ही विद्यमान रहता है। अन्तिम मार्ग है ज्ञान अथवा विवेक जिसके द्वारा भावातीत परमात्मा का साक्षात्कार होता है। प्रथम तीन मार्ग चौथे मार्ग की तरफ ले जाने के लिए सहायक है। चर्या और क्रिया के अन्तर्गत सब प्रकार के आध्यात्मिक और धार्मिक विधि-विधान शामिल है। आत्म संयम के लिए योगाभ्यास की आवश्यकता है। उपर्युक्त चार मार्गों का उद्देश्य जीव को दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति के लिए योग्य बनाना ही है। निष्ठा के साथ निरन्तर इन चार मार्गों में बताए नियमों के अनुसार उपासना करने पर जीव में परमात्मा के प्रति स्थायी प्रेम उत्पन्न होता है। हर (शिव) स्वयं गुरु का रूप धारण कर जीव को सच्चे ज्ञान का उपदेश देते हैं। इन चार मार्गों का आशय नीचे के गीत में वर्णित भाव द्वारा स्पष्ट होता है :—

'हे प्रभो, चर्या से ज्ञान तक के ये चार मार्ग कली, विकसित फूल, अपक्व फल और परिपक्व फल के समान क्या नहीं हैं ?"[1]

शिव परम गुरु है और भक्तों को अपना प्रसाद प्रदान करते हैं। नायनमारों का यह विश्वास है कि जीव को संसार के बन्धन में डालने वाले पाश को तोडने और आत्मा को शुद्ध करने के लिए भक्ति ही प्रधान साधन है। इस भक्ति की तीव्रता के कारण कभी-कभी नायनमार भक्ति की साधना में बाधा डालने वालों पर अमानुषिक कृत्य करने के लिए भी तैयार हो जाते थे। कहा जाता है कि येरिपत्तनायनार उन लोगों पर अपनी कुल्हाड़ी फेंकते थे जो उनकी भक्ति मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करते थे। कण्णप्प नायनार ने शिव के लिए अपनी आँखे उखाड ली थी, कलाइया नायनमार ने अपनी पत्नी के मंगलसूत्र को भी बेच दिया था और अन्त में अपनी पत्नी को भी बेचने के लिए तैयार हो गए थे। जब उनकी पत्नी को खरीदने के लिए कोई राजी नहीं हुए तब वे देवमन्दिर मे बत्ती जलाने के लिए तेल के बदले अपने बदन के रक्त को ही इस्तेमाल करने लगे थे।

शैव-सिद्धान्त के भक्ति-सम्प्रदाय मे उच्च-नीच, जात-पांत, स्त्री-पुरुष का कोई भेद-भाव नहीं था। नायनमारो मे सब जातियो के भक्त शामिल थे। कण्णप्प जाति के थे और प्रसिद्ध भक्त नंदनार हरिजन थे। नायनमारों मे कई स्त्रियाँ भी थी। तिरूनीलक्कनायनार की पत्नी की एक रोचक कहानी कही जाती है। किसी समय नायनमार शिव की पूजा कर रहे थे। तब शिव मूर्ति पर एक मकड़ी गिर पड़ी। नायनमार की पत्नी ने, जो कि सामने खडी थी, मुँह से फूँक कर उसे हटा दिया। उस समय उसके मुँह से जो लार गिरी वह शिव मूर्ति पर पड़ी। यह देखकर नायनमार ने समझा कि शिव मूर्ति अपवित्र होगयी। इसलिए नाराज़ होकर उन्होंने अपनी पत्नी को घर से निकाल दिया। लेकिन उस दिन रात को स्वप्न में भगवान प्रत्यक्ष होगए। नायनमार को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि कि जिस जगह पर स्त्री के मुँह से लार पड़ी थी वह साफ थी, पर शिवमूर्ति का बाक़ी सारा अंग सूज गया था। उस समय नायनमार को ज्ञानोदय हुआ। नायनमारों की अनन्य-भक्ति की इसी प्रकार की कई अद्भुत कहानियाँ कही जाती हैं।

कर्नाटक का वीरशैव सम्प्रदाय, जिसका संक्षिप्त परिचय इसके पहले ही

1—Introduction and History of Saiva-Siddhantha—by G. Subramanya Pillai—Page 77.

दिया जा चुका है, बहुत-सी बातों में तमिळनाड के शैव-सिद्धान्त से प्रभावित हुआ है। इस सम्बन्ध में वीरशैव-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आधुनिक विद्वान डा० नन्दीमठ के निम्नलिखित विचार द्रष्टव्य है—

"In spite of many divergencies in philosophy ritualism between Virasaivism and the Saiva Siddhanta, there appears to be something common to both. We have no authentic books on Virasaivism written before the 12th century, which would have helped us to ascertain its exact relation to other Saiva schools before that date; but after that century, when the revival took place the sixty three Canonical Saiva Saints, whom the Saiva Siddhanta considers to be its apostles, were raised to the position of puratanas, the ancient ones, the pillars of Virasaivism as well. There is ample reference to these sixty three Saiva Saints in the vacanas of Basava and his colleagues (1160 A. D.). Their conception of God in the lower stages exactly coincides with that of Saiva Siddhanta. Many passages from the Vacana-Sastra contain not only the ideas found in the 'Tiruvacakam of Manikkavacagar and other Saiva Saints, but are also couched in similar words, so as to suggest borrowing. As these two schools exist side by side in Southern India even today the influence of one over the othe- and mutual free borrowing of ideas is not an impor ssibility."[1]

वीरशैव भक्त-कवियो ने न केवल तिरसठ नायनमारो की जीवनिया कन्नड में लिखी है बल्कि 'पेरिय पुराणम्' का अनुकरण करते हुए वीरशैव भक्तों की जीवनियाँ लिखने की परिपाटी भी चलायी है। भीम कवि का 'बसव पुराण' राघवांक का 'सिद्धराम पुराण', पद्मणांक का 'पद्मराज पुराण', चामरस का 'प्रभुलिंगलीले', बोम्मरस का 'सौंदरपुराण', चतुर्मुख बोम्मरस का 'रेवणसिद्ध पुराण', और विरूपाक्ष पण्डित का 'चेन्नबसवपुराण' आदि इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध पुराण हैं।

1—A Hand Book of Viravaivism—S. C. Nandimath Page 94.

*

सप्तम अध्याय

दोनों प्रदेशों की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ

हिन्दी-प्रदेश मे राजनीतिक परिस्थिति

भक्ति आंदोलन के स्वरूप को भलीभाति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी और कन्नड प्रदेशो की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियो का थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त कर लिया जाय।

आलोच्य काल के राजनीतिक इतिहास को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रधानतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) मुगल बादशाहों के साम्राज्य की स्थापना के पहले का काल। लगभग सन् १२०० से सन् १५०० तक। (२) मुगल बादशाहों के साम्राज्य की स्थापना से उसके अन्त तक का काल। लगभग सन् १५०० से सन् १७०० तक।

जिस समय हिन्दी-साहित्य बनने लगा था (सन् १००० से सन् १४०० तक) वह हिन्दी साहित्य का आदिकाल माना जाता है। उस समय उत्तरी भारत की राजनीतिक दशा अत्यन्त दयनीय थी। एक ओर सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त उत्तरी भारत का भू-भाग अनेक छोटे-बड़े राजवंशों में बंट गया था और ये राजवंश अपने-अपने प्रभुत्व के विस्तार के हेतु अक्सर आपस में लड़ते रहते थे। कोई ऐसी केन्द्रीय राजसत्ता स्थापित नहीं हो सकी थी जिसके झंडे के नीचे सब राजवंश इकट्ठे होते। दूसरी ओर, गजनी के सुलतानों के हमलों की लहरें भारतवर्ष पर बारम्बार चलने लगी थीं जिनको रोकने की हिन्दू राजाओं में निरन्तर चिंता लगी रहती थी। सन् १००० से लगभग सन् १०३० तक गुहम्मद गज़नवी ने भारतवर्ष पर सत्रह बार जो हमले किए वे इतिहास में प्रसिद्ध ही हैं। इन हमलों में महमूद ने इसफ़हान से बुन्देलखण्ड तक और समरकन्द से गुजरात तक समस्त देशो को जीत डाला। जहाँ-जहाँ महमूद के सैनिक गए वहाँ-वहाँ उन्होने न केवल अपार सम्पत्ति को लूटा बल्कि हिन्दू मठ-मन्दिरों को तहस नहस किया, धर्मान्धता के

जोश में हजारों हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया और साधारण जनता पर तरह तरह के अत्याचार किए। इस समय के हिन्दू राजाओं में वीरता, शारीरिक शक्ति, आत्मत्याग, कष्ट सहन इत्यादि गुण मुसलमानों से किसी प्रकार कम न थे। वे उस समय भी वीरों की भांति मरना जानते थे। हिन्दुओं का युद्ध कौशल भी किसी प्रकार मुसलमानों के युद्ध कौशल से कम न था। उनमें स्वदेश और स्वधर्म के प्रति श्रद्धा और प्रेम की भी कमी नहीं थी। परन्तु उनमें नितांत अभाव था एक मौलिक गुण का जिसके कारण उनके अन्य सभी गुण निरर्थक सिद्ध हुए। उनमें अभाव था उस विवेक और दूरदर्शिता का जिसके बिना वे राजनीतिक राष्ट्रीय ऐक्य का मौलिक सिद्धान्त भूल गए थे। प्राचीन क्षत्रियों का धर्म था युद्ध करना और अपने धर्म तथा राज्य की रक्षा करना। इस धर्म का पालन उन्होंने अवश्य किया, लेकिन उसकी सीमा आपस से लड़ने तक ही रही। इसका परिणाम यह हुआ कि जब समस्त देश और धर्म की रक्षा की आवश्यकता हुई तब वे अपने हृदय में आपस के भेद-भाव को भुलाकर समस्त राष्ट्र के हित को सर्वोच्च स्थान न दे सके। इसके अतिरिक्त इस समय जाति-भेदों और अविश्वासों से हिन्दू जाति कमज़ोर हो गयी थी। वे स्वयं अकर्मण्य और प्रमादी बनकर यह आशा करते थे कि उनके भगवान स्वयं यवनों का नाश करेंगे। पुरुषत्व की अपेक्षा भाग्य पर उनका विश्वास अधिक था और इहलोक से परलोक की ओर उनकी दृष्टि लगी रहती थी। इसके प्रतिकूल मुसलमान हर प्रकार से विजय करना ही अपना जीवनोद्देश्य समझते थे और उनकी दृष्टि पूर्णतया इहलोक की ओर ही लगी थी। परिणाम-स्वरूप हिन्दुओं को परलोक प्राप्त हुआ और मुसलमानों को इहलोक।

यद्यपि महमूद गजनवी ने उत्तरी भारत के विशाल भू-भाग के ऊपर अपनी विजय-पताका फहराई थी तो भी उसका कोई शक्तिशाली राज्य भारत-वर्ष में स्थापित नहीं हुआ। महमूद में एक बड़े सेनानी के सब गुण मौजूद थे और उसका महत्त्व युद्ध-कौशल ही में था। परन्तु राज्य संगठन और सुप्रबन्ध की ओर उसकी कोई विशेष रुचि नहीं थी। उसने राज्य-प्रबन्ध का सारा काम अपने कर्मचारियों पर छोड़ दिया था। यद्यपि ये कर्मचारी बड़े ही मेहनती और ईमानदार थे तो भी उनमें राजनीतिज्ञों की न दूरदर्शिता थी न तीक्ष्ण बुद्धि ही। इसलिए भारतवर्ष में महमूद का कोई विशाल राज्य संघटित नहीं हो सका। महमूद के बाद भी मुसलमान आक्रमणकारियों के हमले भारत पर

यदा कदा होते रहे, किन्तु उनमें से कोई भी पंजाब मे आगे अपना राज्य नहीं कर सके और राजपूत राजा उनको परास्त करके देश की रक्षा करते रहे। लगभग डेढ़ सौ सालो के उपरान्त गजनी मे दूसरे एक राज-वंश ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इसी वंश के मुहम्मद गौरी ने भारतवर्ष पर विशाल सेना के साथ आक्रमण करना शुरू किया और सन् ११९२ मे दिल्ली को अपने कब्जे मे कर लिया। इस समय दिल्ली के प्रसिद्ध चौहान अधिपति पृथ्वीराज के नेतृत्व मे हिन्दू-शक्ति एक बार जागी, किन्तु पारस्परिक द्वेषाग्नि मे स्वय जल गयी, आक्रमणकारियो की शक्ति को परास्त नही कर सकी। परिणाम स्वरूप पहली बार भारत की राजधानी दिल्ली मे गौरी के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा मुसलमानी राजसत्ता स्थापित हुई। कुतुबुद्दीन ऐबक गौरी का एक दास था, इसलिए इस राजवंश का नाम 'गुलाम वश' पड़ा।

सन् ११९३ मे दिल्ली मे अपनी राजधानी स्थापित करने के उपरान्त कुतुबुद्दीन ऐबक ने अपने राज्य के विस्तार की ओर ध्यान दिया। उसने इसी साल कन्नौज के गहड़वाल राजा जयचन्द को चन्दवर (वर्तमान फीरोजाबाद) के पास बुरी तरह हराया और आगे बढ कर अजमेर को अपने वश मे किया। उसके बाद उसने गुजरात, ग्वालियर, हांसी और बयाना पर हमला करके वहाँ के राजाओं को अधीनस्थ सामन्त बनाया। इधर सुल्तान के सैनिको ने बदायूँ, अवध, बिहार और बङ्गाल को जीत लिया। इस प्रकार उत्तर भारत का विशाल प्रदेश दिल्ली के गुलाम वंश के मुसलमानी राज्य मे शामिल हो गया। सन् १२१० मे ऐबक की मृत्यु हुई। ऐबक को अपने राज्य के विस्तार मे ही विशेष ध्यान देना पड़ा। फलत वह शासन-व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नही दे सका। हिन्दुओं के साथ उसका वैसा ही व्यवहार था जैसा महमूद गज़नवी या मोहम्मद गौरी का था। उन हिन्दुओ के साथ, जिन्होने उसकी प्रभुता स्वीकार की, उसने उदारता का व्यवहार किया, लेकिन, अजमेर, बनारस और देहली मे उसने एक भी हिन्दू-मन्दिर बाकी नही छोड़ा। मन्दिरो के स्थान पर मस्जिदें बनवायी। ऐबक के बाद क्रमश. अल्तमश, रुक्मुद्दीन फीरोज, सुलताना रजिया, नासिरुद्दीन मुहम्मद, बलबन दिल्ली के सुलतान बने। इन सबो के समय मे भी वही राजनीतिक दशा रही जो कुतुबुद्दीन ऐबक के समय मे थी। सन् १२९० मे दासवश का अन्त हुआ और खिल्जीवश का आरम्भ जलालुद्दीन के साथ हुआ।

दिल्ली की गद्दी पर जितने खिल्जीवंश के बादशाह बैठे उनमें जलालुद्दीन

खिल्जी तथा अलाउद्दीन प्रधान थे। खिल्जी-वश के बाद तुगलक वश ने दिल्ली की राजसत्ता अपने हाथ में ली।

खिल्जी वंश के सुलतानों में अलाउद्दीन का नाम उल्लेखनीय है। इसके सामने भी वही परिस्थिति थी जो उसके पूर्ववर्ती शासकों के सामने थी। अमीरो के विद्रोह, स्वय अपने बंधुओ की प्रतिस्पर्धा, मुगलो का आक्रमण, आन्तरिक तथा बाह्य-स्थिति को यथेष्ट सकटमय बनाए हुए थे। अलाउद्दीन ने इन सभी परिस्थितियो का सामना किया और साम्राज्य की सीमा का विस्तार करने का भरसक प्रयत्न किया। सन् १३०३ मे अलाउद्दीन की चित्तौर पर चढ़ाई और राणा रत्नसिह की रानी पद्मिनी का सैकड़ों राजपूतानियो के साथ जौहर की आग मे जल कर मरना भारत के इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना ही है। इस चढ़ाई मे अलाउद्दीन विजयी अवश्य हुआ, लेकिन जैसे ही दिल्ली की राजसत्ता कुछ कमजोर हो गयी चित्तौड़ फिर से स्वतन्त्र हो गया। सुलतान ने न केवल मालवा, उज्जैन, धार, माण्डू, चन्देरी को फिर से अपनी सल्तनत में मिलाया बल्कि अपने सुयोग्य मन्त्री मलिक काफूर की सहायता से सुदूर दक्षिण के देवगिरि और वारंगल जैसे प्रबल राज्यो को जीत कर वहाँ से खूब धन-सम्पत्ति प्राप्त की। यद्यपि अलाउद्दीन के शासन काल म सल्तनत के सभी विभागों मे कुछ सुधार हुआ तो भी हिन्दू प्रजा के प्रति शासको का जो दृष्टिकोण था उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ। यही कारण है कि हिन्दू राजा सदा सल्तनत के प्रति विद्रोह करने के मौके की ताक में रहते थे।

तुगलक वश के शासन-काल मे हिन्दुओं के साथ कुछ उदारता का व्यवहार किया गया। विशेष रूप से गयासउद्दीन तुगलक के समय में देश में शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। गयासउद्दीन बड़ा ही क्रियाशील, कर्त्तव्यपरायण तथा प्रजाहितकारी था। हिन्दी का प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो इसी काल मे हुआ था। इसी वंश के मुहम्मद तुगलक के राज्य-काल के उत्तरार्ध मे विशाल पठान साम्राज्य के टुकड़े होने शुरू हो गए थे। ५०-६० बरस के अन्दर दिल्लीश्वर का राज्य राजधानी दिल्ली के इर्द-गिर्द १०-२० मील से अधिक नहीं रहा। दिल्ली के राज्य के पतन के साथ-साथ उत्तर भारत मे जौनपुर, बंगाल, बिहार, मध्यभारत मे मालवा, गुजरात, सिंध, खानदेश और दक्षिण में बहमनी तथा विजयनगर राज्य प्रादुर्भूत हुए।

सन् १५२६ मे बाबर ने प्रसिद्ध पानीपत के युद्ध में दिल्ली के अन्तिम सुलतान इब्राहीम को हराकर दिल्ली और आगरे पर अधिकार जमाया और

इस प्रकार दिल्ली मे मुगल साम्राज्य की नीव डाली। मुगल साम्राज्य का काल उत्तरी भारत के ही नही प्रत्युत् सारे भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सन् १५३० में बाबर की मृत्यु हुई और उसके बाद दिल्ली की गद्दी पर क्रमशः हुमायूं, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब बैठे। जिस समय अकबर सम्राट बना उस समय मुगल साम्राज्य दिल्ली और आगरे तक ही सीमित था और वह चारों ओर से दुश्मनों से घिरा हुआ था। यद्यपि अकबर निरक्षर था तो भी बडा ही बुद्धिमान, साहसी, राजनीति-कुशल था। उसने बड़ी ही चतुराई के साथ परिस्थिति को सभाला। न केवल उसने साम्राज्य के सभी दुश्मनो को एक-एक करके हराया बल्कि साम्राज्य का नये सिरे पे सगठन करते हुए विस्तार किया। साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने और सर्वत्र शान्ति स्थापित करने के लिए उसने यह अत्यन्त आवश्यक समझा कि हिन्दू और मुसलमानो के साथ एक-सा व्यवहार किया जाय। हिन्दुओ के साथ मेल-जोल बढाने के उद्देश्य से उसने जयपुर की राजपूत राजकुमारी के साथ विवाह किया और अपने बेटे सलीम का विवाह जोधपुर की राजकन्या से कराया। हिन्दुओं पर जो जजिया लगाया गया था उसे हटाया और शासन-व्यवस्था में हिन्दुओ को समान अधिकार देकर प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त शासन-व्यवस्था मे ऐसे बहुत से सुधार कराए जिससे हिन्दुओ में जो असतोष फैला था वह दूर हो गया। अकबर की इस उदार नीति के कारण मुगल साम्राज्य में पूरी शान्ति स्थापित हुई और उसकी सर्वतोमुखी उन्नति हुई। अकबर के धार्मिक विचार बड़े ही उदार थे। उसके दरबार मे सब धर्मों के विद्वानो का समान रूप से आदर होता था। मुल्लाओ की कट्टरता तथा धर्मान्धता से अकबर बहुत ही असतुष्ट था। उसने अपने साम्राज्य की प्रजाओ मे धार्मिक मत-भेदो और झगड़ो को सदा के लिए दूर करके परस्पर प्रेम-भाव बढ़ाने के उद्देश्य से एक ऐसे धर्म की स्थापना करने की कल्पना की जिसमे सभी धर्मो के मूलतत्वो का समावेश हो जाय और व्यर्थ के बैर या द्वेष के लिए कोई मौका न मिले। इस नूतन धर्म का नाम उसने 'दीने इलाही' अर्थात् 'ईश्वरीय धर्म' रखा। इस प्रकार अकबर ने धार्मिक विचारो मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने अपने राज्य मे साहित्य तथा अन्य ललित कलाओ के लिए प्रोत्साहन भी दिया। सचमुच अकबर जगत् का एक श्रेष्ठ शासक तथा सम्राट था।

जहाँगीर और शाहजहाँ का शासन काल साम्राज्य के अभ्युदय के लिए अनुकूल नही रहा। एक ओर सामन्तो का साम्राज्य के प्रति विद्रोह होता

रहा जिसे दबाने की सम्राटों को चिन्ता लगी रहती थी. दूसरी ओर उत्तराधिकार के लिए राज-परिवार के भीतर बराबर संघर्ष चलता रहा जिससे साम्राज्य के संगठन मे बाधा उपस्थित होती थी। वैसे तो ये दोनों सम्राट सुशिक्षित थे और कला प्रेमी भी। आगरे का सुप्रसिद्ध ताजमहल शाहजहाँ के जमाने मे बनाया गया था। औरंगजेब ने अपने बडे-भाई दाराशिकोह का वध करा कर और अपने पिता शाहजहाँ को बन्दी बना कर सन् १६५८ में अपने को सम्राट घोषित किया। इसके शासन-काल मे मुगल साम्राज्य उन्नति के शिखर पर पहुंच कर अवनत होने लगा। औरंगजेब ने राज्य की बागडोर अपने हाथ मे लेते ही नृशंस तथा धर्मान्ध शासक की नीति घोषित की। उसके बाप-दादाओं के काल से चली आयी हुई उदार नीति का अन्त हो गया। उसने हिन्दुओ पर फिर से जजिया कर जारी कर दिया। हिन्दू तीर्थ-स्थानो मे सुन्दर-सुन्दर मठ-मन्दिर तोडकर उनकी जगह पर मस्जिदे बनवायी। साम्राज्य के दृढ स्तम्भ-स्वरूप राजपूतों के प्रति अविश्वास और अनादर का व्यवहार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य मे सर्वत्र अशाति और हलचल आरम्भ हो गयी। दक्षिण मे मराठा शक्ति का उदय हुआ जिसका बड़ी कठिनाई के साथ सम्राट को सामना करना पडा। दक्षिण के गोलकुण्डा और बीजापुर के नवाबो को हराने का परिणाम साम्राज्य के पतन में सहायक ही सिद्ध हुआ। अंततोगत्वा सन् १७०७ म औरगजेब की मृत्यु के साथ-साथ मुगल साम्राज्य का भाग्य-सूर्य सदा के लिए डूब गया। पजाब में सिक्ख शक्ति का आतक छा गया। राजपूतों ने मुगलों का साथ देना छोड़ दिया। रुहेलखण्ड में रुहेलो का राज्य स्वतन्त्र हो गया। अवध तथा बंगाल में नवाबों ने कर देना बन्द किया और आगरे के पास वाले जाटों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। इस बीच में प्रसिद्ध आक्रमणकारी नादिर-शाह ने दिल्ली पर धावा बोल दिया तथा रक्त की नदी बहाई और मयूरासन लेकर लौट गया। इस मौके से लाभ उठाकर दक्षिण के मराठो ने फिर से हिन्दू राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ाई। इस प्रकार दीर्घकालीन मुसलमानी साम्राज्य का अन्त हुआ।

सामाजिक और धार्मिक स्थिति

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे आलोच्य काल में हिन्दी-प्रदेश की राजनीतिक परिस्थिति कितनी डाँवाडोल और अनिश्चित थी। एक ओर हिन्दू राजा आपस के लड़ाई-झगड़े में व्यस्त रहते

थे तो दूसरी ओर मुसलमानों का आक्रमण बराबर होता रहता था। इस देश में मुसलमानों के राज्य की स्थापना के उपरान्त भी राजनीतिक स्थिति मे स्थिरता और पूर्ण शान्ति स्थापित नही हो सकी। क्योकि भिन्न-भिन्न मुसलिम राजवशों के गिरने और उठने तथा उत्तराधिकार के लिए उनके आपस के सघर्षों का सिलसिला जारी रहता था। इसके अतिरिक्त अकबर जैसे कुछ उदार चेता मुसलिम शासको को छोडकर बाकी सब के सब हिन्दू जाति को नीची निगाह मे देखा करते थे और मौके वे-मौके अपने पाशविक कृत्यो मे सताया करते थे। अपने घर बार, माल-असबाब, तथा बहू-बेटियों की रक्षा का प्रश्न हिन्दुओ के सामने सदा विकट बना रहता था। प्रजा ने असहाय होकर राजनीतिक गुलामी को स्वीकार कर लिया था तो भी उसे आत्म-गौरव के साथ जीना सम्भव नही था। मुगलो के विशाल साम्राज्य के स्थापित होने पर देश मे सुख और समृद्धि का काल अवश्य आया और हिन्दुओ ने भी थोड़ा बहुत उसका उपयोग अवश्य किया, लेकिन उसकी अवधि कुछ अधिक नही रही।

मुसलमानों के आरम्भिक आक्रमण तथा राज्य-स्थापन-काल मे हिन्दुओ के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन मे बहुत कुछ उलट फेर होने लगा था। हिन्दुओं की वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था का रूप विस्तृत हो गया था और नाना प्रकार की जाति-उपजातियो का बोलबाला था। छूआ-छूत, उच्च-नीच के भेद-भाव बढ़ने लगे थे। समाज में गोत्र, प्रवर, आदि के अनुसार जाति-पांति के अर्थहीन झगडे बढ रहे थे। बाल-विवाह की प्रथा चल पड़ी थी और विधवा-विवाह का पूरा निषेध था। यद्यपि ब्राह्मणों का पतन हो गया था तो भी अन्य जातियो के साथ उनका व्यवहार गौरव-युक्त नही था। जब इस प्रकार सामाजिक जीवन मे उच्छृङ्खलता का ताण्डव हो रहा था तब विजेता मुसलमानों की सामाजिक व्यवस्था का भी उसपर प्रभाव पड़ने लगा। मुसलमानो के रहन-सहन, वेश-भूषा आदि की बहुत-सी बातों का हिन्दू-जीवन में समावेश होगया। हिन्दू जातियो मे क्षत्रियों का प्रभाव बढने लगा। राजपूत शक्ति-शाली और वीर योद्धा थे। वे अपनी उदारता, न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध थे। वे स्त्रियों के प्रति विशेष आदर का भाव रखते थे। और उनकी स्त्रियाँ भी अपने पतियों के लिए अपने प्राणो की कुरबानी करने को तैयार रहती थीं। उस समय जौहर-प्रथा चल पड़ी थी और वीरांगनाओं के अपने पतियों की चिताओं में हँसते-हँसते जल मरने की रोमांचकारी घटनाओं के कितने ही उदाहरण तत्कालीन साहित्य मे मिलते हैं। इन सब अच्छे गुणों के होते हुए भी राजपूत

वीरो मे अनेक दुर्गुण भी विद्यमान थे। व्यक्तिगत स्पर्धा मे अन्धे होकर वे आपस मे लड-पडते थे और राष्ट्रहित को व्यक्तिगत हानि लाभ से ऊचा नहीं समझ पाते थे। इस राष्ट्रीय चेतना के अभाव के कारण वे उस समय सगठित नही होते थे जिस समय देश के ऊपर विपत्तियाँ आती थी। इसमे सदेह नही कि पृथ्वीराज, हम्मीरदेव, राणा सागा, राणाप्रतापसिह जैसे वीर राजपूत हुए जिन्होंने देश के गौरव की रक्षा करते-करते अपने प्राण अर्पण किए। किंतु अधिकाश राजपूत राजा आवश्यकता पड़ने पर वैयक्तिक राग द्वेष से ऊपर नही उठ सके। इसलिए विदेशी आक्रमणकारियो से देश की रक्षा नही हो सकी और राजनीतिक परतन्त्रता के साथ साथ अनगिनत विपत्तियाँ भी आयी जिनसे सामाजिक जीवनदशा अत्यन्त चिंतनीय हो गयी।

सम्राट् हर्षवर्धन के बाद उत्तरी भारत मे बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा था और हमारे आलोच्य काल मे उसका पूरा उन्मूलन हो गया था। बिहार के विहारो मे बने हुए बौद्ध धर्म के चिह्न भी तेरहवी शताब्दी के मध्यकाल में मुसलमानो के आक्रमण से मिट-से गए। बौद्ध-धर्म के विनाश के लिए सबसे प्रबल कारण श्री शकराचार्य के द्वारा चलाए वैदिक धर्म का पुनरुत्थान आन्दोलन था। दूसरा एक कारण यह था कि भगवान बुद्ध के उदात्त आदर्शों का उन्ही के अनुयायी पालन करने मे असमर्थ हो गए थे। बौद्ध सघारामो मे नाना प्रकार की बुराइयाँ घुस आयी थी। महायान शाखा की कई प्रशाखाएँ उत्पन्न हो गयी थी जिनकी उपासना-पद्धतियो मे उसी कर्मकाण्ड की बहुत-सी बुराइयाँ प्रवेश कर चुकी थी जिनका निवारण करने के लिए भगवान बुद्ध ने अहिसात्मक आचार धर्म की स्थापना की थी। इस प्रकार जब ह्रासोन्मुख बौद्ध धर्म जनता का पथप्रदर्शक बनने की शक्ति खो बैठा था तब उत्तरापथ मे नाथ सम्प्रदाय, शाक्तमत जैसे शैवमत के विभेदो का प्राबल्य हुआ। इन मतो की साधनाओ से जितना लाभ हुआ उतना नुकसान भी हुआ। इनसे चारित्रिक पवित्रता तथा नैतिक मूल्यो का महत्त्व अवश्य बढा, लेकिन इनकी शुष्क साधनाओ, करामातों द्वारा जनता की आध्यात्मिक प्यास नहीं बुझी। मुसलमानों का एकेश्वरवाद, राजसत्ता का सहारा पाकर अपनी प्रभा फैलाने लगा। मुसलमानी समाज मे व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मे जो समानता का आदर्श था उससे हिन्दू जनता अवश्य प्रभावित हुई। लेकिन इससे उसके हृदय में मुसलमान धर्म के प्रति आदर या श्रद्धा का भाव नहीं बन सका। कारण स्पष्ट है। एक तो मुसलमान भारतवर्ष मे इसलिए नहीं आए थे कि यहाँ की जनता का कुछ भला करे। वे इसलिए आए थे कि तलवार के बल पर

ही सही, काफिरों को मुसलमान बना दिया जाय। दूसरा, वे लोग हिन्दू जीवन-दर्शन के किसी पहलू के साथ किसी प्रकार का समझौता करने के लिए सर्वथा तैयार नही थे। फलतः हिन्दू-हृदय में मुसलमानों के मानुषिक कृत्यो से प्रति-हिंसा की तीव्र ज्वाला धधकने लगी। राजनीतिक परिस्थिति के प्रतिकूल होने के कारण वे लहू का घूट पीकर रह गए थे। हिन्दू और मुसलिम धर्मों के बीच मे सदा सघर्ष ही चलता रहा। न हिन्दू धर्म मुसलिम धर्म को पचा सका जैसा कि वह इसके पहले अन्य धर्मो का आत्मसात् करता आया था, न मुसलिम धर्म ही हिन्दू धर्म की जड़ को हिला सका। सचमुच हिन्दू और मुस्लिम धर्मो के आपस के संघर्षो की कहानी बड़ी ही रोचक है। मुसलमानो के साथ जो सूफी संत भारतवर्ष मे आए थे उन्होने अपने प्रेम-प्रधान साधन-मार्ग द्वारा इन दो जातियों के बीच की खाई को यथाशक्ति भरने का प्रयत्न किया। इन सूफी सन्तों के लिखे प्रेमाख्यानक काव्यों मे उत्तरापथ के जीवन को मधुर करने तथा हिन्दी-साहित्य के भण्डार को समृद्ध बनाने में सहयोग मिला। जिस समय मुसलमान राज्य अपने वैभव के अत्युच्च शिखर तक पहुँच गया था उस समय मुसलमान बादशाहो और नवाबो के महलो में भोगविलास का ताण्डव होने लगा जिसके फलस्वरूप आगे चलकर सारे मुसलिम साम्राज्य का पतन हुआ। मुसलमानो की इस विलासिता का भी कुछ प्रभाव हिन्दू-जीवन पर पड़े बिना नही रहा। इस प्रकार नाना प्रकार के प्रभावों मे हिन्दू-जीवन पथभ्रष्ट और लक्ष्यहीन हो गया था।

श्री शकराचार्य की प्रसिद्ध दिग्विजय के फलस्वरूप उत्तरी भारत मे नास्तिक मतो का उन्मूलन हो गया था और वैदिक-धर्म की ज्योति पुनः फैलने लगी थी, किन्तु श्री शंकराचार्य के तर्क-प्रधान अद्वैतवाद में वह संजीवनी शक्ति नही थी जिससे साधारण जनता का अबोध चित्त सहारा पाकर उठ सके और आत्म-साक्षात्कार कर लेने में समर्थ हो सके। ऐसे समय में सौभाग्यवश प्राचीन भागवत-धर्म का फिर से उदय हुआ और वह धार्मिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसे इतिहास मे वैष्णव आन्दोलन कहा गया है। इस वैष्णव-धर्म का पुनरुत्थान करने वाले महान आचार्य थे जिनमें से अधिकांश दक्षिण भारत के थे और सब के सब श्री शकराचार्य के पश्चात् हुए थे। वे मूल रूप से शंकर के ही सिद्धान्तों को लेकर चले थे। उन्होने या तो शंकर के सिद्धान्तों मे कोई सुधार प्रस्तुत किया था या उनके विरोध मे अपने मत का प्रचार किया था। श्री शंकर के विरोध में जितने वैष्णव सम्प्रदाय चल पड़े थे उनमे श्री रामानुजाचार्य का 'विशिष्टाद्वैत', श्री मध्वाचार्य का 'द्वैतमत', श्री निंबार्काचार्य का

'सनक सम्प्रदाय' और विष्णु स्वामी का संप्रदाय प्रधान थे। इन सभी संप्रदायों में जहाँ शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया गया है वहाँ भक्ति पर विशेष जोर दिया गया है। साथ ही निर्गुण ब्रह्म के बदले सगुण ईश्वर की कल्पना की गयी है और शुष्क ज्ञान के स्थान पर शरणागति या प्रपत्ति की प्रतिष्ठा की गयी है। हिन्दू जनता इस समय एक ऐसे भगवान को चाहती थी जो उसके लोक-व्यवहार मे सहायता पहुँचा सके, सासारिक दुखो का निवारण कर सके। वह ऐसी एक व्यक्तिगत तथा विशिष्ट सत्ता चाहती थी जिसके चरणों पर कृतज्ञता प्रकट करते हुए नत हो सके। अर्थात् उसे ईश्वर की उस सत्ता की आवश्यकता थी जो लोकरक्षक हो तथा लोकरंजक भी। उपर्युक्त वैष्णव मतों ने अपने भक्ति-प्रधान सम्प्रदायों द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति की। आगे चलकर उन्हीं सम्प्रदायों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होकर उत्तरी भारत में वैष्णव-मत की और भी अनेक शाखाएँ स्थापित हुई जिनमें श्री रामानन्द का 'रामावत सम्प्रदाय', श्री वल्लभाचार्य का 'पुष्टि सम्प्रदाय', श्री चैतन्यदेव का 'गौडीय सम्प्रदाय', श्री हित हरिवश जी का 'राधावल्लभीय सम्प्रदाय' मुख्य कहे जा सकते है। श्री रामानन्द जी द्वारा रामोपासना की प्रतिष्ठा हुई जिसका प्रधान केन्द्र काशी बना और अन्य आचार्यों ने कृष्ण के विविध रूप की उपासना चलायी जिसका मुख्य केन्द्र वृन्दावन में स्थापित हुआ। इन दोनों केन्द्रों में राम और कृष्ण के भक्तों की जो बड़ी मण्डली जुटी उसमें बहुत से भक्त उच्च कोटि के कवि तथा गायक हुए। इन भक्त कवियों ने अपने-अपने प्रदेश की भाषा के माध्यम से अपार साहित्य का निर्माण किया। फलतः जहाँ अवधी, मैथिली, ब्रजभाषा जैसी लोक-भाषाएं साहित्यिक पुट पा कर परिपुष्ट तथा शक्तिशाली बनीं वहाँ हिन्दी-साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। यद्यपि हमारे आलोच्य काल के आरम्भ मे राजपूत नरनारियों के वीरता-पूर्ण कृत्यो की यशोगाथा का गान करने के लिए हिन्दी मे बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, खुमानरासो, आल्हखण्ड जैसे वीररसपूर्ण अनेक सुन्दर काव्य रचे गए थे तो भी इस काल में रचे गए भक्ति-भाव-प्रधान विशाल साहित्य के सामने पिछले काल का साहित्य फीका ही पड़ गया। वास्तव में पन्द्रहवी शताब्दी के आरम्भ से सत्रहवी शताब्दी के अन्त तक का काल हिन्दी-साहित्य के लिए स्वर्ण-युग सिद्ध हुआ।

उपर्युक्त विभिन्न आचार्यों ने राम और कृष्ण को आलबन बना कर जितनी उपासना-पद्धतियाँ चलायी उनके दो प्रधान रूप लक्षित हुए—एक निर्गुणोपासना और दूसरी सगुणोपासना। राम-भक्ति-शाखा के सन्तकवियों

की वाणी का आश्रय पाकर हिन्दी में निर्गुणोपासना फूली फली जिसके सर्व-प्रथम और सर्वश्रेष्ठ सन्त महात्मा कबीरदास हुए। यद्यपि कबीरदास ने श्री स्वामी रामानन्द जी से रामनाम की दीक्षा प्राप्त की थी तो भी उन्होंने अपने निर्गुणराम की उपासना का अलग ही मार्ग चलाया जिसका विशेष प्रचार और प्रसार समाज की तथाकथित निचली श्रेणी के लोगों में हुआ। यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि भक्ति का द्वार समाज के सर्व साधारण लोगों के लिए खोल देने का श्रेय श्री स्वामी रामानन्द जी जैसे उदारचेता आचार्यों को मिलना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कबीरदास जी द्वारा जिस निर्गुणोपासना की प्रतिष्ठा हुई उसका प्रचार और प्रसार विशेष रूप से समाज की निचली श्रेणी के लोगो के बीच में हुआ और समाज की उच्च श्रेणी के लोगों पर इसका अधिक प्रभाव नही पड़ा। इसके कई कारण थे। पहला कारण यह था कि जिस समय कबीरदास का आविर्भाव हुआ था उस समय उत्तरी भारत में निम्न श्रेणी की जनता की बड़ी ही दयनीय दशा थी। समाज में शान्ति, मर्यादा और सुव्यवस्था रखने के लिए वर्णव्यवस्था के जो नियम अति प्राचीन काल से चले आ रहे थे वे अब वैषम्य और क्रूरता के विधायक बन गए थे। इस समय शूद्र जाति समाज के उन साधारण अधिकारो व सुविधाओ से भी वंचित हो गयी थी जिनके आत्मगौरव के साथ समाज मे जीवित रहने के लिए अत्यन्त आवश्यकता थी। शूद्र जाति एक प्रकार से समाज के बाहर ही समझी जाती थी। ऐसे ही समय मे उसे मुसलमान आक्रमणकारियो तथा शासकों की धर्मान्धता का शिकार होना पड़ा और इस कारण से नाना प्रकार की यातनाएँ भी भोगनी पड़ी। यद्यपि इन जातियों को अपने ही धर्मावलबियो से सहारा नही मिला तो भी उनके हृदय मे हिन्दू-धर्म के प्रति ऐसी दृढ आस्था थी कि हिन्दू-धर्म को त्यागकर मुसलमान बनना भी उन्हें स्वीकार नही था। जो असहाय होकर बलात्कार से मुसलमान हो गए थे, उनके लिए कुछ नही किया जा सकता था। ऐसी विषम परिस्थिति मे कबीर द्वारा प्रतिपादित प्रेम-भक्ति से हिन्दू-जनता को बड़ा ही सहारा मिला। कबीर के निर्गुण राम हिन्दू-हृदय के अधिक निकट थे। इस राम की उपासना के लिए न किसी मन्दिर में जाने की जरूरत थी न किसी शास्त्र-ग्रन्थ का अवलोकन करना ही पड़ता था।

दूसरा कारण यह था कि इस निर्गुण-मत के प्रचारक कबीर एक ऐसे अनूठे व्यक्ति थे जिनके जन्म और कुल का ठीक पता न था। वे जन्म से हिन्दू

होकर भी मुसलमान परिवार में पालित हुए थे और उनका जीवनयापन भी उसी मुसलमान परिवार में चल रहा था। उनका व्यक्तित्व नाना प्रकार की विचार-धाराओं से प्रभावित होकर बना था। कबीर ने एक ओर वैष्णव धर्म की ऐकान्तिक प्रेमा-भक्ति और शरणागति को अपनाया था तो दूसरी ओर उन्होंने सूफ़ी साधकों के भावप्रवण रहस्यवाद को ग्रहण किया था। जहाँ उन्हें मुसलमान ऐकेश्वरवाद स्वीकार था वहाँ उपनिषदों के अद्वैतवाद और ब्रह्मवाद के वे समर्थक थे। जहाँ उन्होने हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, व्रत-नियम, तीर्थयात्रा आदि का खण्डन किया था वहाँ मुसलमानों के बाह्याडंबर, नमाज़-रोजा, कलमा-कुरान आदि सब का बहिष्कार किया था। नाथो, सिद्धों तथा निरंजनियो की बहुत-सी बातो को अपना कर भी वे उनसे अलग ही रहे। संस्कारो की अर्थहीन गुलामी, अन्ध-विश्वास, पाखण्ड, जातपात का भेद-भाव आदि को उन्होने जहाँ कही देखा, खूब फटकारा था। सबको सरल-सहज जीवन, समान-मर्यादा का उन्होने उपदेश दिया था। जहाँ कही भी जो कोई अच्छी बात, सार की बात मिली उसे उन्होने ग्रहण किया और जहाँ भी जो भी बुराई देखी उसका त्याग किया। इस प्रकार कबीर का व्यक्तित्व अद्भुत महत्ता लिए हुए था जो किसी की पकड़ मे नही आता था। इसलिए वे उच्च वर्ण के हिन्दू, जो बाह्य आचार को ही धर्म समझ कर चलते थे, कबीर का नेतृत्व स्वीकार करने के लिए तैयार नही हुए, और उन मुसलमानों पर जिनकी आँखो पर धर्मान्धता की पट्टी बँधी थी, कबीर के निर्गुण मत का विशेष प्रभाव नही पड़ सका।

तीसरा कारण यह था कि कबीर का साधना-मार्ग किसी शास्त्रग्रन्थ पर आधारित नही था। वैष्णव आचार्यों की भाँति अपने मत के समर्थन के लिए कबीर ने कोई भाष्य नही प्रस्तुत किया। एक तो कबीरदास जी पढ़े लिखे नहीं थे दूसरे, किसी शास्त्र की लकीर पीटना उनके स्वभाव के बिलकुल विरुद्ध था। उन्होने तो पोथी-पण्डितों की खूब खिल्ली उड़ायी थी। अतः समाज के पढ़े लिखे लोग कबीर की ओर आकर्षित नही हुए।

चौथा कारण यह था कि कबीर तथा अन्य सन्तों के द्वारा जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसका उच्च वर्ग के लोगों में विशेष आदर नहीं हुआ। क्योंकि सन्त लोग साहित्य-शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे, और न साहित्य का सृजन करना उनका उद्देश्य ही था इसलिए वे अपने हृदय के उद्गारों को अपनी जानी हुई भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर देते थे। यद्यपि उनकी वाणी में पिङ्गल, अलंकार आदि साहित्य के बाह्य लक्षणों की कमी थी तो भी काव्यानुभूति

की उत्कृष्टता की कमी नहीं थी। इन सन्तों का उद्देश्य अपने समय के धार्मिक पाखण्ड एवं कुरीतियों को दूर कर पारस्परिक विरोध को हटाना था; सरल जीवन, सत्यता, निर्मल व्यवहार का उपदेश देना था और भक्ति की श्रेष्ठता का प्रचार करना था। यद्यपि इसकी पूर्ति उनके साहित्य से अवश्य हुई तथापि वह विद्वानों के आदर का पात्र नहीं बन सका।

वैष्णव आचार्यों की भाँति कबीर ने न अपने मत का संगठन किया न उसके प्रचार के लिए सम्यक् प्रबन्ध ही किया। कबीर एक पहुँचे हुए ज्ञानी और महान् भक्त थे, अतः पंथ-निर्माण की झंझट में पड़ना उनके लिए अभीष्ट नहीं था। इन सब कारणों से कबीर के निर्गुण मत का विशेष प्रचार समाज के उच्च वर्ग के लोगों के बीच नहीं हो सका।

इसके विपरीत सगुण मत का प्रचार और प्रसार समाज के उपरले स्तर के लोगों में खूब हुआ। इसके कारण स्पष्ट ही थे। इन सगुण मतों का उद्भव और विकास वैष्णव-मत की विभिन्न शाखाओं के आश्रय में हुआ था जिनकी स्थापना विभिन्न वैष्णव आचार्यों द्वारा प्राचीन वैदिक-शास्त्र-ग्रन्थों के आधार पर हुई थी। इन आचार्यों ने 'प्रस्थान-त्रयी' जैसे किसी न किसी वैदिक ग्रंथ के लिए अपना-अपना भाष्य प्रस्तुत करके अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की रूप रेखा बनायी। प्रत्येक सम्प्रदाय के कुछ नियामक तत्त्व स्थिर किए गए जैसे—एक आचार्य, भाष्य, मन्त्र, तिलक इत्यादि। प्रत्येक सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति का अलग से निरूपण किया गया। जितने आचार्य हुए वे निगमागम-शास्त्र-पुराणों के पारङ्गत और प्रकाण्ड विद्वान थे। अपने अपने मत-तत्त्वों का स्पष्टीकरण करने के लिए इन आचार्यों ने संस्कृत में अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। इन अचार्यों के ऐसे कुछ अनुयायी हुए जो शास्त्रों के मर्मज्ञ ही नहीं थे अपितु काव्य-कला-निष्णात प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी थे। गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास ऐसे ही महान् भक्त कवि थे। जहाँ सम्प्रदाय के आचार्यों का ध्यान भक्ति और दार्शनिक तत्त्वों के निरूपण और प्रतिपादन की ओर अधिक था वहाँ भक्त-कवियों ने भक्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं की प्रतिष्ठा करने में अपनी सारी शक्ति लगायी। और एक विशेषता इन भक्त-कवियों की यह थी कि इन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए लोक-भाषा को अपनाया और तत्कालीन विभिन्न काव्य-शैलियों में रामायण, महाभारत, भागवत, पुराण आदि प्राचीन-ग्रन्थों के अनेक कथानकों पर विविध प्रकार के साहित्य का निर्माण किया। सगुण भक्त-कवियों की वाणी का सहारा पाकर अवधी, ब्रजभाषा जैसी लोक-भाषाएँ समृद्ध हुईं और उनकी

अभिव्यंजना-शक्ति विकसित हुई। तुलसीदास जैसे रामोपासक भक्तों की रचनाओं में राम, सीता, कौशिल्या, भरत, लक्ष्मण, विभीषण, हनुमान जैसे महान् आदर्शपात्रों का चित्रण हुआ जिससे समाज में धर्मनीति, शील तथा सदाचार की पूरी प्रतिष्ठा हुई। सूरदास, मीराबाई जैसे कृष्णोपासक भक्तों की कृतियों में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को लेकर प्रेमतत्त्व की मधुर व्यंजना हुई जिससे जीवन में उल्लास और आनन्द की वृद्धि हुई। इन दोनों प्रकार के भक्तों की कृतियों से भगवान के निर्गुणतत्त्व को स्वीकार करते हुए भी भक्ति-साधना के लिए सगुण तत्त्व की प्रधानता सिद्ध हुई और भगवत्-प्राप्ति के लिए भक्ति-मार्ग की सुगमता तथा श्रेष्ठता की घोषणा हुई। साथ ही, भक्ति के साहचर्य से ज्ञान और वैराग्य का भी निरूपण हुआ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि निर्गुणिया सन्तो द्वारा जिस भक्ति की व्यंजना हुई जिसके लिए किसी शास्त्र-ग्रंथ का आधार नहीं था और सगुणधारा के भक्तों ने जिस भक्ति का प्रचार किया वह प्राचीन वैदिक-ग्रंथों पर आधारित थी। इस प्रकार पहली लोक-भक्ति थी और दूसरी शास्त्रीय-भक्ति थी। लोक-भक्ति के लिए भक्त के हृदय की अनुभूति की आधारशिला थी जो सब प्रकार के विधि-विधान से मुक्त थी जबकि शास्त्रीय-भक्ति नाना प्रकार के साधनों से पोषित थी। यदि लोक-भक्ति वन्य प्रदेश के झाड़झंखाड़ के बीच में खिला हुआ वनकुसुम था तो शास्त्रीय भक्ति उस फूल की भाँति थी जो किसी सुन्दर बगीचे में कलमी पौधे पर विकसित हुआ हो। ये दोनों प्रकार की भक्तियाँ अपने मौलिक रूप में समान ही थीं और दोनों का चरम लक्ष्य भी एक ही था। अतः इन दोनो प्रकार की भक्ति-पद्धतियों से समाज का कल्याण ही हुआ।

कर्नाटक में राजनीतिक परिस्थिति

अपने आलोच्य काल के कर्नाटक के राजनीतिक इतिहास को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रधानतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—विजयनगर साम्राज्य का पूर्ववर्तीकाल और विजयनगर साम्राज्य-काल। सन् बारहवीं शताब्दी से विजय नगर की स्थापना तक कर्नाटक की राजनीतिक दशा बड़ी डांवाडोल थी। बादामि के (पश्चिम) चालुक्य राजा पुलिकेशि (दो) ने सर्वप्रथम कर्नाटक साम्राज्य की नींव डाली और तत्कालीन कर्नाटक के लगभग सभी छोटे-मोटे राजाओं को अपने वश में लाकर अपनी वैभव-पताका फहराई। भारत के इतिहास में यह प्रसिद्ध ही है कि इसी पुलिकेशि ने

कन्नौज के प्रतापी राजा हर्षवर्धन को भी युद्ध में हराया था। लेकिन पुलिकेशि (दो) के उपरान्त विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना तक ऐसा कोई शक्तिशाली राजा नहीं हुआ जो कर्नाटक की जनता को एक शासन सूत्र में बाँध सके। इसके उपरान्त कर्नाटक में बहुत-से राजवंश, कभी-कभी एक साथ, कभी-कभी एक के बाद एक, अपने-अपने शिर उठाने लगे जिनमें राष्ट्रकूट (सन् ७५७-९७३), कल्याणि के चाळुक्य (सन् ९७३-११८९), यादव (सन् ११८९-१३१२), कळचुरि (सन् ११५६-११८३), होय्सळ (सन् १०००-१३४६), के राजवंश प्रमुख थे। ये राजवंश आपस में या तो अपने अपने राज्य की सीमा का विस्तार करने या अपनी वीरता का प्रदर्शन करने के लिए लड़ते रहे। सन् ७५४ में राष्ट्रकूट राजा दन्ति दुर्ग ने पश्चिम बादामि के चाळुक्य वंश को उसके अन्तिम राजा कीर्तिवर्मा को हराकर, मिट्टी में मिला दिया। किंतु यह राष्ट्रकूट वंश भी बहुत दिन तक पनप नहीं सका, क्योंकि उसके राजाओं में न दूरदर्शिता थी न अपने राज्य को संभालने की कार्यकुशलता ही। इसी बीच में कल्याणि का दूसरा एक चाळुक्य वंश लगभग दो सौ साल तक कर्नाटक के विशाल भू-प्रदेश को अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत बनाए रख सका। इस वंश के प्रतापी राजा विक्रमादित्य के उपरान्त कर्नाटक की राजनीतिक दशा फिर से चिंताजनक हो गई। इस समय तीन राजवंश अपनी अपनी शक्ति का संचय करने लगे—उत्तर में कळचुरि और यादव तथा दक्षिण में होयसळ। इन तीनों के प्रबल होने का परिणाम यह हुआ कि पश्चिम चाळुक्य राजवंश के अधिकांश भू-प्रदेश इन तीनों में विलीन हो गए और सन् ११८९ में कल्याणि के चाळुक्यों का नामोनिशान तक मिट गया। यद्यपि यादव और होयसळ एक ही कुल की दो शाखाओं में विकसित थे तो भी राज्य और अधिकार के लोभ से सदा आपस में लड़ते रहे। एक ही कुल का होना भी आपस के द्वेष के लिए एक प्रधान कारण सिद्ध हुआ। इन दोनों के झगड़े से लाभ उठाकर कळचुरि का नूतन राजवंश पैदा हुआ जिसमें बिज्जळ का नाम उल्लेखनीय है। इसी बिज्जळ के समय में बसव ने वीरशैव-मत का पुनःसंगठन किया। बसव अपने समय के एक महान् भक्त, समाज-सुधारक तथा मत-प्रचारक थे। होयसळ वंश में बिट्टिदेव सबसे प्रख्यात थे। इन्हीं बिट्टिदेव ने शैव-मतावलम्बी चोळराजाओं के अत्याचार के कारण पीड़ित प्रसिद्ध आचार्य रामानुज को अपने यहाँ आश्रय दिया था और रामानुज की विचारधारा से प्रभावित होकर न केवल श्री वैष्णव-धर्म को अपनाया था बल्कि अपना नाम भी 'विष्णुवर्धन' के रूप में बदल लिया था। होयसळों का

वैभव-सूर्य अन्तिम राजा वीरबल्लाळ (सन् १३०१) की मृत्यु के साथ डूब गया। कई दृष्टियों से होयसळ राजवंश कर्नाटक के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके राजा वीर थे, साहित्य, संगीत ललित कलाओं के प्रेमी थे और अपनी प्रजा को सुखी रखने का निरन्तर प्रयत्न करते रहे। इन्हीं होयसळ राजाओं ने उत्तर की ओर से आने वाले मुसलमानों के कई बार दाँत खट्टे किए थे। दूसरी एक बात यह है कि इस राजवंश के राजाओं में उत्तम राजा होने के सभी लक्षण विद्यमान थे जो विजयनगर साम्राज्य को जन्म देने में सहायक सिद्ध हुए। होयसळ राजवंश के अस्त होते समय कर्नाटक का वातावरण, निराशा, ग्लानि तथा दुःख के बादल से आच्छादित था। प्रबल राजवंशों के टूटते-टूटते छोटे-छोटे सामंत राजा भी स्वतंत्रता घोषित कर अपने पैर पसारने का हौसला बाँधने लगे थे। ऐसे सामंतों में शिलाहार, रट्टा, सिंद, हानुगल, साळव, कदम्ब, शांत, चेंगाळव, कोंगाळव, सेनवार आदि प्रमुख थे। कर्नाटक की राजशक्ति को छिन्न-भिन्न होते देख कर दिल्ली के मुसलमानों ने मौके से पूरा लाभ उठाना बुद्धिमानी समझा। पहले अलाउद्दीन और उसके बाद मलिक काफूर ने यादव और होय्सळ राजाओं की शक्ति कुण्ठित की। इसके बाद बराबर मुसलमानों के हमले होते रहे। मुसलमानों ने न केवल राजाओं को हराया बल्कि, मन्दिरों को तुड़वाया, स्त्रियों पर अत्याचार किया और तरह-तरह के अमानुषिक कृत्य किए जिसके परिणाम-स्वरूप कर्नाटक में सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। समय की बड़ी मांग थी कि त्रस्त जनता को अभय देने को किसी दैवी-शक्ति का उदय हो। ऐसे ही समय में विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना हुई।

सन् १३४६ में युवक और हरिहर नामक दो भाइयों ने विद्यारण्य अथवा माधव नामक एक बड़े विद्वान्, राजनीति-विचक्षण, प्रतिभा-सम्पन्न ब्राह्मण सन्यासी के सहयोग से विजयनगर साम्राज्य की नीव डाली। ये दो भाई संगम नामक व्यक्ति के पुत्र थे, इसलिए इस राजवंश का नाम 'संगम' पड़ा। विजय-नगर-साम्राज्य (सन् १३४६ से १६४६ तक) लगभग तीन सौ साल तक वर्तमान रहा। इस अवधि में न केवल कर्नाटक का वैभव अपनी उन्नति के अत्युच्च शिखर पर पहुँचा बल्कि समस्त भारत में हिन्दू-धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए यह साम्राज्य वरदान सिद्ध हुआ।

शिला-लेखों के आधार पर यह बताया जाता है कि संगम का ज्येष्ठ पुत्र हरिहर होयसळ राजा बल्लाळ तृतीय के यहाँ सामन्त के रूप में कार्य करता रहा। जब मुसलमानों के भारी हमले की सूचना मिली तब बल्लाळ ने अपने

स्वजातियों की एक सभा बुलाई और हरिहर को 'महामण्डलेश्वर' बनाकर मुसलमानों से लोहा लेने की जिम्मेवारी सोंपी। हरिहर ने अपने दायित्व का पूरा निर्वाह किया और बलशाली मुसलमान सुल्तान को परास्त किया।[1] हरिहर के चार भाई थे—बुक्क, कंपण, मारप्प और मुद्दप्प। हरिहर ने मुसलमांनों को हराने के बाद विद्यारण्य की मदद से अपने भाइयों के साथ विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना की और सन् १३४६ से १३५५ तक बड़ी दक्षता के साथ शासन किया। हरिहर ने अपने भाइयों के सहयोग से न केवल कर्नाटक के समस्त भू-भाग को अपने शासन का अंग बनाया बल्कि सुदूर दक्षिण के पाण्डव चक्रवर्ती, अंग और कलिंग के राजाओं को भी हराया। इस प्रकार हरिहर के समय में सारा कर्नाटक एक शासन-सूत्र के अन्तर्गत आगया। हरिहर की मृत्यु तक, कहा जाता है, बुक्क, साम्राज्य के दक्षिणी भाग में अर्थात् होय्सळ राज्य में महामण्डलेश्वर बन कर राज्य-प्रबन्ध करता रहा। इसके साथ साथ उसे युवराज की भी उपाधि मिली थी। हरिहर की मृत्यु के बाद बुक्क ने साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में लेकर राज्य के विद्रोहियों का दमन किया और धर्म से राज्य का शासन किया।[2] बुक्क को अपने साम्राज्य में बहमनी के प्रसिद्ध शासक मुहम्मदशाह से घोर संग्राम करना पड़ा। फलस्वरूप बुक्क के सुयोग्य जैन सेनापति मल्लिनाथ की मृत्यु हुई, साथ ही और कई तरह से नुकसान उठाना पड़ा। आखिर बड़ी उथलपुथल और जन-संहार के उपरांत मुहम्मद शाह के साथ सन्धि होगयी। बुक्कराय के पुत्र इम्मडि हरिहर के समय में शांति स्थापित हुई। इसके सेनापति गुण्ड दण्डाधिपति (सन् १३९७) ने मुसलमानों पर कई बार विजय पायी। हरिहर के पुत्र देवराय ने (सन् १४०६–१४१६) बड़ी दक्षता के साथ शासन किया। देवराय द्वितीय या इम्मडि देवराय ने (सन् १४२४ से १४४६ तक) साम्राज्य का फिर से संगठन किया और दक्षिण में साम्राज्य की सीमा लंका तक फैलायी। इस समय विजयनगर साम्राज्य अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया था। इटली निवासी तथा प्रसिद्ध यात्री निकोलो (सन् १४२१) और ईरानी यात्री अब्दुलरज्जक (सन् १४४२) दोनों ने विजयनगर के वैभव का जो वर्णन किया है उससे इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है कि विजयनगर साम्राज्य की राज्यव्यवस्था

१—तत्र राजा हरिहरो धरणीमशिषच्चिरम्।
सुतरामसदृशो येन सुरत्राणः पराजितः॥ ॥ एपि० ई०॥

२—'धर्मेण रक्षति क्षोणीं श्रीबुक्कभूपतौ।'

कितनी अच्छी थी और उस समय में कर्नाटक की जनता कैसी सुखी थी : इम्मडि देवराय के बाद संगम वंश के और दो राजा हुए जिनके समय में साम्राज्य पर बड़ी विपत्तियाँ आयीं। यहाँ तक कि सन् १४८६ में संगम वंश का अन्त हो गया।

संगम वंश के उपरान्त विजयनगर साम्राज्य को तीन राजवंशों के राजाओं ने संभाला। वे थे—साळ्व वंश, तळ्ठुव वंश और अरवीडु-वंश। साळ्व वंश का राज्य सन् १४८६ से प्रारम्भ होकर सन् १५०२ में समाप्त होगया। इस वंश में दो ही राजा हुए—साळ्व नरसिंह और उसका पुत्र इम्मडिनरसिंह। तीसरे राजवंश में कृष्ण देवराय सबसे प्रसिद्ध राजा हुए। कृष्ण देवराय ने सन् १५०९ से सन् १५३० तक शासन किया। उन्होंने अपनी वीरता तथा कार्यकुशलता से न केवल दक्षिण के मुसलमानी राज्यों को हराया (रायचूर युद्ध सन् १५२०) बल्कि साम्राज्य के अन्तर्गत विद्रोह करने वाले सामन्त राजाओं का दर्प भी चूर किया। इनके राज्य-काल में कर्नाटक का सांस्कृतिक जीवन समृद्ध हुआ। ये वैष्णव धर्मावलम्बी थे और अपने राज्यकाल में इन्होंने कई वैष्णव मन्दिरों का पुनरुद्धार किया। इस काल में कर्नाटक की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। कृष्णदेव राय के उपरान्त विजयनगर की गौरवगरिमा लुप्त-प्राय हो गयी।

तुळ्ठुव वंश के अन्तिम राजा सदाशिव राव थे जो इतने कमज़ोर थे कि सम्राट् कृष्णदेव राय के दामाद रामराव की कठपुतली होगए। पहले तो राम राव ने सदाशिव राव के संरक्षक के रूप में राजकाज का सम्पादन किया और बाद को सदाशिव राव को नाममात्र के लिए राजा मानकर शासन-सूत्र संपूर्णतया अपने हाथ में ले लिया। इसमें सन्देह नहीं है कि रामराव एक सुयोग्य राजनीतिज्ञ और कार्यकुशल शासक थे। सन् १५५२ में रामराव ने गोलकुंड के नवाब कुतुव शाह तथा बिजापुर के आदिलशाह की अहमदनगर पर चढ़ाई करने में मदद की। इस युद्ध में सुल्तान निज़ामशाह पकड़ लिया गया और उसकी राजधानी को हिन्दू सेना ने नष्ट कर दिया। इस युद्ध का परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय के बाद बहमनी की सभी रियासतों तथा अहमदनगर के मुसलमान शासकों ने सम्मिलित होकर विजयनगर पर हमला किया। यह युद्ध सन् १५६५ में चला जो 'ताळ्ठि कोटे युद्ध' के नाम से भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है। इस युद्ध में न केवल सदाशिवराव और रामराव दोनों मारे गए बल्कि विजयनगर की वैभवपूर्ण राजधानी तहस नहस कर दी गयी। इतना

ही नहीं, विजयनगर साम्राज्य के उत्तरी भाग का बहुत-सा भू-भाग दुश्मनों के हाथ मे चला गया। रामराव के पुत्र तिरूमल तथा अन्य उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य की राजधानी को पेनुकोंडा, चन्द्रगिरि, उदयगिरि को क्रमशः हटाकर बराबर यह प्रयत्न किया कि विजयनगर साम्राज्य की सत्ता बनी रहे। लेकिन रामराव की मृत्यु के लगभग अस्सी वर्ष के बाद अरवीडु-वंश के अन्तिम राजा श्री रंग द्वितीय के काल में विजयनगर का वैभव-सूर्य सदा के लिए अस्त होगया।

विजयनगर साम्राज्य के पतन के उपरान्त कर्नाटक में फिर से राजनैतिक दशा पूर्ण रूप से बिगड़ी। छोटे-छोटे सामन्तों ने अपना अपना बल बटोरना शुरू किया जिनमें केव्ठदि के नायक और मैसूर के ओडेयर प्रमुख थे। विशेष रूप से मैसूर के ओडेयरों ने उन्हीं आदर्शों पर चलकर अपने राज्य में सुशासन चलाया जिनका अनुकरण करके विजयनगर साम्राज्य के राजाओं ने बड़ी ख्याति पायी थी।

भारतवर्ष में विजयनगर साम्राज्य हो अन्तिम हिन्दू साम्राज्य था। इस साम्राज्य ने लगभग तीन सौ साल तक हिन्दू-स्वतन्त्रता और संस्कृति की पताका ऊँची रखी।

सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ

नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखा हुआ 'कविराजमार्ग' कन्नड का अति-प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। इसमें कर्नाटक का विस्तार, कन्नड-भाषी लोगों के गुण, स्वभाव, व्यक्तित्व आदि का बड़ा ही रोचक वर्णन दिया गया है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि इस समय कर्नाटक का सामाजिक जीवन उन्नत अवस्था में था। लेकिन नवीं शताब्दी के उपरान्त विजयनगर साम्राज्य की स्थापना तक कर्नाटक की सामाजिक स्थिति बड़ी अस्थिर थी, क्योंकि राजनीतिक उथलपुथल का प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़े बिना नहीं रहता। इस अवधि में एक ओर कर्नाटक के राजवंश अपनी अपनी सत्ता कायम रखने के प्रयत्न में एक दूसरे से निरन्तर लड़ते रहे और दूसरी ओर उत्तर से मुसलमानों के हमले

१—कावेरी से गोदावरी तक फैला हुआ राज्य कन्नड राज्य कहलाता है। कर्नाटक के निवासी बड़े वीर हैं, कवि हैं, सुप्रभु हैं, सुन्दर हैं, गुणी हैं, अभिमानी हैं, गम्भीर हैं, विवेकी हैं तथा बिना पढ़े ही स्वभाव से ही काव्य मर्मज्ञ हैं।'

—कविराजमार्ग १–३६–३८

समय समय पर होते रहे। इसके अतिरिक्त कर्नाटक के धार्मिक जीवन में बड़ी क्रान्ति उपस्थित होगयी थी। बारहवीं शताब्दी तक कर्नाटक में जैन धर्म जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश कर गहरा प्रभाव डाले हुए था। जैनों ने राज्याश्रय पाकर कन्नड में विपुल साहित्य के निर्माण द्वारा सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध बनाने का पूरा प्रयत्न किया था। लेकिन बारहवीं शताब्दी में जैन धर्म के शून्यवाद के विरोध में कर्नाटक में भक्ति-प्रधान तीन सम्प्रदाय खड़े होगए। एक वीरशैव-सम्प्रदाय था जिसके नेता बसव थे। दूसरा श्री रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत-मत था। होय्सळ राजा बिट्टिदेव ने जैन धर्म को तिलांजलि देकर श्री वैष्णव-मत स्वीकार किया (१११९–११४१) जिससे जैन धर्म को बड़ा धक्का लगा। वीर-शैव और जैन-धर्म का कल्याण में बड़ा संघर्ष चला और जैन राजा विज्जळ मारा गया। थोड़े ही समय के बाद श्री मध्वाचार्य द्वारा उडुपि में द्वैतमत का जबरदस्त संगठन हुआ। यद्यपि कर्नाटक की जनता पर श्री वैष्णव-सम्प्रदाय अपना विशेष प्रभाव डाल नहीं सका तो भी माध्वमत का व्यापक प्रचार और प्रसार हुआ। इस समय इन विभिन्न मत-धर्मों के बीच में तीव्र संघर्ष की आँधी उठी। विष्णुवर्धन (बिट्टिदेव) जैसे उदार-हृदय राजाओं ने अपने समय के विभिन्न धर्मों के बीच में समन्वय का भाव उत्पन्न करके देश की जनता में शांति स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया। बेलूर के होय्सळेश्वर मन्दिर के महाद्वार पर विष्णुवर्धन ने निम्नलिखित श्लोक खुदवा कर अपनी उदारता का परिचय दिया। वह श्लोक इस प्रकार है :—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदांतिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नेति ह जैन-शासन-मताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं श्रोविदधातु वांछितफलं श्रीकेशवःसर्वदा ॥

इस समन्वयात्मक भावना को कर्नाटक की जनता ने सदा प्रोत्साहन व आश्रय दिया है।

विजयनगर साम्राज्य की स्थापना तक (सन् १३४६) कर्नाटक के अन्तर्गत जितने मतधर्म विद्यमान थे उनमें आपस के संघर्ष की अवस्था लगभग बीत चुकी थी। वीरशैव-सम्प्रदाय के आविर्भाव के साथ साथ जैन धर्म की प्रभा मन्द पड़ गई थी। माध्व तथा श्री वैष्णव-धर्मों के प्रचार से उसकी रही सही धाक जाती रही। वीरशैवमत के अन्दर बसव तथा उनके समकालीन भक्तों में जो लोक-कल्याणकारी उदार भावना और सब को अपने उदात्त विचारों

की ओर आकृष्ट करने की अद्भुत शक्ति थी वह परवर्ती वीरशैव-सम्प्रदाय के नेताओं में नहीं रही। ऐसी परिस्थिति में भक्ति-परक वैष्णव मत के विकास के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न हुआ। रूद्रभट्ट, कुमारव्यास, नरहरि जैसे भागवत-धर्म के कवियों ने वैदिक महाकाव्यों के राम और कृष्ण की पावन कथाओं का अपने लोकप्रिय काव्यों में निरूपण करके वैदिक-धर्म के प्रचार में योग दिया। विजयनगर साम्राज्य के प्रथम राजवंश के सभी राजा शैव-मतावलम्बी थे और शिव ही उनके कुल-देवता थे। हम्पि का विशालकाय विरूपाक्ष मन्दिर इन्हीं नरेशों की शिव-भक्ति तथा श्रद्धा का ज्वलन्त प्रमाण है। संगम-वंश के प्रथम राजगुरु और साम्राज्य-स्थापना के प्रेरक श्रीविद्यारण्य थे जो शृङ्गेरी के शंकराचार्य द्वारा स्थापित प्रसिद्ध मठ के प्रधान थे। हरिहर ने अपने भाइयों के साथ अपनी विजय के उपलक्ष में सन् १३४६ में शृङ्गेरी मठ की यात्रा की थी और उसको विपुल भूमि दान में दी थी। कहा जाता है कि बुक्क ने भी कई बार शृंगेरी की यात्रा की थी। लेकिन इसी राजवंश के अन्तिम राजा विरूपाक्ष के वैष्णव-धर्म में दीक्षित होने के बाद कर्नाटक में एकमात्र प्रबल धर्म बनने का गौरव वैष्णव-मत को प्राप्त हुआ। फलस्वरूप, कर्नाटक की समस्त जनता में फिर से वैदिक-धर्म के प्रति आदर भाव जगा। यद्यपि इसके बाद के सभी राजा वैष्णव थे तो भी वे धार्मिक सहिष्णुता की भावना से अनुप्राणित थे। राजाओं की धर्म-सहिष्णुता के कितने ही उदाहरण मिलते हैं। राज्य के बड़े बड़े पदों पर जब किसी अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी तब योग्यता पर ही ध्यान दिया जाता था न कि जाति-पांति पर। इसीलिए जैन, शैव, वैष्णव, मुसलमान सब जातियों के लोग विजयनगर में ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त थे। श्रवण बेल्गोळ के एक शिलालेख में यह बताया गया है कि हरिहर द्वितीय का प्रसिद्ध मन्त्री इरूगप्प जैन था।[1] शैव राजाओं ने जैनों तथा वैष्णव मन्दिरों को और वैष्णव राजाओं ने शैवों और जैनों के मन्दिरों को दान दिया था। सन् १३८८ में जब जैन और वैष्णवों में संघर्ष हुआ तब बुक्कराय ने जो फैसला दिया उससे राज्य की धार्मिक नीति का ही नहीं बल्कि कर्नाटक की संस्कृति का परिचय मिलता है।[2] सारांश यह है कि विजयनगर साम्राज्य में धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध में सब को पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी थी।

१—एपी० इ० भाग ४ पृ० १७।

२—एपि० कर० भा० १ पृ० १८।

विजयनगर के राजाओं के शासन-काल में शिक्षा के क्षेत्र में कर्नाटक की हर तरह से उन्नति हुई। उस समय शिक्षा का माध्यम कन्नड, तेलुगु और संस्कृत भाषायें थीं। प्रायः प्रत्येक देव-मन्दिर एक-एक शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। इसके अतिरिक्त हम्पि (साम्राज्य की राजधानी) बनवासी, तलकाडु, ऐहोळ्ठे, गोकर्ण जैसे स्थानों में बड़े-बड़े सुव्यवस्थित विद्यालय चलते थे जहाँ विभिन्न विषयों की पढ़ाई होती थी।

संस्कृत में एक सुभाषित है कि 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चिन्ता प्रवर्तते' अर्थात् जब देश की रक्षा का पूर्ण रूप से प्रबन्ध हो जाता है तब शास्त्रों के अध्ययन में लोग प्रवृत्त होते हैं। शान्त वातावरण में जनता साहित्य के निर्माण-कार्य में लीन होती है। यह कहावत विजयनगर राज्य में अक्षरशः चरितार्थ होती है। इस समय कन्नड, तेलुगु और संस्कृत में विपुल साहित्यिक कृतियाँ निर्मित हुईं। साथ ही बहुत-से शास्त्रीय ग्रन्थ भी रचे गए। कन्नड में वैष्णव, वीर-शैव कवियों ने इस समय अपनी महान रचनाओं से कन्नड का भण्डार समृद्ध बनाया। कुमारव्यास, नरहरि, चामरस, लक्ष्मीश, जैसे कवियों ने महाकाव्यों का निर्माण किया। सैकड़ों वीरशैव और वैष्णव सन्तों ने सरल कन्नड में भजन, गीत, वचन लिख कर लोक-भाषा को साहित्यिक गौरव प्रदान किया और भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, लोकनीति, शील, सदाचार का प्रचार किया। वैष्णव-भक्तों में पुरन्दरदास, कनकदास, वीरशैवों में निजगुण शिव-योगी, सर्वज्ञ के नाम उल्लेखनीय हैं। कितने ही प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी गयीं और स्वतन्त्र ग्रंथ भी लिखे गए। साम्राज्य के स्थापनाचार्य माधव और उनके भाई सायण ने संस्कृत भाषा और साहित्य को लोकप्रिय बनाने का जो कार्य किया वह सर्वविदित ही है। महापण्डित सायण ने न केवल अपनी अनेक महान रचनाओं से संस्कृत-साहित्य का गौरव बढ़ाया, बल्कि तीस वर्ष के अनवरत परिश्रम से वेदों का सर्वप्रथम भाष्य तैयार करके वेदों की ज्ञान-राशि का द्वार सबके लिए खोल दिया। कहा जाता है कि बुक्क राजा की प्रेरणा से सायण ने यह गुरुतर कार्य अपने ऊपर लिया था। माधव के कई शास्त्र-ग्रंथ और भाष्य प्रसिद्ध ही हैं। इन दोनों के अतिरिक्त और भी कई विद्वानों ने विभिन्न विषयों पर विद्वतापूर्ण ग्रंथ लिखे।

कन्नड में रामायण, महाभारत, भागवत के अतिरिक्त छन्द, अलंकार, व्याकरण, रस, वैद्यक, पाकशास्त्र, काम-शास्त्र जैसे अन्यान्य विषयों पर इस समय ग्रंथ रचे गए। विजयनगर के सभी राजा विद्या के प्रेमी थे और उनके यहाँ साहित्यकार, पण्डित, कलाकार आदि सब का बड़ा आदर होता था।

विजयनगर की आर्थिक स्थिति स्पृहणीय थी। कृषि और व्यापार के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ दी गयी थीं। युद्ध के समय में किसान निश्चिन्त होकर अपनी खेतीबारी में संलग्न रहते थे। किसानों के हित के लिए सरकार की ओर से बड़े-बड़े तालाब, नहरें आदि का प्रबन्ध किया गया था। विदेश के कई राष्ट्रों के साथ विजयनगर का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। विजयनगर-शासन-काल में व्यापारियों की अनेक संस्थाएँ भी थीं।

विजयनगर-शासन-काल में वर्णाश्रम-धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई थी। इसके अतिरिक्त असंख्य उप-जातियाँ भी मौजूद थीं। सब पेशों के लोग अपने-अपने कार्य में निरत रहते थे और उनमें मैत्री-भाव विद्यमान रहता था। जनता देश-प्रेम की भावना से अनुप्राणित थी। हिन्दूधर्म और देश की रक्षा करने वालों के लिए राज्य की तरफ से द्रव्य और भूमि दान में दिए जाते थे। युद्ध क्षेत्र में मरने वालों की संतान को प्रतिमास कुछ द्रव्य पेंशन के रूप में दिया जाता था।[1] अच्छे दस्तकारी के काम करने वालों को मकान या ज़मीन इनाम में दी जाती थी।[2] कवियों तथा विद्वानों को पदवियाँ दी जाती थीं। इस समय स्त्रियों का भी बड़ा आदर होता था। वे वीर थीं और अपने पतियों के साथ युद्ध में भी जाया करती थीं। लेकिन दहेज प्रथा, सती प्रथा जैसी कुप्रथाएँ भी प्रचलित थीं। पर्दे की प्रथा नहीं थी, पर देवदासी प्रथा जारी थी। वेश्याओं के गाने और नृत्य भी हुआ करते थे।

इस काल में कई प्रकार के त्यौहार, उत्सव बड़े पैमाने पर मनाए जाते थे। राज्य की तरफ से ऐसे उत्सवों का प्रबन्ध होता था। दशहरा (नव-रात्रि) और होली राष्ट्रीय उत्सव के रूप में मनाए जाते थे। इसके अतिरिक्त मन्दिरों और तीर्थ-क्षेत्रों में धार्मिक उत्सव भी बड़े समारोह के साथ मनाए जाते थे।

वास्तु-शिल्प, मूर्ति-कला, चित्र-कला, नृत्य, संगीत, अभिनय जैसी ललित कलाओं को विजयनगर-साम्राज्य की ओर से विशेष प्रोत्साहन दिया जाता था। इसी समय में द्राविड-शैली की बहुत-सी सुन्दर इमारतें, बनायी गयीं। विष्णुस्वामी, हजाराराम का मन्दिर आदि का निर्माण हुआ जो कारीगरी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। द्राविड शैली की मूर्तियाँ अपनी मनोहरता, शास्त्रीय,

---

१—एपि० कर० भाग ८, पृ० ८३।
२—वही भाग १०, पृ० १५६।
३—एपि० इण्डि० भाग ९, पृ० ३३०।

रूप-विधान, भावमयी अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। विजयनगर-साम्राज्यकाल में ललित कलाएँ अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थीं। इस प्रकार इस अन्तिम हिन्दू-साम्राज्य के समय में कर्नाटक की जनता सुखी थी और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस साम्राज्य के द्वारा भारतवर्ष में आर्यधर्म की फिर से पूरी प्रतिष्ठा हुई।

आलोच्यकाल में कर्नाटक के जीवन को विशेष रूप से प्रभावित करने वाले भक्ति-सम्प्रदायों में वीरशैव और माध्वमत ही प्रधान कहे जा सकते हैं। यदि वीरशैवों का षट्स्थल भक्ति-सिद्धान्त हिन्दी-प्रदेश के निर्गुणिया सन्तों की भक्ति-साधना से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है तो माध्वमतावलम्बियों की भक्ति-पद्धति उन्हीं वैदिक ग्रंथों पर आधारित है जिन पर हिन्दी-प्रदेश के विभिन्न भक्ति-मार्ग अवलम्बित हैं। अतः यह कहा जा सकता कि षट्स्थल भक्ति-सिद्धांत लोक-भक्ति है और माध्वमतावलम्बियों की भक्ति शास्त्रीय भक्ति के अन्तर्गत है।

अष्टम अध्याय

हिन्दी और कन्नड में विविध भक्ति-भावों की अभिव्यंजना

वात्सल्य-भक्ति-भाव

भगवान से प्रेम करना ही परा-भक्ति का एकमात्र उद्देश्य है, अतः उसे अहेतुकी अथवा निष्काम-भक्ति भी कहते हैं। वात्सल्य-भक्ति अन्य सब प्रकार की भक्तियों से उत्तम कही जा सकती है। क्योंकि वह निष्काम भक्ति की पूर्ण पोषक है। सन्तान के भोले-भाले और निष्कपट रूप और गुण पर किस माता पिता का मन सहज ही नहीं रीझता! अपने सब कष्ट और स्वार्थ को भुलाकर सन्तान की निरन्तर सेवा में कौन ऐसी माता है जो अपने सर्वस्व को स्वयं ही न्यौछावर नहीं करती? अपनी सन्तति के बिछोह में किस माता-पिता का हृदय नहीं छटपटाता? रति-भाव की तरह वात्सल्य-भाव मानव-जाति के लिए ही नहीं अपितु प्राणि-मात्र के लिए एक प्रबल चालक शक्ति है। वात्सल्य-भाव एकांगी है, क्योंकि स्नेह-पात्र के अबोध और अनासक्त होने के कारण स्नेही अपने स्नेह के बदले में कुछ नहीं चाहता। अपनी सन्तान का स्निग्ध और पवित्र रूप-सौन्दर्य देखने, उसकी मीठी-मीठी और तुतली बातें सुनने, उसकी केलिक्रीड़ाओं और विविध चेष्टाओं का अवलोकन करने में माता का हृदय जैसी शुचिता, तन्मयता, व मधुरता का अनुभव करता है वैसा अनुभव पिता का हृदय नहीं करता। क्योंकि मातृ-हृदय में जो भावोन्मेष होता है वह पितृ-हृदय में नहीं होता। इसलिए सगुण-वैष्णव-भक्तों ने जब-जब अपनी भक्ति-साधना के लिए वात्सल्य-भाव को अपनाया है तब-तब विशेष रूप से मातृ-हृदय के वात्सल्य-भाव का मार्मिक वर्णन करने में अपनी सारी शक्ति लगायी है। और एक बात ध्यान देने की यह है कि वात्सल्य-भक्ति का विस्तार करने के लिए भक्तों ने प्रधानतया गोकुल की यशोदा और बालक कृष्ण के चरित्र को ग्रहण किया है। राम-भक्ति-शाखा के कवियों ने राम के बचपन का वर्णन अवश्य किया है, किन्तु उसमें ऐसी व्यापकता और रसमग्नता नहीं आ सकी है जैसी कृष्ण की बाल-लीला के वर्णन में आई है। "वात्सल्य-भक्ति का रूप श्रीमद्भागवत में भी है, परन्तु जितना पूर्ण और प्रभावशाली इस प्रेम का भाव

व्रजभाषा के कवियों की कृतियों में, विशेष रूप से अष्टछाप काव्य में, प्रकट हुआ है उतना भागवत में भी नहीं हैं।"[1] और फिर अष्टछाप के कवियों में सूरदास सब दृष्टियों से श्रेष्ठ हैं। सूरदास की वात्सल्य-भक्ति का परिचय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने यों दिया है—"जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य-जीवन का चित्रण उन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमार्य-अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की अन्तः प्रकृति में पूरा प्रवेश किया है और उनके बाल्य-भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है।"[2] सूरदास के वात्सल्य-भाव पर प्रकाश डालते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जो विचार व्यक्त किए हैं वे भी उल्लेखनीय हैं—"यशोदा के वात्सल्य में वह सब कुछ है जो माता शब्द को इतना महिमाशाली बनाए हुए है..... यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। माता संसार का ऐसा पवित्र रहस्य है जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं। सूरदास जहाँ पुत्रवती जननी के प्रेमप्लावित हृदय को छूने में समर्थ हुए हैं, वहाँ वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को छूने में भी समर्थ हुए हैं।"[3]

अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद, जहाँ तक वात्सल्य-भक्ति का प्रश्न है, परमानन्द दास को दूसरा स्थान दिया जा सकता है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में यह उल्लेख है कि सूर और परमानन्ददास ने बाल-लीला के बहुत पद बनाए।[4] नन्ददास और चतुर्भुजदास ने भी बाल-भाव के गीतों की रचना की है, लेकिन उनमें गहरी अनुभूति का चित्रण नहीं है। कृष्ण-भक्ति-शाखा के अन्य कवियों में मीरा और रसखान प्रमुख हैं, लेकिन ये दोनों प्रधानतया मधुर-भाव के भक्त थे। इसलिए इनके साहित्य में वात्सल्य-भाव की व्यंजना अधिक नहीं हो पायी।

१—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृ० ६१६।

२—सूरदास—पृ० ११७।

३—सूर-साहित्य—पृ० १२९-१३०।

४—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृ० ६१७।

राम-भक्ति-शाखा के कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्होंने विशेष रूप से सेव्य-सेवक भाव को अपनाया है, इसलिए वात्सल्य-भाव की ओर उनका ध्यान कम गया हैं। फिर भी गोस्वामी तुलसीदास ने सूरदासजी के समान ही कृष्ण-गीतावली की रचना की है जिसमें बाल-लीला, गोपी-उपालम्भ, ऊखल-बन्धन आदि प्रसङ्गों का सुन्दर वर्णन किया है। डा० राम-कुमार वर्मा जी इस सम्बन्ध में कहते हैं—"कृष्ण का बालचरित्र-वर्णन कर तुलसीदास ने इस क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैला दिया है और उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने कृष्ण-चरित्र को उत्कृष्ट साहित्य का रूप दे दिया है।"[१] तुलसीदास ने कृष्ण-चरित्र के वर्णन में हृदय-तत्व को प्रधानता दी है। तुलसीदास की अन्य रचनाओं में 'गीतावली' और 'रामचरितमानस' मुख्य हे जिनमें वात्सल्य-भाव का थोड़ा-बहुत वर्णन किया गया है।

कन्नड के वैष्णव कवियों में हरिदास प्रधान हैं जो श्रीमध्वाचार्य द्वारा प्रतिपादित द्वैतमत के अनुयायी हैं। हरिदास श्रीहरि के उपासक हैं और उनके लिए 'श्रीहरि' शब्द विष्णु का पर्यायवाची है। यद्यपि इन हरिदासों ने विष्णु और उनके सब अवतारों की उपासना की है तो भी उन्होंने कृष्ण-चरित्र की महिमा का गान करने में जैसी विशेष आसक्ति दिखायी है और उसमें जैसी भावमग्नता पायी है वैसी अन्य अवतार का वर्णन करने में नहीं। लेकिन प्रधानतया दास्यभाव के भक्त होने के कारण उनके रचे साहित्य में अन्य प्रकार की भक्तियों का अधिक समावेश नहीं हो पाया। पर चूँकि कृष्ण ही उनके उपास्य-देव हैं, इसलिए कृष्ण की बाल-लीलाओं के आकर्षण से वे अपने को पूर्णतया पृथक् भी नहीं रख सके। अतः कतिपय हरिदासों ने वात्सल्य-भक्ति का आश्रय लेकर कृष्ण की उपासना की है। किन्तु कन्नड का वात्सल्य-भक्ति-साहित्य न केवल अत्यल्प परिमाण में मिलता है बल्कि जो कुछ मिलता है उसमें हिन्दी के कवियों के समान न रस-मग्नता है न मनोवैज्ञानिक भाव-निरूपण की कुशलता ही। हरिदासों में पुरन्दरदास और कनकदास मुख्य हैं। वात्सल्य-भक्ति का वर्णन भी इन्हीं दो कवियों की कृतियों में अन्य कवियों की रचनाओं की अपेक्षा कुछ अधिक हुआ है। अब कन्नड के कवियों की रचनाओं में जो कुछ वात्सल्य-भाव की अभिव्यक्ति है उसी को ध्यान में रखकर हिन्दी और कन्नड की वात्सल्य-भक्ति के साम्य का परिचय दिया जाता है।

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० ३८५।

(१) पालने में कृष्ण को सुलाना

भक्तवर सूरदास ने कृष्ण को पालने में सुलाने के प्रसङ्ग पर कई पद रचे हैं जिनमें माता-यशोदा के मातृ-हृदय का भाव-सौन्दर्य पूर्ण प्रभा के साथ प्रकट हुआ है। एक सरस पद नीचे दिया जा रहा है—

जसोदा हरि पालनें झुलावै।
हलरावै, दुलराइ, मल्हावै जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निन्दरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं वेगहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँक पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहिं अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरें गावै।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नन्द भामिनि पावै। ॥६६१॥

माता यशोदा का कृष्ण को पालने में झुलाते हुए 'जोइ-सोइ' कुछ गाना, नींद से यह विनती करना कि कान्ह तुम्हें बुला रहा है, कृष्ण का कभी आँखें मूँद लेना और कभी अकुला उठना आदि में यशोदा के मातृ-हृदय का कैसा स्वाभाविक तथा मनमोहक चित्र उपस्थित हुआ है! जो सुख यशोदा को प्राप्त हुआ है वह मुनियों और देवताओं के लिए भी दुर्लभ है—सूर की इस उक्ति में कितनी सच्चाई है।

कन्नड के हरिदास साहित्य में पुरन्दरदास, श्रीपादराय और वादिराज स्वामी के एकाध पद मिलते है जिनमें कृष्ण पालने में सुलाए जाते हैं। श्री पादराय के पद में कृष्ण को सुलाने वाली यशोदा नहीं है, पर स्वयं कवि है। उसका भाव इस प्रकार है—[1] 'हे रंगा सो जाओ, रण भीम, सो जाओ, भक्तों के कष्ट दूर करने वाले, सो जाओ, हे दशरथ के पुत्र, सो जाओ। भूमि को सोने का पालना बना कर, सोम सूर्यों को कलश बना कर, वेद समूह को जंजीर बना कर, महाआकाश में लटकी खूंटी से पालने को लगा कर ब्रह्म, गरुड़, शेष, सरस्वती, सुर, किन्नर-किंपुरुष, नारद आदि ने तुम्हारी स्तुति की है। तुम वसुदेव पुत्र मुरारि हो, तुमने पूतना के प्राण हर लिए हैं, तुम दैत्यों के वैरी हो, असाधारण साहसी हो और तुमने शिशु बन कर यशोदा को आनन्द प्रदान किया। तुमने जगत को अपने पेट में समा लिया। जगत का निर्माण किया। तुम निगम-अगोचर और नित्यानन्दमय हो, तुम्हें शिशु समझ कर हम

१—सूर सागर—दशमस्कंध, पृष्ठ २७६।

क्या भुला सकते हैं ? तमासुर का नाश करके तुम वेदों को लौटा लाए, देवताओं के हित तुमने मन्दर पर्वत को उठा लिया, क्षमा करने के लिए जा कर तुमने हिरण्यक को मार डाला, नमस्कार करके बुलाने पर खम्भे में से निकल आए, छोटे बनकर तुमने बलि से दान माँगा, परशुधारण करके क्षत्रियों का संहार किया, दुष्ट रावण का शिर काट डाला, घर-घर जा कर दूध दही तुमने पिया—हे भक्तवत्सल श्री पद्मनाभ, सो जाओ।"[१])

श्री पादराय ने एक प्रकार से इस गीत के द्वारा कृष्ण की स्तुति ही की है। सूरदास के पद में जो मातृ-हृदय की अनुभूति का मधुर चित्र है वह इस गीत में नहीं मिलता। यहाँ पर श्री पादराय की दास्य-भक्ति ही पालना झूलते समय प्रकट हुई है। श्री वादिराज स्वामी ने भी अपने गीत में कृष्ण के दैवी कृत्यों का वर्णन किया है।[२] पुरन्दर का पद कुछ अधिक भावपूर्ण है। वे भी कृष्ण को पालने में सुलाते हुए कहते हैं—"श्रीकृष्ण परमानन्द सो जाओ, गोपी के पुत्र मुकुन्द सो जाओ, क्षीर सागर पर सोने वाले, वटपत्र पर वास करने वाले, श्री लक्ष्मी के हृदयवल्लभ, हे बालक तुम्हें गा कर सुलाऊँगा। रत्नजटित शोभायमान पालने में, चमकीले मंजीठे पर, रोओ नहीं मेरे लाल, तुम्हें गा गा कर सुलाऊँगा—हे गुणनिधि, यदि मैं तुम्हें गोद में उठा लूँ तो घर का काम कौन करेंगे ? शीघ्र ही सुख निद्रा में सो जाओ, हे शेष-शयन तुम्हें गा गा कर झुलाऊँगा·····प्रभु, पाण्डुरंग, पुरन्दर विट्ठल, सो जाओ।"[३]

पुरन्दरदास के दूसरे एक पद में गोपियों द्वारा झुलवाने का वर्णन किया गया है। 'झुलाओ री रंग को, झुलाओ री कृष्ण को, झुलाओ री अच्युतानन्द को'[४] यही गीत का प्रथम चरण है। आगे के चरणों में वटपत्र और शेषशायी, श्री लोल, कालीयमर्दन, आदि विशेषणों से बाल-कृष्ण संबोधित किए गए हैं।

सूर की यशोदा अपने मन में जो अभिलाषा करती है उसमें उसकी निःस्वार्थ मधुर भावना का परिचय मिलता है। दूर की बात न सोच कर सद्यःसुख पाने की कैसी निरीह इच्छा है !

१—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ६, पृष्ठ २२, २३।
२—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ५, पृ० १०४, १०७।
३—वही भाग १ पृ० ७५।
४—वही पृ० ७१।

"जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रेंगे, कब धरती पग द्वैक धरै ।
कब द्वै दांत दूध के देखौं, कब तोतरें मुख वचन झरै ।
कब नन्दहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं रहै ।
कब मेरौ अंचरा गहि मोहन जोइ-सोइ कहि मोसों झगरै ।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने करसौं मुखहिं भरै ।
कब हंसि बात कहैगौ मौसों जा छवि तें दूख दूर हरै ।"[१]॥६९४॥

पुरन्दरदास की यशोदा कुछ और ही अभिलाषा करती है । यदि सूर की यशोदा कृष्ण की बाल-लीलायें देखने के लिए विह्वल है तो पुरन्दर की यशोदा की अभिलाषा कृष्ण को दीर्घायु, शूर, दयालु, दुष्ट-नाशक ही नहीं श्रीनिवास, श्रीनिधि, अच्युत, आनन्द के रूप में देखने की है । गीत का भावार्थ इस प्रकार है :—

"यदु कुल तिलक को तेल मलते हुए उनका वर्णन करते हुए यशोदा ने आशीर्वाद दिया । तुम आयुष्मान बनो, बड़े विद्वान बनो, मायावी दुष्टों का मर्दन करो । राजाओं का पालन करो, राक्षसों का नाश करो, वायु-पुत्री के नाथ बनो । धीर बनो, दयासागर बनो, रुक्मिणी के वल्लभ बनो, मन्मथ के पिता बनो और मधुसूदन बनो, द्वारिका के राजा बनो । तुम ही आनन्द बनो, अच्युत बनो, दानवों का नाश करो । श्रीनिवास बनो, श्रीनिधि बनो, पुरन्दर-विट्ठल, ज्ञान बनो ।"[२]

यशोदा माता धन्य है

कृष्ण जैसे पुत्र को प्राप्त कर यशोदा माता कितनी भाग्यवती बनी है ! यशोदा के उस भाग्य का बखान करते हुए सूरदास जी नहीं थकते । कितने ही अनमोल गीतों में सूरदास ने यशोदा के सुख का चित्र खींचा है ।

धनि जसुमति बड़ भागिनी, लिये कान्ह खिलावै ।
तनक-तनक भुज पकरि कै, ठाढौ होन सिखावै ।
लरखरात गिरि परत हैं चलि घुटुरुनि धावैं ।
पुनि क्रम-क्रम भुज टेकि कै, पग द्वैक चलावैं ।

१—सूरसागर—दशमस्कंध, पृ० २८६ ।
२—श्री हरिकीर्तन तरंगिणी—भाग १, पृ० ६१ ।

अपने पाइन कबहिं लौं, मोहि देखन धावै ।
सूरदास जसुमति इहैं विधि सौं जु मनावै ॥७३०॥[1]

परमानन्द का भी इसी तरह का पद्य कुछ कम सुन्दर नहीं है ।

बाल विनोद गोपाल के देखत मोहिं भावै,
प्रेम-पुलकि आनन्द भरि जसोमति गुन गावै ।
बल समेत घन-सांवरो आँगन में धावै,
बदन चूमि कोरा लिये सुत जानि खिलावै ।
शिवविरंचि मुनि देवता जाको अन्त न पावैं,
सो परमानन्द लाल को भलौ मनावैं ।[2]

कन्नड में ऊपर के गीतों की बराबरी कर सकने वाले पद बहुत कम पाए जाते हैं। लेकिन हरिदासों में पुरन्दरदास, कनकदास, वादिराज स्वामी जैसे भक्तों ने यशोदा के भाग्य से मुग्ध होकर कुछ उद्‌गार अवश्य प्रकट किए हैं। पुरंदरदास का एक छोटा-सा गीत है जिसका भाव इस प्रकार है :—

"यशोदा अपने पुत्र को दुलार रही है, सुन्दर अँगूठी हाथ में पहना कर लाल के शरीर की छवि निहार-निहार कर फूली नहीं समा रही है। कहती है, हे पुत्र, तुम्हें दूध और दही खिलाऊँगी, खुशी खुशी मेरी गोद पर सो जाओ, मुस्कुरा कर एक चुम्बन दे दो—जगत के पति श्री पुरन्दर विट्ठल को यशोदा दुलार रही है।"[3]

कनकदास एक लम्बे गीत में यशोदा के अपार आनन्द का वर्णन यों करते हैं :—

"मुँह देख कर हँस रही है, पुत्र समझ कर खेल रही है, जगत के उद्धारक का मुँह अपने मुँह पर रख कर खिला रही है। पैर में पैंजनी, बाहु में·····बज रही हैं। नीलवर्ण का परिधान पहने बालक को बुला कर दूध पिलाने का कैसा पुण्य पाया है! रंग-रंग के हार, सोने की करधनी में लटकी चमकीली स्वर्ण घण्टियाँ जब झन-झन कर रही हैं तब नचा-नचा कर हंसने का कैसा पुण्य पाया है! सारी पृथ्वी को दो कदमों में नापने वाले देव को उँगली

१—सूरसागर—पहला खण्ड, दशमस्कंध, पृ० २९९।
२—परमानन्ददास पद संग्रह—पद सं० १३।
३—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—पृ० ५८।

पकड़कर, धीरे चलो, धीरे चलो, कहने का कैसा पुण्य पाया है !.....

.....पन्नग शयन उन्नत महिमामय, भक्त रक्षक, गरुड़-वाहन, देवों के देव, चेन्न केशव को किस भाग्य से पाया है !"[१]

श्रीवादिराज स्वामी का एक गीत है जिसमें यशोदा के अतुल भाग्य का बयान किया गया है :—

"यशोदा ने कैसा भाग्य पाया है ! श्रीनिधि कृष्ण को हाथ में उठा कर चूमती है, गंगा के पिता को घड़े के पानी से नहलाती है, नित्य मंगल को अलंकृत करती है, जिसने भूधर को उठाया है उसे पालने में सुलाती है, जो अगोचर है उसे उठा कर लाड़-प्यार करती है, ब्रह्मा के पिता को पुत्र की तरह हाथ में उठाती है, जिसकी श्रुतियाँ स्तुति करती हैं उसे सुलाने लोरी गाती है, जिस में शत-रवि-तेज है उसे आरती उतारती है, जिसको कोई भय नहीं है उसका रक्षाबन्धन करती है.....जिसमें अगणित सद्गुण हैं उसे रस्सी से बाँधती है, जो नित्य तृप्त है उसे दूध पिलाती है।..... .....उडुपि के कृष्ण को अपनी गोद में उठाती है।"[२]

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर तथा अन्य हिन्दी के कवियों की कृतियों में वात्सल्य-भाव का वर्णन मानव-हृदय की सहज अनुभूतियों से ओत-प्रोत है। इन गीतों को पढ़ते समय हम भूल ही जाते हैं कि कृष्ण कोई दैवी पुरुष है। किन्तु कन्नड के गीतों में सदा यह स्मरण दिलाया जाता है कि कृष्ण कोई साधारण मानव-बालक नहीं हैं, वह स्वयं भगवान ही हैं। पर हाँ, सूरदास भी कभी-कभी गीत के अन्तिम चरण में "प्रभु की यह लीला निगम नेति नित गाई", "कंस निकन्दन, भक्त हेत अवतार धर्‌यौ", "भक्तनि हित कारन, नाना भेष बनावैं", "प्रभु विस्वम्भर हरि" इत्यादि उल्लेख द्वारा हमें यह याद दिलाते हैं कि कृष्ण स्वयं भगवान हैं। किन्तु ऐसे उल्लेखों से गीत के भाव की सरलता में विशेष बाधा नहीं पड़ती।

१—कनकदास कीर्तने गच्छु—भाग १, पृ९ ४१।

२—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ५, पृ० १०।

गोपियों का उपालम्भ

नटखट कृष्ण के उत्पातों से हैरान होकर गोकुल की भोली-भाली गोप स्त्रियों का यशोदा के यहाँ बार-बार आकर शिकायत करना, कभी-कभी क्रुद्ध होकर यशोदा का कृष्ण को फटकारना, कृष्ण का अपनी सच्चाई की सफाई देना, आदि प्रसंगों के मनोहर चित्र सूरदास प्रभृत्ति हिन्दी के कृष्ण-भक्त कवियों के साहित्य में भरे पड़े हैं। कोई महरी आकर यशोदा से शिकायत कर रही है—

तेरो लाल माखन खायौ।
दुपहर दिवस जानि घर सूनौ, ढूँढि-ढंढोरि आप ही आयौ।
खोलि किवार, पैठि मन्दिर में, दूध दही, सब सखनि खवायौ।
ऊखल चढ़ि, सींके को लीन्हौ, अनभावत मुँह मैं ढरकायो।
दिन प्रति हानि होति गोरस की, यह ढोटा कौनैं ढङ्ग लायौ।
सूर स्याम कों हटकि न राखे तैं ही पूत अनोखौ जायौ ॥३११॥[1]

नीचे का पद भी देखने लायक है—

जसुद कहं लौं कीजै कानि।
दिन-प्रति कैसें सही परति है, दूध दही की हानि।
अपने या बालक की करनी, जौ तुम देखौ आनि।
गोरस खाइ, खवावै लरिकनि, भाजत-भाजन भानि।
मैं अपने मन्दिर के कोनैं, राख्यौ माखन छानि।
सोइ जाइ तिहारैं ढोटा, लीन्हौ है पहिचानि।
बूझि ग्वालि निज गृह में आयौ, नैंकुन संका मानि।
सूर श्याम यह उतर बनायौ, चींटी काढ़त पानि ॥२८०॥[2]

इसके अतिरिक्त 'महरि तुम मानौ मेरी बात।' 'सांवरेहिं बरजति क्यों जु नहीं।'[3] आदि कितने ही पद ऐसे हैं जिनमें सूरदास ने गोपियों की शिकायतों का विस्तार से सूक्ष्म वर्णन किया है। इस प्रकार की शिकायतों से यशोदा कभी-कभी क्रुद्ध होकर कृष्ण को डाटने पीटने लगती है। कभी-कभी प्रेम से समझाती है "मेरे लाडिले हो तुम जाउ न कहूँ", "राखे हैं भाजन भरि

१—सूरसागर—दशमस्कंध, पृ० ३७०।
२—सूरसागर—दशमस्कंध, पृ० ३५५।
३—वही ,, पृ० ३७१।

सुरस छहूँ", "काहे कों पराऐं जाइ ?" "नव लख धेनु दुहत हैं नित प्रति, बड़ौ नाम है नन्द महर कौ। ताके पूत कहावत हौ तुम, चोरी करत उघारत फरकौ। सूरश्याम कितनौ तुम खै हौ, दधि-माखन मेरे जहं-तहं ढरकौ।" कभी-कभी यह भी कहती है कि "ये सब ढीठ गरब गोरस कैं मुख संभारि बोलत नहिं बात। जोइ-सोइ रुचै सोइ तुम मोपै मांगि लेहु किन तात ?"

इस पर कृष्ण का उत्तर कितना मजेदार है :—

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचैं धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनें मैं कैसें करि पायौ।
मुख दधिपोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि सांटि, मुसकाइ जसोदा, स्यामहिं कण्ठ लगायौ।
बाल-विनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति को यह सुख विरंचि नाहिं पायौ ॥२३४॥[1]

प्रायः गोपिकाएँ शिकायत करने के बहाने से कृष्ण की मोहिनी-मूर्ति को देखने और अपने मन को जुड़ाने के लिए आती हैं—"ग्वारिन उरहन कैं मिस आई। नन्द-नन्दन तन-मन हरि लीन्हो, बिन देखें छिन रह्यौ न जाई।" क्योंकि कृष्ण को बिना देखे उन्हें कल नहीं पड़ती।

कर्नाटक के हरिदासों के साहित्य में उपर्युक्त प्रसंगों पर इने-गिने पद ही मिलते हैं और जितने मिलते हैं उनमें मधुर अनुभूतियों की ऐसी सरस व्यंजना नहीं हो पायी है जैसी सूर और अन्य हिन्दी कवियो की रचनाओं में पायी जाती हैं। श्रीपादराय और कनकदास के एकाध ऐसे पद मिलते हैं जिनमें बहुत ही संक्षेप में कुछ सूरदास से मिलते-जुलते भाव व्यक्त किए गए हैं।

श्रीपादराय के गीत में कृष्ण आकर यशोदा से अपनी सफाई इस प्रकार देता है :—

> सुनो अम्मा, ये गोप स्त्रियाँ आकर कहती हैं कि मैं चोर हूँ। झूठ मूठ ही अपराधी ठहराकर मुझे मार डालना चाहती हैं। घड़े में रखा हुआ उतना दूध मैं कैसे पी सकता हूँ ? क्या मेरा पेट कोई तालाब है ? चाहें तो भैया को बुलाकर पूछ लो, चाहें तो ऊखल से बाँध लो।

१—सूरसागर—दशमस्कंध पृ०, ३७१।

इतना मक्खन मुझसे कैसे खाया जा सकता है ?
अगर लोभी हो जायँ तो भगवान हमारी
आंखें.....

अटारी पर चढ़ना मेरे लिए कैसे सम्भव हो सकता है ? तुम्हारा दिया हुआ दूध भी मैं पूरा पी नहीं सका हूँ।
उत्पात मचाने के लिए क्या मैं कोई बड़ा आदमी हूँ ? सब कोई मेरे बारे में शिकायत करते हैं। क्या मैं तुम्हारा पुत्र नहीं हूँ ? यह सुनकर यशोदा ने अपने सुन्दर पुत्र को गोद में उठाकर पालने में झुलाया।"[१]

कनकदास के एक गीत के उत्तरार्ध का भाव इस प्रकार है—

"सब गोपियों ने मिलकर कृष्ण को हाथ में धर लिया और तुरन्त ही यशोदा के पास जाकर शिकायत की। सुनो री यशोदा, तुम्हारा लड़का बड़ा चोर है। जब मैं दूध दुह रही थी तब इसने छीके पर रखा हुआ सारा दूध उड़ेल दिया। कृष्ण इसका उत्तर देता है। वह कहता है, नहीं अम्मा नाहक मेरी शिकायत कर रही है, मैं कोई बड़ा पहलवान नहीं हूँ कि छींके पर कूद सकूं। तब दूसरी एक गोपी कहती है, तुम्हारे लड़के ने अन्दर रखा हुआ सारा मक्खन खिड़की से उठाकर खा लिया है। मेरे अपने बच्चों के लिए भी कुछ बचा नहीं है। उसका उत्तर कृष्ण यों देता है—मेरा मुँह मानो बड़ा तालाब है कि मैं घड़े भर का सारा मक्खन खा लूँ। इसने जो मक्खन छिपा रखा था इसके बच्चों ने उड़ा लिया है।.....
.....अन्त में यशोदा कहती है कि तुम लोग बच्चों वाली मातायें इस प्रकार झूठमूठ शिकायत करो, यह कुछ शोभा नहीं देता..... आखिर में गोपियाँ कहती हैं कि तुम्हारा यह लड़का अणु-रूप है, चिन्मय रूप है, महामहिम है....."[२]

दूसरे पद में यशोदा गोपियों को इस प्रकार सान्त्वना दे रही है :—

आज कृष्ण के अपराध को सहन कर लो, भविष्य में वह तुम्हारे घर नहीं आयेगा। यह अबोध बालक क्या जानता है ? इतना-सा

१—हरिकीर्तन तरंगिणी—भाग ६—पृष्ठ १०३, १०४।
२—कनकदासर कीर्तन गच्छु—भाग १—पृष्ठ २७।

मक्खन खा लिया तो उसके श्री चरणों को बाँध दोगी ? वह अगणित महिमामय है, उसे क्यों डराती हो ? उसे अपना ही बच्चा क्यों नहीं समझ लेती हो ? इस नन्हे-से बच्चे को प्यार न करके चोर बताकर बांध देती हो ? क्या जगत में मैं अकेली ही लड़के की माँ हूँ ? इसे तुम अपना ही लड़का क्यों नहीं समझ लेती हो। कितनी ही बार मना करने पर भी वह दुष्ट बच्चों के साथ खेलने चला ही जाता है, कुछ सुनता नहीं। ताज़ा मक्खन उसे खिलाऊँगी, उसे तुम लोग छोड़ दो री।"[1]

श्रीपादराय के एक पद में यशोदा अपने पुत्र के निरपराध होने की बड़ी ही सुन्दर दलीलें उपस्थित करती है :—

"तुम लोग कृष्ण (रंग) की शिकायत क्यों करती हो ? बस करो, तुम्हारी बातें समझती हूँ। ऐसे काम यह बालक थोड़े ही कर सकता है ? यह तो चार कदम चल नहीं सकता, क्या बछड़ों को छोड़कर कभी बाहर जाता है ? तुम्हारे घर के बछड़ों को, जो खंभे से बंधे थे क्या यह खोल सकता है ? इस कृष्ण के प्रति तुम लोगों में कैसी ईर्ष्या है ? घर में जिस दिन मलाईदार दूध पिलाया जाता है उस दिन भर वह खाना तक नहीं खाता। तुम्हें यह कहते शरम नहीं आती कि इसने घर-घर जाकर दूध-मक्खन खाया है और स्त्रियों के साथ केलि-क्रीड़ा की है। हमारे घर में दूध दही की क्या कमी है, देखती नहीं हो ? गोपाल को देखकर तुम्हारे मन में लोभ नहीं समाता। इस भव-रूपी समुद्र से पार कराने वाले हैं हमारे रंग विट्ठल।"[2]

इस भाव से मिलता-जुलता सूरदास का पद भी उल्लेखनीय है :—

"कहै जनि ग्वारिनि झूठी बात।
कबहु नहिं मनमोहन मेरौ, धेनु चरावनि न जात।
बोलत है बतियाँ तुतरौहीं चलि चरननि न सकात।
कैसें करै माखन कौ चोरी, कत चोरी दधिखात।
देहीं लाइ तिलक केसरि कौ, जौबन मद इतराति।
सूरज दोष देति गोविन्द कौं, गुरू लोगनि न लजात।"[3] ॥२९४॥

१—कनकदासर कीर्तनेगळु—भाग १—पृष्ठ ८६।
२—हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ६—पृष्ठ ९४।
३—सूरसागर—दशम स्कंध—पृष्ठ ३५९।

कृष्ण को हौए का भय दिखाना

बहुत मनाने पर भी जब बच्चा नहीं सोता, जब दूध पीने से इनकार करता है या मौके-बेमौके बाहर जाने का हठ करता है तब माताएँ अक्सर बच्चों को हौए का भय दिखाती हैं। जब बच्चा थोड़ा-सा समझदार होता है तब माता की चाल पहचान लेता है और पूछने लगता है कि हौआ कहाँ रहता है ? मैं तो कभी उसे देख नहीं पाता ! सूरदास और पुरन्दरदास ने हौए के प्रसंग पर पद रचे हैं। यशोदा कृष्ण को समझाती है।

खेलन दूरि जात कत कान्हा ?
आजु सुन्यौ मैं हाऊ आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा।
इक लरिका अबहीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि।
कान तोरि वह लेत सबनि के, लरिका जानत जाहि।
चलौ न, बेगि सबारैं जैये, भाजि आपनैं धाम।
सूर श्याम यह बात सुनत ही बोलि लिए बलराम ॥२२०॥[1]

पुरन्दरदास के गीत का भाव इस प्रकार है :—

"हौआ आया है, हे रंग, हौआ आया है, चुपचाप दूध पीकर सो जाओ कृष्ण। चार मुख वाला एक हौआ गोकुल आया है बच्चों को उड़ा ले जाने के लिए। तीन आँखों वाला एक हौआ गाँव गाँव घूमता हुआ दुष्ट बच्चों को ले जाने के लिए दरवाज़े पर आकर खड़ा है। दूसरा एक हौआ, जिसके शरीर भर में आँखें हैं और जिसका चेहरा बहुत सुन्दर है, सोने-से सुन्दर बच्चों को ले जाने आया है। छः मुँह वाला एक हौआ जिसकी बारह आँखें हैं रोने वाले बच्चों को पकड़ ले जाने आया है। पेड़ पर एक भयङ्कर मुँह वाला हौआ बच्चों को पुरन्दर विट्ठल के पास ले जाने के लिए बैठा हुआ है।"[2]

सूरदास के दूसरे एक पद में जब यशोदा यह कहती है कि हे मेरे लाल, वन में एक हौआ आया है, खेलने के लिए मत जाओ तब कृष्ण हंस कर पूछता है कि हौआ को किसने भेजा है ? वह पद यों है :—

दूरि खेलन जनि जाहु लला मेरे, वन में आए हाऊ !
तब हँसि बोले कान्हा, मैया कौन पठाये हाऊ ?

१—सूरसागर दशम स्कंध—पृष्ठ ३३५।
२—श्रीहरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग १—पृष्ठ ५७।

अब डरपत सुनि-सुनि ये बातें, कहत हंसत बलदाऊ।
सप्त रसातल सेषासन रहे, तब की सुरति भुलाऊ।
चारि बेर ले गयौ संखासुर, जल में रह्यो लुकाऊ।
मौन रूप धरि के जब मार्यौ, तबहिं रहे कहं हाऊ ?
मथि समुद्र सुर असुरनि कै हित मन्दर जलधि धसाऊ।
कमठ रूप धरि धार्यौ पीठि पर, तहाँ न देखे हाऊ।
जब हिरनाच्छ जुद्ध अभिलाष्यौ, मन मैं अति गवराऊ।
धरि बारह रूप सो मार्यौ ले छिति दन्त अगाऊ।
विकट रूप अवतार धर्यौ जब, सो प्रहलाद बचाऊ।
हिरनकसिपु बपु नखनि बिदार्यौ, तहाँ न देखे हाऊ।

× × × ×

भक्त हेतु अवतार धरे, सब असुरन मारि बहाऊ।
सूरदास प्रभु की यह लीला, निगम नेति नित गाऊ॥[1]

पुरन्दरदास का कृष्ण शुरू शुरू में हौआ का नाम सुनकर भयभीत होता है और अम्मा से कहता है कि 'हौए को मत बुलाओ, मैं चुप रहूँगा, खाना खाऊँगा, पीछे से जाकर गोप बालिकाओं की आँखें बन्द नहीं करूँगा, भैया को गाली नहीं दूँगा, लड़कों को नहीं पीटूँगा, मक्खन, मिट्टी नहीं खाऊँगा, साँप से नहीं खेलूँगा, कुएँ के पास नहीं जाऊँगा, गायों का दूध नहीं पीऊँगा, बछड़ों को नहीं खोलूँगा, भगवान की तरह एक ही जगह बैठा रहूँगा। लड़के की ये बातें सुन कर यशोदा मुस्कुराती है और जगत के प्रभु पुरन्दर विट्ठल को बड़े प्रेम से छाती से लगा लेती है।"[2]

जब कृष्ण को हौए की बात पर संदेह होता है तब माता से कहता है, कि दिखाओ तो सही हौआ कहां है ? झूठमूठ मुझे नहीं डराओ अम्मा,·····
···चौदह लोकों को मैंने अपने उदर में समाकर ब्रह्माण्ड को अपने मुँह में दिखाया, भयंकर हवा का रूप धरकर आए हुए राक्षस को मार डाला, पर किसी हौए को नहीं देखा। कालिंग के फन पर चढ़कर मैंने नाना विधि नाच किया और नागपत्नियों का उद्धार किया—तब भी मैंने हौआ नहीं देखा ! अक्रूर को विश्वरूप दिखाया, रथ पर बैठ कर मथुरा गया और मदमत्ता धोबी

१—सूरसागर दशमस्कन्ध—पृष्ठ ३३५, ३३६।
२—श्रीहरिदास कीर्तन तरंगिणी भाग १—पृष्ठ ५३।

को मार डाला—मगर कहीं हौआ नहीं दिखाई पड़ा·····पुरन्दर विट्ठल बाल गोपाल को, अम्मा तुम इस तरह डराओ नहीं।'[3]

बाल-छवि-वर्णन

सूर-सागर में बाल-कृष्ण की रूप-छवि के अनौखे चित्र उपस्थित किए गए हैं जो अन्यत्र शायद ही देखने को मिलें। नंद, यशोदा, गोपिकाएँ गोकुल के समस्त नरनारी कृष्ण के भव्य रूप को देख-देखकर कभी तृप्त नहीं होते।

सूरदास जी स्वयं 'कहाँ लौं वरनों सुन्दरताई' कह कर अपनी असमर्थता बताते हैं। वे कहते हैं:—

हरि जू की बाल-छबि कहों वरनि।
सकल सुख की सींव, कोटि-मनोज-सोभा-हरनि।
भुज भुजंग सरोज नैननि, बदन विधु जित लरनि।
रहे विवरनि, सलिल, नभ, उपमा ऊपर दुरि डरनि।
मंजु मेचक मृदुल तनु, अनुहरत भूषन भरनि।
मनहु सुभग सिंगार-सिसु तरु, फरयौ अद्भुत फरनि।
चलत पद प्रति बिंब मनि आंगन घुटुरूवनि करनि।
जलज-सम्पुट-सुभग-छबि भरि लेति उर जनु धरनि।
पुन्यफल अनुभवत सुतहिं विलोकि के नंद धरनि।
सूर प्रभू की उरवसी किलकनि ललित लरखरनि॥[1]

यदि कोई गोपिका यशोदा से यह कहती है 'धन्य जसोदा भाग तिहारो, जिन, ऐसो जायो' तो दूसरी कोई कहती है 'हरि को मुख माइ, मोह अनुदिन अति भावै।' और तीसरी कहती है 'मैं बलि श्याम, मनोहर नैन।' इस प्रकार समस्त गोपिकाएँ नन्द के पुत्र की छवि देखती ही रह जाती हैं—'निरखति ब्रज-जुवती सब ठाढ़ी, नन्द सुवन-छवि चंदबदनियाँ।'

कन्नड के हरिदासों के साहित्य में कृष्ण की छवि का वर्णन करने वाले पद बहुत कम मिलते हैं, लेकिन कभी-कभी ये हरिदास भी कृष्ण की छवि की कल्पना करके गा उठे हैं। पुरन्दरदास के एक गीत का भाव इस प्रकार है :—

१—श्रीहरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग १ पृष्ठ ६४।

१—सूरसागर, दशमस्कन्ध—पृष्ठ २९८।

हे यशोदा, तुम्हारे पुत्र का कैसा अनुपम रूप है ? तुम्हारा यह पुत्र साधारण शिशु नहीं है, जगत के प्रभु श्रीकृष्ण ही हैं। जहाँ गायें दुही जाती हैं वहाँ यह अपने अनेक रूप दिखाता है। जहाँ गरम दूध रखा जाता है वहाँ हमारे पीछे से खड़ा रहता है। जहाँ दही मथा जाता है वहाँ सामने खड़ा रहता है, बड़ी ही चतुराई से धोखा देकर मक्खन खा लेता है। किसी के घर में सोता रहता है तो किसी के यहाँ मक्खन चुरा कर खा लेता है। यदि किसी के यहाँ रति-क्रीड़ा करता है तो और किसी के यहाँ गेंद खेलता रहता है। कभी पीछे खड़ा रहता है और कभी आगे आगे चलता रहता है, चन्द्रमुखियों के साथ रस-रंग की बातें करता रहता है। हे यशोदा, आकर तो देखो, हम लोग बातें नहीं बना रही हैं—नंद गोप के नन्दन पुरन्दर विट्ठल हैं।'[1]

यशोदा से कृष्ण की शिकायतें

वैसे तो सूर का कृष्ण यशोदा से कई प्रकार की शिकायतें करता है। किसी समय यशोदा कृष्ण को यह कहकर—

'कजरी को पय पियहु लाल, जासौं तेरी बेनि बढ़ै।
जैसै देखि और ब्रजबालक, त्यों बल-वैस चढ़ै।'

दूध पिलाती है। जब बहुत दिन तक बाल नहीं बढ़े तब कृष्ण माता से रूठकर कहता है—

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी !
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त-गुहत-न्हवावत जै है नागिन सी भुइं लोटी।
काँचौ दूध पिवावति पचि-पचि, देति न माखन-रोटी।
सूरज चिर जीवौ दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी।[2]

जब कृष्ण गोप बालकों के साथ खेलता रहता है तब बलराम उसे चिढ़ाता है। इस पर कृष्ण यशोदा से इस प्रकार शिकायत करता है :—

१—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—पृष्ठ ६४।
२—सूरसागर—दशमस्कंध—पृष्ठ ३३३-३४।

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हों, तू जसुमति कब जायौ ?
कहा करौं इहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात।
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत श्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।
तू मोही कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मन हरि-मुख रिस की ये बातें, जसुमत सुनि-सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूर श्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत।[२]

पुरन्दरदास के अब तक प्राप्त पदों में एक ही ऐसा पद मिल सका है जिस का भाव सूरदास के उपर्युक्त पद के भाव से बहुत कुछ मिलता जुलता है। पद का सारांश यों है :

"अम्मा मुझे, साथ खेलने वाले लड़के, बहुत चिढ़ाते हैं। पूछते हैं कि तुम्हें किसने जन्म दिया है ? मुझे गली-गली जाकर मक्खन चुराने वाला बताते हैं। कहते हैं कि मेरी माता तुम नहीं हो, और मेरे पिता यहाँ नहीं हैं। मामा के उत्पात के भय से मुझे मथुरा से यहाँ लाकर बेच दिया है। अम्मा, वे कहते हैं कि मेरी माता देवकी है, मेरे पिता वसुदेव हैं।"[१]

हिन्दी और कन्नड में वात्सल्य-भक्ति-साहित्य की तुलना करते समय सूरदास की कृतियों के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य कवियों की रचनाओं का उद्धरण देने की अधिक आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसके दो कारण हैं। एक तो यह है कि कन्नड में वात्सल्य-भक्ति-साहित्य बहुत ही कम मात्रा में उपलब्ध है और दूसरा यह कि जो कुछ उपलब्ध है उसमें उतने प्रसङ्गों का कलात्मक चित्रण नहीं हुआ है जितना अकेले सूरदास के पदों में हुआ है बाल्य-जीवन के जिन पहलुओं का कन्नड के कवियों ने दो-चार शब्दों में उल्लेख-मात्र कर दिया है उनका सूरदास ने विस्तार के साथ मर्म-स्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है। निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का वात्सल्य-भक्ति-साहित्य जितना विकसित और सर्वाङ्ग सुन्दर है उतना कन्नड का नहीं है।

१—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग १, पृष्ठ ५८।

सख्य-भक्ति भाव

भक्ति के जितने प्रकार बताए गए हैं उनमें सख्य-भाव-भक्ति का अपना अलग महत्व है। जिस तरह वात्सल्य-भक्ति के अन्तर्गत भगवान के साथ व्यवहार करने में भक्त को पूरी स्वतन्त्रता मिलती है उसी तरह सख्य-भाव की साधना में भक्त भगवान के सम्मुख अपने हृदय की बातों को व्यक्त करने में किसी प्रकार के संकोच, भय अथवा छोटे-बड़े का अनुभव नहीं करता। क्योंकि दोनों के बीच में जो सम्बन्ध स्थापित होता है उसमें समानता के भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा रहती है। मित्रता के उच्च आदर्श के अनुसार मित्रों में परस्पर किसी प्रकार के स्वार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। अतः सख्य-भाव द्वारा निःस्वार्थ भक्ति की पूर्ण रूप से पुष्टि होती है। सम्भवतः श्रीमद्भागवत के निर्माण-काल तक सख्य-भाव, भक्ति-साधना का एक अभिन्न अङ्ग बन गया था। भागवत् पुराण के चौदहवें अध्याय में ब्रह्मा के द्वारा कृष्ण की जो स्तुति की गयी है उसमें यह कहा गया है कि वे नन्दगोप आदि ब्रज के निवासी धन्य हैं जिनका परमानन्द-पूर्ण सनातन ब्रह्म मित्र है।[१] नारद भक्ति-सूत्र में प्रेमाभक्ति के ग्यारह भेद बताए गए हैं जिनमें सख्यासक्ति एक है।[२] भागवत में वर्णित नवधा-भक्तियों में भी सख्याभक्ति सम्मिलित है।[३] इस प्रकार भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने सख्य-भाव को भक्ति का अङ्ग माना है।

सख्य-भाव द्वारा रामोपासक तथा कृष्णोपासक दोनों शाखाओं के भक्तों ने भक्ति की साधना की है। जहाँ कृष्ण-भक्तों ने कृष्ण और उनके अन्तरङ्ग मित्र-अर्जुन, उद्धव, सुदामा, संजय, गोपबालकों के बीच के स्नेह का वर्णन किया है वहाँ रामोपासक भक्तों ने राम और उनके सखा विभीषण और सुग्रीव के बीच के प्रेम को अपनी भक्ति-साधना का अङ्ग बनाया है। लेकिन कृष्ण-चरित्र का सहारा लेकर भक्तों ने सख्य-भाव का जितना बिस्तार किया है उतना राम-चरित्र को लेकर नहीं किया है। निर्गुणोपासक सन्तों के साहित्य में सख्य-भाव का सर्वथा अभाव ही है।

लौकिक जीवन में एक मित्र के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है वैसा

१—अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजोकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।
भागवत-दशम स्कंध-अध्याय १४ श्लोक ३२।

२—नारदभक्ति-सूत्र—सं० ८२।

३—भागवत—सप्तम स्कंध—अध्याय ५—श्लोक २३–२४।

ही व्यवहार भक्त भगवान के साथ करता है। अन्तरङ्ग मित्र एक दूसरे से काम लेने के लिए कई प्रकार के उपाय करते हैं। यदि कभी अधिकार चलाकर काम लेते हैं तो कभी निन्दा-तिरस्कार द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। कभी रूठ कर, कभी ललकार कर, कभी फुसला कर अपना काम चलाते हैं। लेकिन इन सब प्रकारों के साधनों का उपयोग करने पर भी आपस के स्नेह-सम्बन्ध में किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती, वह जैसे का तैसा रहता है। क्योंकि इस प्रेम के व्यवहार में स्वार्थ की गंध तक नहीं रहती। यही बात भक्त और भगवान के बीच की भी है।

हिन्दी और कन्नड के सगुणोपासक भक्त-कवियों ने अपनी रचनाओं में सख्य-भक्ति का निरूपण किया है। अब कतिपय उद्धरणों द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि दोनों साहित्यों के अन्तर्गत सख्य-भाव के चित्रण में जो समानता के तत्त्व पाए जाते हैं उनका क्या स्वरूप है।

कृष्ण और गोपबालक

भक्तप्रवर सूरदास ने कृष्ण की बाल और गोचारण-लीलाओं का वर्णन करते हुए वात्सल्य-भक्ति की इतनी सरस अभिव्यक्ति की है कि निष्काम भक्ति का शुद्ध आनन्दात्मक रूप प्रस्फुटित हुआ है। सखा श्रीदामा मित्रता में समान अधिकार का दावा करते हुए कृष्ण से कहते हैं—"खेलने में कोई किसी का स्वामी नहीं होता, तुम व्यर्थ ही क्यों गुस्से में आते हो? हम तुम्हारी छाया में वास नहीं करते, जाति में हम कुछ हेठे नहीं हैं। तुम इसलिए अधिकार दिखाते हो कि तुम्हारे यहाँ अधिक गाएँ हैं? जो बेईमानी करता है उससे कौन खेला?—श्रीदामा के इतना कहने पर सब सखा खेल छोड़ कर लेटे रह गए। आखिर कृष्ण ने सबको मनाया और श्रीदामा को दांव दे दिया।[1]

गोचारण के प्रसंग में सख्य-भक्ति के सूरदास ने और भी अनेक मनोहर चित्र उपस्थिति किए हैं। सख्य-प्रेम के वशीभूत होकर कृष्ण अपने मित्रों के

१—खेलत मैं को काको गुसैयां।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयां।
जाति-पांति हमसें बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयां।
अति अधिकार जनावत यातें जातें अधिक तुम्हारें गैयां।
रूहठि करै तासौं को खेलै, रहै बैठि जहं-तहं सब ग्वैयां।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउं दियौ करि नन्द-दुहैयां॥२४५॥
सूरसागर दशमस्कंध—पृ० ३४३।

साथ गाएँ चराते हुए अपार आनन्द पाते है। छाक खाने में कृष्ण और गोप-बालक इतने मग्न होते हैं कि गायों को भी भुला देते हैं :—

जेंवत छाक गाइ बिसराई।
सखा श्रीदामा कहत सबनिसों, छाकहि में तुम रहे भुलाई।
धेनु नहीं देखियत कहुँ नियरैं, भोजन ही में साँझ कराई।
सुरभी काऊ जहाँ-तहाँ धाये, आपु तहाँ उठि चले कन्हाई।
ल्याए ग्वाल घेरि गो, गो-सुत, देखि श्याम मन हरष बढ़ाई।
सूरदास प्रभु कहत चलौ घर, बन में आजु अबार लगाई ॥४७१॥[1]

भक्तवत्सल भगवान को षट्रस-व्यंजनों में वह स्वाद नहीं मिलता जो उनको ग्वाल-सखाओं के जूठे कौर को छीन-छीन कर खाने में मिलता है :—

ग्वालिन करतैं कौर छुड़ावत।
जूठौ लेत सबनि के मुखकौ, अपनैं मुख लै नावत।
षट्रस के पकवान धरे सब, तिनमैं रुचि नहिं लावत।
हा-हा करि करि मांगि लेत हैं, कहत मोहि अतिभावत।
यह महिमा येई पै जावत, जातैं आपु बंधावत।
सूर स्याम सपनैं नहिं दरसत, मुनि जन ध्यान लगावत।[2]

कृष्ण के बालोचित आँखमिचौनी, भंवराचकडोर, गेंद आदि खेलों का सुखकारी चित्रण करते हुए सूरदास ने सख्य-भक्ति की रस-धारा बहाई है। अष्ट-छाप के अन्य कवियों में परमानन्ददास ही एक ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में सख्य-भक्ति का भावपूर्ण वर्णन हुआ है। गोचारण के पदों में परमानन्ददास स्वयंगोप बन कर अपने मित्र कृष्ण से यों कहते हैं—

आजु दधि मीठो मदन गोपाल।
भावत मोहि तिहारो झूंठो चंचल नयन विशाल।
आने पात बनाये दोना दिये सबन कौं बाँट।
जिन नहिं पायो सुनौरे जैया, मेरी हथेरी चाट।
बहुत दिनन हर बसे कुमुदबन कृष्ण तिहारो साथ,
ऐसौ स्वाद हम कबहूँन चाख्यौ सुन गोकुल के नाथ।
आपुन हँसत हँसावत ग्वालन मानस लीला रूप,
परमानन्द प्रभु हम सब जानत तुम त्रिभुवन के भूप।[1]

१—सूर सागर—दशमस्कंध—पृ० ४२१।
२—सूर सागर—दशमस्कंध—पृ० ४२०-२१।

सूर और परमानन्द दास ने गोचारण प्रसङ्ग के अन्तर्गत अनेक मार्मिक चित्र खींचे हैं जिनके सौन्दर्य का आभास उपर्युक्त उद्धरणों से मिल जाता है। कर्नाटक के हरिदासों ने इस प्रसंग की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। अतः हिन्दी के कवियों ने इस गोचारण-प्रसङ्ग पर जो कुछ लिखा है उसका उल्लेख और अधिक करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अर्जुन, सुदामा, विदुर और उद्धव के प्रति कृष्ण का सख्य-भाव

अपनी ठकुराई भूल कर प्रेम के वश अर्जुन का रथ हाँकना कृष्ण के सख्य-भाव का उज्ज्वलतम उदाहरण है। जिस समय दुर्योधन और अर्जुन साथ मिलकर कृष्ण के यहाँ युद्ध में सहायता माँगने जाते हैं, उस समय कृष्ण को पलंग पर सोते हुए पाते हैं। अर्जुन कृष्ण के पैरों के नीचे बैठते हैं और दुर्योधन कृष्ण के सिरहाने पर बैठते हैं। कृष्ण जाग कर अर्जुन को पहले देखते हैं और कुशल समाचार पूछते हैं। उसके बाद दुर्योधन को देखते हैं जो गर्व धारण किए हुए बैठे हैं। जब दोनों ने अपना-अपना मनोरथ बताया तब श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, शस्त्र नहीं ग्रहण करूँगा, अकेले एक तरफ रहूँगा और मेरी सारी सेना दूसरी तरफ रहेगी। दुर्योधन हरि का प्रभाव क्या जाने? इसलिए उन्होंने सेना मांग ली। अर्जुन ने कहा कि मुझे शरणागत समझ कर पूर्ववत् मेरे ऊपर कृपा करो।[२] कृष्ण अर्जुन को इस पक्षपात का रहस्य यों समझाते हैं—

१—परमानन्द पदसंग्रह—पद सं० ४३२।

२—भक्त-वछलता प्रगट करी।

संत संकल्प वेद की आज्ञा, जन के काज प्रभु दूरिधरी।
भारताहि दुर्योधन, अर्जुन भेंटन गये द्वारिका पुरी।
कमल नैन पोढे सुखसेज्या, बैठे पारथ पाइतरी।
प्रभु जागे, अर्जुन तन चितयौ, कब आये तुम, कुसल खरी?
ता पाछे दुर्योधन भैठ्यौ सिर-दिसि तें मन गर्वधरी।
दुहिनि मनोरथ अपनौ भाख्यौ तब श्रीपति बानी उचरी।
जुद्ध न करौं, शस्त्र नहीं पकरौं, एक ओर सेना सिगरी।
हरि प्रभाव राजा नहिं जान्यौ, कह्यौ सैन मोहिं देहु हरी।
अर्जुन कह्यौ, जानि शरणागत, कृपा करी ज्यौं पूर्व करी॥२६८॥

सूरसागर प्रथम स्कंध—पृष्ठ ८६।

हम भक्तनि के, भक्त हमारे।
सुनि अर्जुन परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे।
भक्तनि काज लाज जिय धरिके-पाइ पयादे धाऊँ।
जहँ-जहँ भीर परै भक्तनि कौं तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ।
जो भक्तनि सौं बैर करत है, सो बैरी निज मेरौ।
देखि विचारि भक्त हित कारन, हांकत हौं रथ तेरौ।
जीतें जीति भक्त अपनें के, हारें हारि विचारौं।
सूरदास सुनि भक्त विरोधी, चक्र सुदरसन जारौं।[1] ॥२७२॥

जब कृष्ण दुर्योधन से मिलने के लिए जाते हैं तब दुर्योधन के यहाँ पहले न जा कर विदुर के यहाँ आतिथ्य स्वीकार करते हैं। कृष्ण को अचानक ही अपने घर में पाकर विदुर इस संकोच में पड़ जाते हैं कि कृष्ण को क्या खिलाया जाय। विदुर के मन की बात ताड़ कर यह कहते हुए 'हम प्रेम-प्रीति के ग्राहक हैं' शाकभाजी खुशी-खुशी खाते हैं। उस समय का दृश्य देखने लायक है।[2] दुर्योधन के यहाँ पहले न जाकर विदुर का आतिथ्य स्वीकार करने के सम्बन्ध में कृष्ण अपनी सफाई दुर्योधन को इस प्रकार देते हैं :—

× × × ×

हम तोहि सत्य कहौं दुरजोधन, सुनि तू बात हमारी।
विदुर हमारो प्रान पियारौ, तू विषया अधिकारी।
जात-पाँति सबकी हौं जानौ, बाहिर छाक मंगाई।
ग्वालिन कें संग भोजन कीन्हौं, कुलकौं लाज लगाई।
जहँ अभिमान तहाँ मैं नाहीं, या भोजन विष लागै।
सत्यपुरुष सो दीन गहत है, अभिमानी कौं त्यागै।
जहं जहं भीर परै भक्तनि कौं, तहँ-तहँ उठिधाऊँ।
भक्तनि के हौं संग फिरत हौं भक्तनि हाथ बिकाऊँ।[3]

× × × ×

१—सूरसागर—प्रथम स्कंध—पृष्ठ ८७।
२—सूरसागर—प्रथम स्कंध—पृष्ठ ७७—७८।
१—सूरसागर—प्रथमस्कन्ध—पृष्ठ ७९।

कृष्ण के बाल-सखा सुदामा के चरित का चित्रण करते हुए सूरदास ने सख्य-भक्ति की चरम-परिणित का भव्य स्वरूप दर्साया है। दुर्बल-तन, मलिन परिधान पहने दीन-हीन सुदामा मित्र-भाव से जब कृष्ण के पास आते हैं तब कृष्ण मित्रता का जैसा व्यवहार करते हैं वैसा शायद ही अन्यत्र देखने को मिले। कृष्ण-सुदामा के मिलन का वर्णन सूरदास ने लगभग इक्कीस पद्यों में बड़ी ही भावुकता के साथ किया है। बड़े संकोच के साथ सुदामा का कृष्ण के यहाँ आना, सुदामा का नाम सुनते ही कृष्ण का सिंहासन से उतर कर अगवानी करना, सुदामा के चरण धोकर चन्दन, कुंकुम, केसर से आभूषित करना, सुदामा के लाए हुए चावल को छीनकर खाते हुए कृष्ण का प्रसन्न होना, बचपन की चर्चा चलाना, सुदामा की झोंपड़ी को महल के रूप में परिवर्तित करना आदि नाना भावों का वर्णन ऐसा हृदयहारी है कि पाठक का मन प्रेम से विभोर हुए बिना नहीं रहेगा। नमूने के लिए दो पद उद्धृत किए जाते हैं :–

दूरिहिं तें देख्यौ बलवीर।
अपने बाल सखा जु सुदामा मलिन बसन अरु छीन शरीर।
पौढ़े हे परजंक परम रुचि, रुकमिनि चौंर डुलावति तीर।
उठि अकुलाई अगमने लीन्हें, मिलत नैन भरि आये नीर।
निज आसन बैठारि स्याम घन पूछै कुशल कह्यौ मति धीर।
लाये हौ सो देहु किन हमकौं, कहा दुरावन लागे चीर।
दरस परस हम भये सभागे, रही न मन में एकहु पीर।
सूर सुमति तंदुल चाबत ही, कर पकरयौ कमला भई धीर।[1]

ऐसी प्रीति की बलि जाऊँ।
सिंहासन तजि चले मिलन कौं, सुनत सुदामा नाऊँ।
कर जोरे हरि विप्र जानि कै, हित करि चरन पखारे।
अंक माल दे मिले सुदामा, अर्धासन बैठारे।
अर्धाङ्गी पूछति मोहन सौं, कैसे हितू तुम्हारे।
तन अति छीन मलीन देखियत, पाऊँ कहाँ तें धारे।
संदीपन कैं हमरु सुदामा, पढ़े एक चटसार।
सूर स्याम की कौन चलावै, भक्तनि कृपा अपार।[2]

१—सूरसागर—दशमस्कन्ध—पृष्ठ १६८६।
२—वही ।

नंददास ने 'सुदामा चरित' नामक दोहा-चौपाई वाली अपनी कृति में सख्य-भक्ति की महिमा गायी है। किंतु सूर की रचनाओं के सामने नंददास की उक्त रचना फीकी ही कही जायगी।

सूरदास ने 'भ्रमरगीत' में उद्धव और कृष्ण के सख्य-प्रेम की बड़े मनोवैज्ञानिक-ढंग से अभिव्यक्ति की है। उद्धव कृष्ण के अंतरंग सखा हैं। ब्रज के अपने आत्मीयजनों के पास सन्देसा भेजने के लिए कृष्ण को उद्धव से बढ़कर योग्य व्यक्ति और दूसरा कौन मिल सकता है? लेकिन उद्धव को चुनने का उद्देश्य दूसरा ही है। उद्धव में इस बात का बड़ा घमण्ड रहता है कि मैं परम ज्ञानी हूँ। इसलिए कृष्ण चाहते हैं कि उद्धव के इस घमण्ड को दूर किया जाय और यह समझाया जाय कि भक्ति के बिना ज्ञान निरर्थक है। उद्धव को ऐकान्तिक प्रेम का रहस्य समझाने के लिए निष्काम प्रेम से पगी गोप-बालाओं से बढ़कर और कौन समर्थ है? उद्धव इस कार्य को पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ स्वीकार करते हैं और छः मास तक ब्रज में रहकर गोप-बालाओं को ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश भरसक देते हैं। लेकिन उनकी सारी विद्वत्ता, वाक्पटुता-कुशलता प्रेम-विह्वला भोली-भाली गोपिकाओं के सम्मुख व्यर्थ ही सिद्ध होती हैं। क्योंकि "ब्रज का एक मात्र धर्म है प्रेम। श्रुति, स्मृति, वेद, पुराण सब कुछ गोविंद में लीन है। बालक, वृद्ध, तरुण, अबलाएँ सब प्रेम की पगी हैं। जमुना के जल को तजकर सब लोग हरि की शरण में गए हैं।"[1] उद्धव कहते हैं कि दीन हो हार मान कर मैं लौट आया हूँ, अपना प्रण छोड़कर आया हूँ। नीच के पद्य में उद्धव द्वारा प्रकट किए गए भाव सख्य प्रेम के ज्वलंत उदाहरण हैं :—

माधौ जू मैं अति ही सचु पायौ।
अपनौ जानि संदेस व्याज करि, ब्रज जन मिलन पठायौ।
छमा करो तो करौं बीनती, उनहिं देखि जौ आयौ।
श्रीमुख ग्यान पंथ जौ उचरयौ, सो पै कछु न सुहायौ।
सकल निगम सिद्धान्त जन्म-क्रम, स्यामा सहज सुनायौ।
नहिं स्तुति, सेष महेस, प्रजापति, जो रस गोपिन गायौ।
कटुक कथा लागी मोहिं मेरी, वह रस सिंधु उम्हायौ।
उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषा जु बुझायौ।

१—सूरसागर—दशम स्कंध—पृष्ठ १६३८, ३६।

तुम्हरी अकथ कथा तुम जानौ, हम जन नाहिं बसायौ ।
सूर स्याम सुन्दर यह सुनिकैं, नैननि नीर बहायौ ॥४१५१॥

कृष्ण ने अपने सखाओं के प्रति अपने सख्य-प्रेम का निर्वाह किस तरह किया है इसका कन्नड के काव्यों में जगह-जगह उल्लेख मिलता है। लेकिन किसी भी कृति में सूर की भाँति इस भाव का विशद वर्णन नहीं पाया जाता। सोमनाथ के 'अक्रूर चरित्र' में कृष्ण और सुदामा के स्नेह का थोड़ा बहुत चित्रण हुआ है। जिस समय कृष्ण अक्रूर के साथ वृन्दावन से गोकुल के लिए यात्रा करते हैं उस समय सुदामा के यहाँ जाते हैं और उनका आतिथ्य स्वीकार करते हैं। कृष्ण के आगमन से सुदामा फूले नहीं समाते और बलराम और कृष्ण को नाना प्रकार के फूल और सुगंधित वस्तुओं से अलंकृत करके पूजते हैं। सुदामा के आदर-सत्कार से प्रसन्न होकर अपार सम्पत्ति ही नहीं अपितु अमरत्व भी प्रदान करते हैं और हृदय से लगाकर यह कहते हुए कि हमें नहीं भूलो और सदा सुखी रहो, वहाँ से प्रस्थान करते हैं।[२]

भक्त के द्वारा भगवान को चेतावनी

सूरदास जी प्रभु से पूछते हैं कि तुम्हें किसने "पतितपावन" नामक उपाधि दी है? मैं तो दीन, दुखित, दुर्बल हो तुम्हारे द्वार पर तुम्हारा नाम रटते हुए पड़ा हूँ। जब सुदामा ने चावल भेंट में दिया तब तुमने उन्हें चारों पदार्थ प्रदान किया। द्रुपदसुता को वसन देकर उबारा।.....लेकिन मेरे प्रति क्यों निठुर बन गए?"[३] "आज मैं फैसला करके ही यहाँ से टलूँगा। तुम एक तरफ हो, मैं दूसरी तरफ हूँ, अपने ही भरोसे पर लड़ूँगा। मैं तो सात पीढ़ियों से पापी हूँ, पतित होकर ही निस्तार पाऊँगा। अब मैं ऐसा नाचूँगा कि तुमको उपाधि-रहित कर दूँगा। तुम क्यों अपना विश्वास गँवाते हो? मैंने हरि रूपी हीरा पाया है। मैं तभी उठूँगा जब कि तुम हँस कर अपना प्रसाद प्रदान करोगे।[४]

श्रीपादराय की उक्ति में एक ओर उनकी निष्काम-भक्ति की झलक मिलती है तो दूसरी ओर भगवान के बड़प्पन की परीक्षा की जाती है—

१—सूरसागर—वसमस्कंध—पृष्ठ १६४२-४३ ।
२—अक्रूर चरिते—पृष्ठ ८३-८४ ।
३—सूरसागर—प्रथम स्कंध—पृष्ठ ४४ ।
४—सूरसागर—प्रथम स्कंध—पृष्ठ ४४ ।

"यदि तुम इतना भी नहीं दे सकोगे तो तुम्हारे पद-कमलों की विश्वास के साथ पूजा करने से क्या लाभ ? मैं तुमसे अन्न-वस्त्र नहीं माँग रहा हूँ, इतना ही माँग रहा हूँ कि हे वासुदेव, तुम अपने दासों का दास्य प्रदान करो। पत्नी, पुत्र, सौभाग्य आदि पाने की आशा से मैं तुम्हारे पास नहीं आया हूँ, मेरे चंचल मन को अपना कथामृत पिलाओ, इतना ही पर्याप्त है। मैं गरीब हूँ, मुझे विविध प्रकार के आभूषण दो, ऐसा कहने के लिए तुम्हारे सम्मुख उपस्थित नहीं हुआ हूँ। इतनी कृपा करो कि तुम्हारे चरणों में नत होने का सुख सदा प्राप्त हो।.....राज्य, सुख-भोग तुमसे माँगने नहीं आया हूँ, मुझे तुम्हारे द्वार का पहरा देने का सौभाग्य मिल जाय तो काफ़ी है।"[१]

पुरन्दरदास यह कहते हैं कि तुम करुणाकर हो, ऐसा मुझे विश्वास नहीं हो रहा है। तुमने बार-बार मुझे यह मानव जन्म देकर बार-बार मेरे मन को दुखी बनाया है। मैं तो सुनता हूँ कि तुमने हाथी, ध्रुव, बलि, पांचाली, अहल्या आदि का उद्धार किया है। अब विचार कर देखने पर ऐसा लगता है कि यह कहानी मनगढ़ंत ही है। यदि तुम करुणाकर हो तो मेरा हाथ पकड़ कर उद्धार करो। यदि तुम कमलनयन राजा हो तो मैं संकटों से क्यों पीड़ित होता हूँ ? तुमने अजामिल को उबारा है, गरुड़ध्वज नामक उपाधि पायी है। यदि तुम अपनी उपाधियों को बनाए रखना चाहते हो तो शीघ्र ही मेरी रक्षा करो।[२]

मधुर-भक्ति-भाव

प्रीति के जितने भी सम्बन्ध हैं उनमें स्त्री-पुरुष के प्रेम में विशेष आकर्षण है। स्त्री-पुरुष की इस परस्पर प्रीति को काव्य-शास्त्र में 'शृङ्गार-रस' का नाम दिया गया है और उसके स्थायी भाव को 'रति' बताया गया है। स्त्री-पुरुष के इसी सम्बन्ध को भक्तों ने लोक से हटाकर ईश्वर के साथ जोड़ कर भक्ति-पथ को प्रशस्त किया है और भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने ईश्वर-परक शृङ्गार को मधुर-रस की संज्ञा दी है। भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी-भाव आदि

१—हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ६—पृ० १६, २०।

२—वही भाग १—पृ० ७७।

शृङ्गार-रस के जितने अंग हैं वे सब मधुर-रस के भी अंग माने गए हैं। अन्तर इतना ही है कि मधुर-रस के अन्तर्गत आलम्बन लोक-नायक न होकर ईश्वर अथवा ईश्वर का कोई अवतार ही समझा गया है। और एक अन्तर यह है कि शृङ्गार-रस तथा शृङ्गार रसाभास—ये दोनों मधुररस के अन्तर्गत हैं। श्री चैतन्य-सम्प्रदाय के रूपगोस्वामी जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' में मधुर-रस की बड़े ही विस्तार के साथ व्याख्या की है। उनके अनुसार-ब्रज-कृष्ण तथा उनकी प्रियाएँ (भक्त) मधुर-रस के आलम्बन हैं तथा मुरली का स्वर, मित्र आदि उद्दीपन-विभाव हैं। रोमांच, स्वेद, अश्रु, स्वर-भंग आदि इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, हर्ष आदि जितने शृङ्गार-रस के व्यभिचारी-भाव हैं वे सभी मधुर-रस के भी व्यभिचारी-भाव हैं। शृङ्गार-रस की संयोग और वियोग की अवस्थाएँ भी मधुर-रस के अन्तर्गत स्वीकार की गई हैं। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो शृङ्गार-रस और मधुर-रस में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों प्रकार के रसों के परिपाक के लिए जिस चित्तवृत्ति की आवश्यकता है वह एक ही है। जो लौकिक-प्रेम है वही अलौकिक होकर ईश्वरीय-प्रेम कहलाता है। लौकिक प्रेम में इन्द्रिय-सुख सुस्पष्ट और प्रकट है किन्तु ईश्वरीय-प्रेम भावगम्य ही है। मनुष्य की मनोवृत्ति स्वभाव से ही अन्य प्राणियों की भाँति इन्द्रिय-सुख की ओर आकृष्ट रहती है। भक्तों ने इसी मनोवृत्ति को इन्द्रिय-सुख से हटा कर ईश्वर की ओर अग्रसर कराने का प्रयत्न किया है और यह माना है कि लौकिक वस्तु या व्यक्ति के संसर्ग से जो सुख इन्द्रियों को प्राप्त होता है उसका मूल स्रोत ईश्वर में ही विद्यमान है। यह एक प्रबल कारण है कि भक्ति-साधना में मधुर-भाव को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

हिन्दी और कन्नड के बहुतेरे कवियों ने मधुर-भाव का आश्रय लेकर भगवान की भक्ति की है। लेकिन भिन्न-भिन्न कोटि के भक्तों की वाणी में मधुर-भाव के भिन्न-भिन्न रूप प्रकट हुए हैं। निम्नलिखित भक्तों के साहित्य में मधुर-भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति हुई है :—

हिन्दी में

१—कबीर दादू आदि सन्त-कवि

२—जायसी आदि सूफ़ी-कवि

३—सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवि

४—फुटकर कवि :—मीराबाई, रसखानि, हितहरिवंश (राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय), हरिदास (हरिदासी सम्प्रदाय) इत्यादि।

कन्नड में

१—शिवशरण (वीरशैव भक्त-कवि)

२—हरिदास (माध्वमतावलम्बी भक्त-कवि)

हिन्दी के सन्तों के उपास्य देव राम हैं जो निर्गुण निराकार परब्रह्म हैं। कन्नड के शिवशरणों के आराध्य शिव भी निर्गुण, निराकार हैं। इन दोनों की भावाभिव्यंजना फुटकल पदों में हुई है। कर्नाटक के शिवशरणों के पद 'वचन' कहलाते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के एक शिव-भक्त 'सर्वज्ञ' ने अपने वचनों के लिए 'त्रिपादि' नामक एक छोटे छंद का प्रयोग किया है। बसव के परवर्ती कतिपय वीरशैव-भक्त-कवियों ने वचनों के अतिरिक्त बहुत-से आख्यानक काव्य विभिन्न छन्दों में लिखे हैं जिनमें विशेष रूप से वीर-शैव भक्तों की जीवनियाँ अंकित हैं। किन्तु इन आख्यानक काव्यों में मधुर-भक्ति की व्यंजना नहीं हुई है। कबीर की वाणी पद, साखी, रमैनी इत्यादि भागों में विभक्त है जिसमें अधिकांश 'दोहा' छन्द में लिखी गई हैं। साखी के अन्तर्गत पाए जाने वाले पद, 'गुरुदेव को अंग', 'सुमिरण को अंग', [illegible] को अंग', 'साँच कौ अंग' आदि शीर्षकों में विभक्त है। 'पद' और 'रमैणी' के छन्द राग रामकली, राग गौड़ी, राग असावरी इत्यादि अनेक राग-रागिनियों के आधार पर लिखे गए है जो गाए भी जाते हैं। नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास जैसे सभी परवर्ती सन्तों ने कबीर का ही अनुकरण किया है। कुतबन, जायसी, मंझन आदि सूफ़ी भक्त-कवियों का अधिकांश साहित्य दोहा-चौपाई वाली शैली में रचा गया है जिसमें ऐतिहासिक प्रेम-गाथाएँ गायी गयीं हैं। ये प्रेम-गाथाएँ प्रबन्ध-काव्य की कोटि में आती हैं। सूफ़ियों के प्रेमाख्यानक काव्यों में भारतीय ऐतिहासिक कहानियों का निरूपण हुआ है। किन्तु इनमें सूफ़ी-मत के प्रेम-सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। सूफ़ियों के काव्यों में विशेष रूप से अवधी भाषा का ही प्रयोग हुआ है। कन्नड में न सूफ़ी काव्य-शैली से साम्य रखनेवाला साहित्य पाया जाता है न उसमें सूफ़ी प्रेम-सम्बन्धी विचार-धारा का निरूपण ही हुआ है।

हिन्दी और कन्नड के वैष्णव कवियों द्वारा रचा गया मधुर भक्ति-भावात्मक साहित्य विशेष रूप से विभिन्न प्रकार के गेय पदों में पाया जाता है जिनमें नाना प्रकार की राग-रागिनियाँ प्रयुक्त हुई हैं। कर्नाटक के हरिदासों की भक्ति-पद्धति में सेव्य-सेवक भाव ही प्रधान था, अतः उनके साहित्य में मधुर-भाव की व्यंजना का विशेष विस्तार नहीं हो पाया है। उनके मधुर-

भाव के थोड़े बहुत पद अवश्य मिलते हैं, किन्तु उनमें उनके उपास्य-देव कृष्ण के प्रति माहात्म्य-भाव ही अधिक प्रकट हुए हैं। इसके विपरीत, हिन्दी के उपर्युक्त कवियों के साहित्य में मधुर-भाव का अत्यधिक विकास हुआ है। इन कवियों द्वारा अभिव्यक्त मधुर-भाव प्रेम-भक्ति कहलाता है जिसके कुछ प्रमुख रूप इस प्रकार हैं :—

१—सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के कवियों के साहित्य में वर्णित मधुर-भाव रागानुगा भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। कृष्ण के प्रति ब्रज की राधा तथा गोपियों के हृदय में उत्पन्न अनन्य प्रेम की संयोगात्मक तथा वियोगात्मक दशाओं के मार्मिक चित्र इस साहित्य में खींचे गए हैं। इस प्रेम-पद्धति में राधा स्वकीया के रूप में चित्रित की गई है। लीला-निकेत कृष्ण के गुणगान में अष्टछाप के कवियों की भावमग्नता के अनगिनत दृश्य प्राप्त होते हैं।

२—मीराबाई के पदों में गिरिधर-नागर के प्रति कांता-भाव की अभिव्यक्ति हुई है जिसमें विरह-व्याकुलता तथा आत्मसमर्पण का मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है।

३—गोस्वामी हितहरिवंश जी तथा अन्य राधा-वल्लभीय भक्तों के पदों में राधा-कृष्ण की कुंज-केलि तथा बन-विहार का शृङ्गारिक वर्णन है जिसमें वियोग का सर्वथा अभाव है। राधा और कृष्ण दोनों की युगल-उपासना का उपदेश देते हुए राधाकृष्ण के प्रेम तथा आनन्द लीला के ध्यान और मनन में तथा युगल की पूजा में परमानन्द-प्राप्ति का उपदेश दिया गया है। कृष्ण से राधा की पूजा तथा भक्ति को इस सम्प्रदाय में अधिक महत्त्व दिया गया है। इस प्रेम में विधि-निषेध के लिए कोई स्थान नहीं हैं।

४—स्वामी हरिदास तथा अन्य हरिदासी सम्प्रदाय के भक्तों ने राधा-कृष्ण की युगल-उपासना केवल सखी-भाव से करने की परिपाटी चलायी है। राधा-कृष्ण के आनन्द-विहार का अवलोकन सखी-भाव से करना और युगल-केलि-रस को लूटना ही इन भक्तों का लक्ष्य है।

५—रसखान के वे पद, जिनमें सहज आत्म-समर्पण, अखण्ड विश्वास और अनन्य निष्ठा के प्रेम-भाव व्यक्त किए गए हैं, अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार हिन्दी में प्रेम-भक्ति-भाव पर अनुठा साहित्य रचा गया है। यह साहित्य वाग्विदग्धता, सरसता तथा रोचकता में बेजोड़ है। यह सारा साहित्य प्रधानतया ब्रजभाषा में पाया जाता है।

निर्गुणोपासक भक्त-कवियों के मधुर-भाव का स्वरूप

ज्ञान-मार्ग के अनुसार निर्गुण-निराकार पर-ब्रह्म शुष्क चिंतन का ही विषय है, लेकिन कबीर तथा अन्य सन्तों ने अपने चिन्तन में प्रेम-भक्ति का समावेश करके उसकी शुष्कता को दूर किया। कबीर ने अपनी प्रेम-भक्ति-पूर्ण चिंतन-पद्धति के निरूपण में एक ओर भारतीय ज्ञानियों की जिज्ञासा तथा वैष्णवों की सगुण भक्ति की विशेष बातों को ग्रहण किया और दूसरी ओर सूफ़ियों के साधनात्मक रहस्यवाद को अपनाया। साथ ही साथ, उन्होंने हठ-योगियों के साधनात्मक रहस्यवाद को स्वीकार किया। इस प्रकार कबीर का प्रेम-भक्ति-मार्ग नाना प्रकार की विचार-धाराओं से प्रभावित होकर निश्चित हुआ।

कबीर प्रधानतया एक धर्म-साधक थे और प्रेम-भक्ति ही उनका साधना-मार्ग था। इस प्रेम-भक्ति का अन्तिम लक्ष्य आत्मा का परमात्मा से मिलाप होना ही है। बिना प्रेम के आत्मा परमात्मा से न तो मिलने पाती है न मिलने की इच्छा ही उसमें पैदा होती है। उपासना से तो श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है, लेकिन उस भाव में आराध्य के प्रति भय और आदर होता है। किंतु भक्ति या प्रेम से हृदय में केवल सम्मिलन की उत्कण्ठा जगती है। सूफ़ियों की साधना में इस प्रेम का बड़ा महत्त्व है। सूफ़ी साधक इस प्रेम-साधना में परमात्मा को प्रियतमा मानकर स्वयं प्रियतम का स्थान ग्रहण करते हैं। लेकिन कबीर ने अपनी प्रेम-भक्ति में भारतीय-पद्धति के अनुकूल परमात्मा को प्रियतम और अपने को प्रियतमा माना है। सूफ़ियों का यह विश्वास है कि आत्मा और परमात्मा के बीच में पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित किए बिना प्रेम की पूर्णता नहीं होती। पति-पत्नी के बीच में एक अलौकिक आकर्षण रहता है और एक दूसरे से मिलने की सदा उत्कण्ठा रहती है। प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए हृदय के स्पष्ट भावों की व्यंजना आवश्यक है और इस अभिव्यक्ति से एक प्राण में दूसरे प्राण के घुल जाने की प्रबल इच्छा जाग्रत होती है। एक भावना के दूसरी भावना में निहित हुए बिना प्रेम में मादकता नहीं आती। इस मादकता की चरम अवस्था में दोनों के स्थायीमिलन की कामना सफल होती है। इस प्रेम का संयोग ही आध्यात्मिक-विवाह कहलाता है। महात्मा कबीर तथा अन्य सन्तों ने अपने आत्मसाक्षात्कार के लिए इसी पति-पत्नी के प्रेम-सम्बन्ध को अपनाया है। उनकी वाणियों में इस आध्यात्म-प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के अनगिनत सजीव चित्र पाए जाते हैं।

जिस प्रकार लौकिक प्रेम के संयोग और वियोग नामक दो पक्ष हैं उसी प्रकार आध्यात्मप्रेम के भी दो पक्ष होते हैं। संयोग की अवस्था में एक प्रकार का उन्माद होता है। इस प्रेम में चंचलता अथवा अस्थिरता नहीं रहती। परमात्मा के साथ ऐसे मधुर-प्रेम का अनुभव होता है कि जीवन की सारी इन्द्रियों का एकीकरण हो जाता है और उसे अलौकिक शांति मिलती है। कबीर अपने प्रियतम राम के साथ आध्यात्मिक विवाह की कल्पना करके अपने भरतार के घर आने की प्रसन्नता इस प्रकार प्रकट करते हैं :—

दुलहनी गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ॥टेक॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत्त बाराती।
रामदेव मोरै पांहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती।
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संग भांवरि लैहूँ, धंनि धंनि भाग हमार॥
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हंम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी॥१॥[1]

जीव की परमतत्त्व में, ससीम की असीम में आत्मसात् होने की जो ललक और लालसा है उसकी रागात्मक स्थिति का सरस चित्र देखते ही बनता है।

नैनन की करि कोठरी, पुतरी-पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै, पिया को लिया रिझाय॥[2]

प्रियतम की रूप-माधुरी देख कर पिया अपनी सारी सुधबुध खो बैठती है और उसी के रूप में एकाकार हो जाती है। कबीर अपने प्रियतम के रूप में मिलकर एक होने की सुन्दर कल्पना इस प्रकार करते हैं :—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी होगई लाल॥४८॥[3]

कबीर के प्रेम की यह विशेषता है कि प्रियतम को छोड़कर उनके हृदय में दूसरे किसी व्यक्ति के लिए स्थान नहीं है। वह एकांतिक प्रेम है :—

१—कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ ८७।
२—वही पृष्ठ १०४।
३—वही पृष्ठ ९८।

पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खडग देखा सुना न कान ॥११४॥[1]

वह आत्मार्पण का एक नमूना भी है—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाइ ॥१०३॥
प्रेम पियाला जो पियै सीस दच्छिना देय ॥[2]

प्रेम की दूसरी एक विशेषता है कि प्रेमी जनों में परस्पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। कबीर का यह दृढ़ विश्वास है कि उनके प्रियतम दूर नहीं हैं, वे तो उनके तन में, मन में और नयनों में समाए हुए हैं। चिट्ठी-पत्री तो उनको लिखी जाती है जो कहीं विदेश गए हों।

प्रीतम को पतियां लिखूं जो कहूँ होय विदेश।
तन में मन में नैन में ताको कहाँ संदेश ॥[3]

यह हुआ कबीर के प्रेम की संयोगावस्था का वर्णन।

कबीर की कविता-शक्ति तथा प्रतिभा का पूर्ण रूप से परिचय पाना हो तो प्रेम की वियोगावस्था अथवा विरह-दशा-द्योतक उनके पदों का अवलोकन करना होगा। इन पदों में उनकी मस्ती, तन्मयता तथा विह्वलता के अपूर्व दृश्य देखने को मिलते हैं जो अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में दुर्लभ ही हैं।

कबीर की विरहिणी आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा को सौ-सौ बार, सौ-सौ प्रकार से याद करती है, विरह में तड़पती है, अपनी करुणा-जनक अवस्था पर विचार करती है और सौ-सौ अकांक्षाओं का भार लेकर, याचना की तीव्र भावना से बोल उठती है :—

नैना नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरू मिलहुगे राम ॥२४॥[4]

उसकी दशा अत्यन्त करुणाजनक है :—

अंषडियां झांईं पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभडियां छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि ॥२२॥[5]

१—कबीर बचनावली पृष्ठ १०३।
२—वही ३—वही
४—वही पृष्ठ ६। ५—वही

उसकी इच्छा होती है—

यह तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउं।
लेखणि करूं करंक की, लिखि लिखि राम पठाऊं ॥१२॥[1]

वह अभिलाषा करती है कि यदि एक बार वह प्रियतम मिल जाय तो उसे नैनों में इस प्रकार बंद कर लूँ कि न वह और किसी को देख सके और न प्रियतम को ही और किसी के देखने का मौका मिले—

नैनां अंतरि आव तू ज्यूँ हौं नैन झंपेउं।
नां हौं देखौं और कूँ ना तुझ देखन देउं ॥२॥[2]

बड़ी दीनता के साथ वह अपने प्रियतम से प्रार्थना करती है :—

ता मै थें मन लागौ राम तोही,
करौ कृपा जिनि बिसरौ मोही ॥
जननी जठर सह्या दुख भारी,
सो संक्या नहीं गई हमारी ॥
दिन दिन तन छीजै, जरा जनावै,
केस गहें काल बिरदंग बजावै ॥
कहै कबीर करूणांमय आगें,
तुम्हारी क्रिया बिना यहु बिपति न भागै ॥२३२॥[3]

और भी—

कब देखूं मेरे राम सनेही, जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥
हूँ तेरा पथ निहारूँ स्वांमीं, कबर मिलहुगे अंतरजामीं।
जैसें जल बिना मीन तलपै, ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै ॥
निसि दिन हरि बिन नींद न आवै, दरस पियासी रांम क्यूं सचु पावै।
कहै कबीर अब बिलंब न कीजै, अपनौं जांनि मोहि दरसन दीजै ॥२२४[4]

वस्तुतः साहित्य-सौष्ठव की दृष्टि से कबीर की वाणियों में वह अंश सर्वोत्तम है जिसमें मधुर-भाव की व्यंजना हुई है।

कबीर का अनुकरण करते हुए उनके परवर्ती संतों ने भी मधुर भाव द्वारा भक्ति-साधना चलायी है।

१—कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ ८।
२—वही पृष्ठ १९।
३—वही पृष्ठ १६३, १६४।
४—वही

दादू की आत्मा विरहिणी बनकर अपने प्रियतम राम की प्रतीक्षा में विह्वल है :—

अजहुँ न निकसैं प्राण कठोर।
दर्सन बिन बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारयौं जुग बीते, रैन गंवाई भोर।
अवधि गई अजहूँ नहिं आये, कतहूँ रहे चितचोर।
कबहूँ नैन निरखि नहीं देखे, मारग चितवत तोर।
दादू ऐसैं आतुरविरहणि, जैसैं चन्द्र चकोर॥[1]

गरीबदास जी अपने प्रियतम का दर्शन पाकर फूले नहीं समाते—

जब ही तुम दरसन पायो।
सकल बोल भयो सिद्ध, आजु भलो दिन आयो।
तन मन धन नवछावरि अरपण, दरस न परसन प्रेम बढ़ायो।
सब दुख गए हुते जे जिय में, प्रीतम पेखन भायो।
गरीबदास सोभा कहा बरणौं, आनन्द अङ्ग न भायो॥७॥[2]

रज्जब की विरहिणी आत्मा प्रियतम की अनुपस्थिति में किस तरह बेहाल है, देखिए :—

राम बिन सावण सह्यो न जाइ।
कालीघटा काल होइ आई; कामनि दग्धै माइ॥
कनक-अबास वास सब फीकै, बिन पिय के परसंग।
महाबिपत बेहाल लाल बिन, लागै बिरह-भुअंग॥
सूनी सेज बिथा कहूँ कासूं, अबला धरै न धीर।
दादुर मोर पपीहा बोलैं, ते मारत तन तीर॥
सकल सिंगार भार ज्यूँ लागे, मन भावै कछु नाहीं।
रज्जब रंग कौनसूं कीजै, जे पीव नाहीं माहीं॥१४॥[3]

स्वामी सुन्दरदास के भावुक हृदय में भी वैसी ही विरह-वेदना पैदा हुई है जैसी अन्य संतों की वाणियों में पाई जाती है। सुगठित तथा सरस भाषा में उनकी भावुकता का स्वाभाविक वर्णन पढ़ते ही बनता है—

१—संत सुधा सार—भाग १, पृ० ४२६।
२—वही पृ० ५०७।
३—वही पृ० ५१६।

मेरौ पिय परदेश लुभानौ री ।
जानत हौं अजहूँ नहिं आयौ, काहू सौं उरझानौ री ।
तादिन तें मोहि कल न परत है, जबतें कियौ पयानौ री ।
भूख पियास नींद नहिं आवै, चितवन होत बिहानौ री ।
बिरह-अग्नि मोहि अधिक जरावै, नैननि में पहिचानौ री ।
बिन देखें हौं प्रान तजौंगी, यह तुम सांची मानौ री ।
बहुत दिनन की पंथ निहारत किनहुँ संदेश न आनौरी ।
अब मोहि रह्यो परत नहिं सजनी, तन तें हंस उड़ानौरी ।
भई उदास फिरत हौं व्याकुल, छूटौ ठौर ठिकानौरी ।
सुन्दर विरहनि कौ दुख दीरघ, जो जानै सो जानौरी ।[1]

संत दरिया साहब की विरहिणी आत्मा का तन पीला हो गया है, मन सूख गया है । उसे रात को न नींद आती है न दिन में भूख लगती है । प्रिय की खोज में वह जंगलों-पहाड़ों में घूम रही है । रात बीत गई है तो भी प्रियतम नहीं आये । वह अपने ही दर्द से चिपट कर सो गई है । विरहिणी अपने ही घर में पड़ी है, उसके शरीर में न माँस है न रक्त ही । वह अपने प्रियतम के कारण सिसक-सिसक कर साँस ले रहा है ।[2]

हिन्दी के संत-साहित्य का अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी भक्ति-साधना में मधुर-भाव का योग महत्त्वपूर्ण है । इसी मधुर-भाव के कारण उसमें अपूर्व शक्ति का संचार हुआ है । संतों की इस प्रेम पद्धति की एक विशेषता यह है कि वैष्णव भक्तों की तरह उसमें परकीया नायिका का समावेश नहीं हुआ है और सर्वत्र स्वकीया-नायिका का ही साम्राज्य है । वह अपने प्रियतम के प्रति एकान्त निष्ठा रखती है और एक लक्ष्य करने की बात यह है कि इस मधुर-भाव की अभिव्यक्ति में कहीं भी वासना की बू नहीं आने पायी है । संत कबीर के साहित्य में सांसारिक दाम्पत्य-भाव का सहारा ले कर अनेक सुन्दर रूपकों द्वारा माधुर्य-भाव का बड़ा ही गहरा तथा प्रभावशाली चित्र उपस्थित किया गया है । रंगरेज, धोबी, बटोहिया, नैहर, ससुराल आदि रूपक आध्यात्मिक-साधना के सहायक सिद्ध हुए हैं, बाधक नहीं ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सूफ़ियों के प्रेमाख्यानक काव्यों में मधुर-भक्ति की साधना के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया है वह

१—संत सुधा सार—भाग १, पृ० ६६०, ६१ ।
२—वही पृ० १०५, १०६ ।

निर्गुणिया संतों के प्रेम-मार्ग से बिलकुल ही भिन्न है। हिन्दी की इस प्रेमाख्यानक काव्य-शैली से साम्य रखने वाला कोई काव्य कन्नड में नहीं पाया जाता। कन्नड पर सूफियों का प्रभाव किसी समय पड़ा है ऐसा कहने के लिए कोई प्रमाण भी नहीं मिलता। अतः प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रतिपादित प्रेम-पद्धति पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। लेकिन कन्नड के निर्गुणोपासक शिवशरणों के साहित्य में मधुर-भाव की थोड़ी-बहुत व्यंजना अवश्य हुई है जिसका साम्य हिन्दी के संतों की माधुर्य-भावना के साथ किया जा सकता है। पर इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी के सन्तों में मधुर-भाव की ओर जैसा प्रबल आकर्षण था वैसा आकर्षण शिवशरणों में दिखाई नहीं देता। बसव, अल्लम प्रभु, चेन्नबसव, सिद्धराम, अक्कमहादेवी, सत्यक्क, रेम्मव्वे, चिकूण्ण, उरिलिंगदेव, गणेश मसणय्या, हाविन हाळ कल्लय्या इत्यादि शिवशरणों के वचनों में मधुर-भाव का वर्णन हुआ है। किन्तु प्रेमयोगिनी अक्कमहादेवी ने माधुर्य-भाव की अभिव्यक्ति में जैसी तन्मयता दिखाई है वैसी अन्य शिवशरणों में नहीं दिखायी है। शिवशरणों ने अपने उपास्यदेव परशिव को जो निर्गुण, निरंजन, निराकार, भावातीत, शून्याशून्य है, अपना प्रियतम मान कर दाम्पत्य-भाव प्रकट किया है। हिन्दी के संतों की तरह शिवशरणों ने भी परकीया नायिका-तत्व को स्वीकार नहीं किया है।

शिवशरणों के माधुर्य-भाव में संयोग पक्ष की उपेक्षा वियोग-पक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

अक्कमहादेवी का सारा जीवन माधुर्य-भाव से ओत-प्रोत था। बचपन से ही उन्होंने परशिव को ही अपना प्रियतम मान लिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी मान लिया था कि उनके आत्मीय लोगों ने उनका विवाह 'चेन्नमल्लिकार्जुन' के साथ कर दिया है। वे कहती हैं—

> "नील मणि का चबूतरा बना कर, सोने का तोरण, हीरे का स्तम्भ, मूंगे का चप्पर लगा कर, मेरे हाथ में कंकण बाँध कर मेरे आत्मीय जनों ने मेरा विवाह चेन्नमल्लिकार्जुन के साथ कर दिया है।"[१]

चेन्न बसव अपने को सौभाग्यवती मानते हैं, क्योंकि उनका विवाह शुद्ध शिवाचाररूपी घर में 'कूडलचेन्नसंगम' के साथ हो गया था जिसमें वसुधा के

१—वचन शास्त्र सार—भाग, १ पृ० ६६।

सभी भक्त बराती बने थे, वे स्वयं वधू थे और 'संगम्मा' वर थे।[१] भक्तवर बसव भी अपने को सुहागिन मानते हैं। वे कहते हैं कि "कूडल संगमदेव" नामक मेरे एक पति हैं, मैं सुहागिन हूँ, मैं एक निष्ठावान पत्नी हूँ।"[२]

कहा जाता है कि अक्कमहादेवी अनुपम रूपवती थीं इसलिए उनके घर वालों को यह चिन्ता लगी थी कि महादेवी के अनुरूप पति कहाँ मिल सकेगा। अक्क महादेवी ने अपने लोगों को इस प्रकार समझाया था—

> "हे माई, मेरे प्रियतम रूप-रहित रूपवान हैं, मृत्युरहित और संकट-रहित हैं। सुनोरी मैया, मैंने उनको वर लिया है जो अवकाश-रहित, व्यवधान-रहित और चिन्ह-रहित हैं। मैंने ऐसे निर्भय प्रियतम को अपनाया है जो भव-रहित, भय-रहित, कुल-रहित, सीमा-रहित, निस्सीम सुन्दर हैं। इसलिए 'चेन्नमल्लिकार्जुन' मेरे पति हैं। इन मरने वाले पतियों को भाड़ में झोंक दो।"[३]

अक्कमहादेवी के वचनों में उनकी वियोगावस्था के बहुत से सरस तथा मार्मिक चित्र मिलते हैं। वे अपने प्रियतम 'चेन्नमल्लिकार्जुन' को लक्ष्य करके कहती हैं—

> "हे चेन्नमल्लिकार्जुन, तुम्हारे विरह में दिन में चार पहर और रात को चार पहर मैं विकल होकर पड़ी-पड़ी तड़प रही हूँ, तुम्हारी स्मृति में दिन रात सुध-बुध खो कर पड़ी हूँ। भूख, प्यास, नींद मेरे पास नहीं फटकतीं।"[४]

और किसी समय अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में साज-सिंगार करके बैठी हुए कहती हैं—

> "हे प्रियतम आओ, मैं हल्दी लगा कर स्नान कर चुकी हूँ, सुनहली साड़ी पहन चुकी हूँ, आ जाओ, तुम्हारी राह देख-देख कर थक गई हूँ।"

और फिर कहती हैं—

> "एक बार काम के पैरों पर पड़ती हूँ, एक बार चन्द्रमा से आँचल पसार कर याचना करती हूँ। हाय रे कैसी है यह विरह वेदना!

१—वचन शास्त्र सार—भाग १, पृ० ६६।
२—वही
३—वही पृ० १००।
२—वही पृष्ठ २६१।

किसके लिए अधीर बनूं ? मेरे प्रियतम चेन्नमल्लिकार्जुन मुझ से मुँह मोड़ गए हैं, इसीलिए तो मुझे इन सबकी कृपा पर अवलम्बित होना पड़ा है।"[१]

हाविन हाळ कल्लय्या नामक शिव-भक्त अपने प्रियतम परमात्मा की छवि को सर्वत्र देखा करते हैं। उनकी उक्ति में कैसी स्वाभाविकता है:—

"प्यारे, सभी दिशाओं में तुम्हीं को देखती हूँ, जब सोकर जागती हूँ तब तुम्हें देखती हूँ, दिन-रात तुम्हारा ही ध्यान करती हूँ।"[२]

उरिलिंग देव नामक शिवशरण की सूझ अनूठी ही है—जो पत्नी अपने पति पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करती है उसके मन में ऐसा कुछ उल्लास उत्पन्न होता है कि उसके चलने फिरने, उठने-बैठने तक में वह अपने अलग अस्तित्व का अनुभव नहीं करती। इस अवस्था से उसे विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। उनके वचन का भावार्थ यों है—

"तुम मेरे प्रियतम हो इस बात के सिवा मैं और कुछ नहीं जानती। जब तुम मुझसे बुलवाते हो तभी मैं बोलती हूँ, जब तुम मुझसे चलने के लिए कहते हो तभी मैं चलती हूँ, यदि तुम सामने न हो तो मैं चेष्टाहीन बन जाती हूँ। सुनो प्राणेश्वर, तुम ही मेरी मति हो, तुम ही मेरी गति हो, तुम्हारी कसम है।"[३]

चेन्नबसव की आत्मा को परमात्मा के मिलन से होने वाले सुख की मधुर स्मृतियाँ बार बार आकर सताती हैं। उसकी बेचैनी का वर्णन उन्हीं के शब्दों में सुनना चाहिए—

"हे प्रभो, मैं अपने को सान्त्वना दिला नहीं पाती ! हाय प्रभो, तुम्हारे मिलन की मधुरस्मृतियाँ बार बार आकर सता रही हैं, इस ज्वाला में जली जा रही हूँ ! कुछ कहा नहीं जा सकता कि मेरी क्या दशा हो रही है ! तुमने ऐसी आग लगा दी है जो बुझाने पर भी नहीं बुझती। तुम तो मुझ से मुँह मोड़ कर चले गए हो।"[४]

१—वचनशास्त्र सार—भाग १, पृष्ठ २६१।
२—वही पृष्ठ २६२।
३—वही
४—वही पृष्ठ २६२।

इस वचन का यह भी अर्थ लगाया जा सकता कि आत्मा को परमात्मा से पिछले मिलन की स्मृतियाँ अब आकर सता रही हैं।

कन्नड के शिवशरणों की एक विशेषता यह है कि वे अपने हृदय के भावों को ऐसे सरल और सहज ढङ्ग से व्यक्त करते हैं कि पाठक के मन पर स्थाई असर पड़े बिना नहीं रहता है। जिस तरह उनकी अभिव्यक्ति की शैली सरल है उसी तरह उनकी भाषा भी बड़ी ही सरल और सरस है।

उपर्युक्त कतिपय उद्धरणों द्वारा हिन्दी के सन्तों तथा कन्नड के शिवशरणों की साधना-पद्धतियों में माधुर्य-भाव का जो रूप प्रकट हुआ है उसका थोड़ा बहुत परिचय मिलता है। शिवशरण मूलतः दास्य-भाव से ही भगवान की भक्ति करने वाले साधक थे, अतः उनकी वाणियों में मधुर-भाव का विशेष विकास नहीं हुआ। किन्तु इस भाव को व्यक्त करने वाले जितने वचन पाए जाते हैं उनमें शिवशरणों की भावुकता एवं अनन्य भक्ति की एक झाँकी मिल जाती है।

सगुणोपासक भक्तों के काव्यों में मधुर भाव का स्वरूप :

ऊपर यह निर्देश किया गया है कि हिन्दी और कन्नड के सगुणोपासक भक्त-कवियों की किस-किस श्रेणी की रचनाओं में माधुर्य-भाव का प्रकाशन हुआ है। इस भाव को व्यक्त करने वाला कन्नड का साहित्य, न केवल परिमाण की दृष्टि से बल्कि विषय की विविधता तथा उक्ति-वैचित्र्य की दृष्टि से भी, हिन्दी-साहित्य के समकक्ष नहीं माना जा सकता। हरिदासों के साहित्य में मुश्किल से ही पचास-साठ पद ऐसे मिल सकेंगे जिनमें माधुर्य-भाव की थोड़ी बहुत व्यंजना हुई हो। इन पदों में गोपियों द्वारा कृष्ण के प्रति जो कुछ शृंगारिक मधुर-भावना व्यक्त की गई है उसमें भी कृष्ण के माहात्म्य और अलौकिक गुणों का विस्तार हुआ है। इसमें कृष्ण स्वयं प्रेमी या प्रियतम के रूप में कहीं नहीं दिखाए गए हैं। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि हरिदासों के साहित्य में प्रेम की साकार मूर्ति राधा के चरित्र का चित्रण नहीं हुआ है यद्यपि राधा नामक एक गोपी का उल्लेख मिलता है। इन्हीं सब कारणों से हरिदासों की रचनाओं में मधुर-भाव की पुष्टि विशेष रूप से नहीं हुई है।

इसके विपरीत, हिन्दी के कृष्णोपासक भक्तों का साहित्य परिमाण में ही नहीं किन्तु साहित्य-सौष्ठव तथा अनुभूतियों की गहराई की दृष्टि से भी महान ही कहा जायगा। अकेले भक्त-शिरोमणि सूरदास के ही साहित्य में माधुर्य-भाव का सागर उमड़ पड़ा है। उनके ईश्वरोन्मुख शृंगारिक वर्णन में इन सभी

भावों का सूक्ष्म और हृदयहारी चित्रण हुआ है जिनका माधुर्य-भाव के अंतर्गत होना सम्भव है। अष्टछाप के अन्य कवियों की कृतियों में भी इसी भाव का प्राबल्य है। इन सभी भक्तों ने प्रेम की लौकिक अनुभूतियों की अभ्यस्त मानसिक वृत्तियों को लोक की सीमा से हटा कर ईश्वर की ओर मोड़ने का जो असाधारण कौशल साहित्य के माध्यम से दिखाया है वह अन्यत्र शायद ही मिल सके।

अब हिन्दी के इन कृष्णोपासक भक्तों की कृतियों में वर्णित माधुर्य-भाव का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा। सूरदास के साहित्य में मधुर-भावों के प्रकाशन के लिए अनेक प्रसङ्गों का सरस वर्णन हुआ है जिनमें निम्नलिखित प्रसङ्ग प्रधान कहे जाएंगे—गोपियों का पूर्वराग, कृष्ण की रूप-माधुरी, राधा-कृष्ण-मिलन, गोवर्धन-धारण, मुरलीवादन, रास-नृत्य, जलक्रीड़ा, झूलन, वसन्तलीला, पनघटलीला, दानलीला, निकुंजलीला, राधा का मान, चीरहरण-लीला, गोपी-विरह, भ्रमर-गीत, राधा-कृष्ण की युगल-लीला।

सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रथम-मिलन पर बहुत से पद गाए हैं और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उन दोनों में किस प्रकार अनुराग उत्पन्न होता है और वह धीरे-धीरे प्रेम में किस तरह परिवर्तित होता है। प्रथम मिलन पर दोनों के मन में स्नेह उत्पन्न होता है जिसे दोनों समझ लेते हैं :—

प्रथम सनेह दुहंनि मन जान्यौ।
नैन-नैन कीन्ही सब बातें, गुह्य प्रीति प्रगटान्यौ।[1]

इस मिलन का परिणाम यह होता है कि जब दोनों अपने-अपने घर जाते ाब दोनों में विरह का भाव जागता है।

राधा के मन में उत्पन्न भावों का वर्णन सूरदास ने इस प्रकार किया है:—

नागरि मन गई अरुझाई।
अति विरह तनु भई व्याकुल, घर न नैंकु सुहाई॥
स्याम सुन्दर मदन मोहन, मोहिनी सी लाई।
चित्त चंचल कुंवरि राधा, खान पान भुलाई॥
कबहुँ विहंसति कबहुँ बिलपति, सकुचि रहति लजाई।
मातु पिता को त्रास मानति, तन बिना भइ बाई॥

१—सूरसागर, दशम स्कंध—पृष्ठ ४६७।

जननि सौं दोहनी मांगति, वेगि दैरी माइ ।
प्रभु सूर कौं खरिक मिलिहौं, गए मोहिं बुलाइ ॥६७६॥[1]

कोई एक गोप-बाला पन-घट पर कृष्ण को देखकर मोहित होगई थी और घर लौट कर वह कृष्ण की याद करती है। परमानन्द दास जी उस गोपिका के हृदय में उठने वाले भावों की कल्पना इस प्रकार करते हैं :—

सांवरो बदन देखि लुभानी,
चले जात फिरि चितयो मोतन तब मैं सङ्ग लगानी ।
वे उहि घाट चरावत गैयाँ हों इतते गई पानी,
कमल नैन उपरेनो फेरयो परमानन्दहि जानी ॥[2]

अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की मोहिनी मुरली पर सैकड़ों पद बनाए हैं जिनमें गोपियों के शृङ्गारिक भावों के रंगीले चित्र प्रस्तुत हुए हैं। जैसे ही मुरली की मधुर-मधुर ध्वनि सुनाई देती है वैसे ही गोप-बालाएँ सुबुधध खो बैठती हैं, साज-शृङ्गार करना तक भूल जाती हैं, कपड़े और गहने उलटे पहन लेती हैं। उनकी बेबसी देखते ही बनती है—

करत शृङ्गार जुवती भुलाही ।
अङ्ग-सुधि नही, उलटे बसन धराहीं,
एक एकहिं कछू सुरति नाहीं ।
नैन अंजन अधर आजहीं हरष सौं,
स्रवन ताटंक उलटे संवारैं ।
सूर - प्रभु - मुख - ललित बेनु-धुनि,
बन सुनत, चलीं बेहाल अंचल न धारैं ॥६६८॥[3]

कृष्ण की मुरली की ध्वनि सुनकर न केवल ब्रज की सारी गोप-बालाएँ ठगी-सी रह जाती हैं बल्कि ब्रज-भूमि के समस्त खग, मृग, पशु भी मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं। चतुर्भुजदास मुरली की महिमा इस प्रकार सुनाते हैं—

बेनु धरयो कर गोविंद गुन निधान ।
जाति हुति बनकाज सखिन संग ठगी धुनि सुनि कान ।

१—सूरसागर—दशम स्कंध, पृष्ठ ४६८ ।
२—परमानन्द पदसंग्रह—पद सं० ६६ ।
३—सूरसागर—दशम स्कंध—पृष्ठ ६०६ ।

मोहन सहस कल खग-मृग-पशु बहु विधि सप्तक सुरबंधान।
चतुर्भुजदास प्रभु गिरिधर तन मन चोरि लियो करि मधुर गान ।।[1]

मुरली की माधुरी का वर्णन करते हुए सूरदास ने बहुत-सी अनोखी कल्पनाएँ की हैं। कृष्ण के अधरों पर मुरली को सदा विराजते देखकर गोप बालाएँ कभी-कभी उसके भाग्य की सराहना करती हैं और कभी-कभी उनके मन में उससे ईर्ष्या के भाव भी उत्पन्न होते हैं। इतना ही नही, उसे सौत समझकर गालियाँ भी सुनाती हैं। गोपियाँ आपस में मुरली की चर्चा करती हुई कहती है--

श्याम नृपति, मुरली भई रानी।
बनतें ल्याइ सुहागिनि कीन्ही, और नारि उनको न सुहानी।
कबहुँ अधर धरि देत अलिंगन, वचन सुनत तन दशा भुलानी।
सूरदास-प्रभु गिरधर नागर, नागरि बन भीतर तें आनी ।।१३२६।।

× × ×

सखी री मुरली भई पटरानी।
अधर सदा सुख करति स्याम कें, सुधा पियति इतरानी।
मोहे पसु पंछी द्रुम बेली, जमुना उलटि बहानी।
सुर-नर-मुनि बस भये नाद कें, सबै बस्य मन ध्यानी ।।
तिहूँ भुवन मैं चली बड़ाई, अस्तुति मुख-मुख गानी।
सूर स्याम की अब अर्धाङ्गिनि, रही झार लपठानी ।।१३२८।।[2]

गोपिकाओं की शिकायतें सुनकर बांसुरी चुप नहीं रहती। वह बोल उठती है—

ग्वालिन तुम कत उरहन देहु ?
पूछहु जाई स्याम सुन्दर कों, जिहि दुख जुरयौ सनेहु ।।
जन्मत ही तें भई विरत चित्त, तज्यौ गाउँ, गुन गेहु।
एकहि पाउं रही ह्वै ठाढी, हिम-ग्रीषम-ऋतु नेहु ।।
तज्यौ मूल साखा-सुपुत्र सब, सोच सुखायी देहु।
अगिनि सुलाकात मुरयो न तन मन, विकट बनावत बेहु ।।

१—चतुर्भुजदास पद-संग्रह—पद सं० २६।
२—सूरसागर दशम स्कंध—पृष्ठ ७२४।

बकतीं कहा बांसुरी कहि-कहि करि-करि तापस तेहु।
सूर स्याम इहिं भाँति रिझे, किनि तुमहुँ अधर रसलेहु ॥१९४८॥[1]

और—

ग्वारिन मोहीं पर सतरानी।
जौ कुलीन अकुलीन भई हम, तुम तौ बड़ी सयानी॥
नाना रूप बखान करति हो, काहैं वृथा रिसानी॥
तुमहिं कहौ कह दोष हमारौ ? खोटी क्यों पहचानी ?
जो स्रम में अपनै तन कीन्हौ, सो सब कहौं बखानी।
सूरदास-प्रभु बन-भीतर तैं, तब अपनैं घर आनी॥१३३१॥[2]

× × ×

जब सुनिहौ करतूति हमारी।
तब मन-मन तुमहों पछितैहीं, वृथा दई हम याकौं गारी।
तुम तप कियौ सुन्यौं में सोऊ, रिस पावहुगी और कहा री
मो समान तप तुम नहिं कीन्हौ, सुनहु करौ जनि सोर वृथारी॥
मैं कह कहौं, सुनोगी तुमहीं, जगत-विदित यह बात हमारी।
सूर स्याम आपुन ही कहिये, सुनत कहा मुसुकात मुरारी ॥१९५०[3]

कृष्ण के रूप-लावण्य का वर्णन करने में हिन्दी के कवि अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं। इस वर्णन में जो रूप-लिप्सा है वह रति-भावना-द्योतक होते हुए भी मधुर-भाव का पोषक ही है। अकेले सूरदास ने कृष्ण के अङ्गप्रत्यङ्ग की शोभा का वर्णन करते हुए कितने ही पद रचे हैं। एक ही समय में कृष्ण के भिन्न-भिन्न अङ्गों की छवि देखने पर गोपिकाओं के मन में कैसी सुन्दर भावना-तरंगें उठने लगती हैं !—

स्याम-अङ्ग जुवती निरखि भुलानीं।
कोउ निरखति कुण्डल की आभा, इतनेहिं मांझ बिकानी॥
ललित कपोल निरखि कोउ अटकी, सिथिल भई ज्यौं पानी।
देह-गेह की सुधि नहिं काहूँ, हरषति कोउ पछितानी॥

१—सूरसागर—दशम स्कंध—पृष्ठ ७२५।

२—सूरसागर—दशम स्कंध—पृष्ठ ७२५।

३—वही

कोउ निरखति रही ललित नासिका, यह काहू नहिं जानी ।
कोउ निरखति अधरनि की शोभा, फुरति नहिं मुख बानी ।।
कोउ चकित भई दसन चमक पर, चकचौंधी अकुलानी ।
कोउ निरखति दुति चिबुक चारु की, सूर तरुनि बितितानी ।।६४४।।[1]

कर्नाटक के हरिदासों के मधुर-भाव-युक्त पदों में कृष्ण के रूप का वर्णन बहुत कम हुआ है। दास्य-भाव के अन्तर्गत कृष्ण की रूप-छवि का जो वर्णन हुआ है उसमें अलौकिक भाव ही प्रधान है।

हिन्दी के कृष्णोपासक कवियों ने मधुर-भक्ति के वियोग-भाव को प्रकट करने वाले सैकड़ों पद बनाए हैं। वस्तुतः इन कवियों की अनन्य-भक्ति और कविता-शक्ति का चरम विकास इन्हीं पदों में हुआ है। वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है अथवा हो सकता है वे सब इनकी रचनाओं में विद्यमान हैं। निम्न-लिखित कतिपय उद्धरणों से इस भाव-भूमि की एक झांकी मिल जाती है।

जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तब गोकुल की गोपिकाएँ विरह-व्यथा से पीड़ित होती हैं। इस विरहावस्था की भाव-दशा के सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने अनेक मनोहर चित्र उतारे हैं। सूरदास का निम्नलिखित पद प्रसिद्ध है—

निसि दिन बरषत नैन हमारे ।
सदा रहति बरषा रिपु हम पर, जब तें स्याम सिधारे ।।
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे ।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे ।।
आँसू-सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे ।
सूरदास-प्रभु यहै परेखो, गोकुल काहे बिसारे ।।३२३६।।[2]

विरहोन्माद में उठती हुई नाना प्रकार की भावनाओं से रंजित होकर कभी कभी एक ही वस्तु भिन्न भिन्न रूप में दिखाई पड़ती है। उठते हुए बादल विरहिणियों को कैसे भीषण दिखाई पड़ते हैं—

देखियतु चहुँ दिसि तें घन घोरे ।
मानौ मत्त मदन के हथियनि, बल करि बन्धन तोरे ।।

१—सूरसागर—दशम स्कंध—४८२।
२— वही पृ० १३६१

स्याम सुभग तन चुवत गंडमद, बरषत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥
मनौ निकसि बग-पँक्ति-दंत, उर-अवधि सरोवर फोरे।
बिनु बेला बल निकसि नयन जल, कुच कंचुकि बन्द बोरे॥
तब तिहिं समय आनि ऐरावति, व्रजपति सौं कर जोरे।
अब सुनि सूर कान्ह-केहरि बिनु, गरत गात जैसें ओरे॥३३०३॥[1]

सूरदास की ही भाँति परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास आदि ने भी गोपियों की विरह-पीड़ाओं की तस्वीरें अपने अपने ढंग से उतारी हैं। नमूने के लिए उनके कुछ पद दिए जाते हैं :—

माई दोय कैसे बनिआवति,
विमुख जु रहति कमल लोचन सों ताहि ते दुख पावति।
कै तू होय स्याम सुन्दर की, कै तू अपने घर की रहै,
कै गहि चरन कमल गाढ़ौ करिके अब जाय भवन जल बहै।
यह जु एक मन बहुत ठौर घरि कहौ कौने सुखपायो,
परमानन्द वादि है एती निगम भागवत गायो।[2]

कहा करौं वह मूरति मेरे जियते न टरई,
सुन्दर नन्द कुंवर बिछुरे निस दिन नींद न परई।
बहु विधि मिलनि प्रान प्यारे की एक निमेष न बिसरई,
वे गुन समुझि समुझि चित नैननि नीर निरन्तर ढरई।
कछु न सुहाय तलाबेली मनुबिरह अनलतन जरई,
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु समाधान को करई।[3]

अधिक आरत सुनि सुनि ए बैन।
समुझाए अति नीर भरत हैं कतहि कहत बहु बैन।
हुती जु अवधि समोधि गहे तब अब कथि किये कुचेन,
चाहत हैं बारक देख्यौ यह बंक भृकुटि की सेन।
लै कर कमल चतुर्भुज प्रभु मथि पीवत पय फेन,
जीवहि प्रकट निहारे मधुकर वह गिरिधर मुख ऐन।[4]

१—सूरसागर—दशम स्कंध, पृ० १३८०।
२—परमानन्द दास पदसंग्रह—पद सं० २१३।
३—कुम्भनदास पदसंग्रह—पद सं० २१४।
४—चतुर्भुजदास पदसंग्रह—पद सं० ८६।

अष्टछाप के भक्त कवियों के आध्यात्मिक-विरह-भाव को प्रकट करने वाले वे पद, जो 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन भ्रमर-गीतों में कृष्ण के अन्तरंग उद्धव के प्रति गोपियों द्वारा कही गई अन्योक्तियों में भक्तों की वाणियों का वैभव अपने अत्युच्च शिखर तक पहुँचा है। भ्रमर-गीतों में जहाँ एक ओर प्रेमयोगिनी गोपिकाओं की विरह-व्यथा का मर्मपर्शी चित्रण हुआ है वहाँ दूसरी ओर उद्धव द्वारा प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म-ज्ञान तथा योग-विद्या का निराकरण हुआ है और सगुण भक्ति की सरलता तथा उपादेयता का विशद वर्णन हुआ है। 'भ्रमरगीत' की विचार-धारा की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निर्गुणोपासना का निराकरण और सगुणोपासना का समर्थन शुष्क तर्क-पद्धति के आधार पर नहीं, किंतु हृदय की गहरी अनुभूतियों के चित्रण द्वारा किया गया है। सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास के भ्रमर-गीतों का, हिन्दी साहित्य में, विशेष रूप से, भक्ति साहित्य में, अपना ही अलग महत्त्व है।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में सूरदास के भ्रमरगीत में से कुछ उद्धरण दिए जाते हैं।

जब उद्धव बार-बार निर्गुण-ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश देते हैं तब गोपियाँ ऊब उठती हैं और बड़े ही भोले-भाले ढंग से पूछती हैं :—

मधुकर यह जानी तुम साँची।
पूरन ब्रह्म तुम्हारो ठाकुर, आगें माया नाची।
यह इहिं गाउँ न समुझत कोऊ कैसो निर्गुन होत।
गोकुल ओट परे नंद-नन्दन, बहै तुम्हारो पोत।
को जसुमति ऊखल सौं बाँध्यौ, को दधि माखन चोरे।
किन ये दोऊ रूख हमारे, जमला अर्जुन तोरे।
को लै बसन चढ़्यौ तरु साखा, मुरली मन आकरषे।
को रस रास रच्यौ वृन्दावन, हरषि सुमन सुर बरषे।
जौ डाकौ तौ कत बिनु बूड़े, काहै जीभि पिरावत।
तब जु सूर-प्रभु गए क्रूर लै, अब क्यों नैन सिरावत ?॥४२४८॥[1]

और—

निरगुन कौन देस को बासी ?
मधुकर कहि समुझाई सौंह दै, बूझति साँच न हाँसी॥

१—सूरसागर—दशमस्कंध—पृष्ठ १४८०।

को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि को दासी ?
कैसे बरन, भेष है कैसो, किहि रस में अभिलाषी ?
पावैगो पुनि कियो आपनो, जो रे करैगो गांसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो बावरो, सूर सबै मति नासी ॥४२४६॥[२]

गोपियों की उक्तियाँ ऐसी सरल और तर्कपूर्ण हैं कि उनके सामने उद्धव का सारा ज्ञान फीका लगता है। गोपियाँ कहती हैं कि 'मधुकर हम अजान मति भोरी, यह बात जाइ तहाँ उपदेसौ, नागरि नवल किसोरी।' मन तो एक ही हुआ करता है, जब वह मन कृष्ण के साथ मथुरा चला गया है तब उद्धव का उपदेश सुनने के लिए गोकुल में कौन मन है ?—'ऊधौ मन तो एकहि आहि। सो तौ हरि लै संग सिधारे, जोग सिखावत काहि ?' क्योंकि 'मन न भए दस बीस।'

अंत में प्रेम-विह्वल गोपियों के सामने उद्धव का ज्ञान व्यर्थ सिद्ध होता है। उद्धव स्वयं प्रेम के पुजारी बन जाते हैं और मथुरा लौटकर गोपियों की प्रेम-भक्ति का वर्णन कृष्ण के सामने यों करते हैं :—

माधो जू सुनौ ब्रज को प्रेम।
सोधि मैं षट मास देख्यौ, गोपिकनि कौ नेम ॥
हृदय तें नहिं टरत टारे, स्याम राम समेत।
आँसु-सलिल प्रवाह मानौ, अर्घ नैननि देत ॥
चंवर अंचल कुच कलस, वर पानि पद्म चढ़ाइ।
सुमिरि तुम्हरी प्रगट लीला, कर्म उठतीं गाइ ॥
देह गेह सनेह अर्पन कमल-लोचन ध्यान।
सूर उनको प्रेम देखें, फीकौ लागत ज्ञान ॥[१]

मीरांबाई की मधुर-भक्ति में चाहे संयोग-पक्ष को लिया जाय चाहे वियोग-पक्ष को, भाव-तन्मयता एक-सी मिलती है। उन्होंने स्वकीया के रूप में अपने प्रियतम गिरधर-नागर के बिछोह में जैसी कसक और तड़पन की सैकड़ों सजीव तस्वीरें उतारी हैं वैसी अन्यत्र मुश्किल से ही मिल सकेंगी। उनके स्त्री-सहज हृदय की भावनाओं की स्वाभाविक उन्मत्तावस्था का परिचय दो-एक पदों में मिल जाता है।—

२—सूरसागर—दशमस्कंध—पृष्ठ १४८०।
१—सूरसागर—दशमस्कंध—पृष्ठ १६४०।

सोवत ही पलकों में मैं तो, पलक लागी पल में पिऊ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देण कूँ, जाग परी पिव ढूंढ न पाये।
और सखी पिव सूत गमाये, मैं जु सखी पिव जागी गमाये।
आज की बात कहा कहूँ सजनी, सुपना में हरि लेत बुलाये।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी, अजि भये सखि मन से भाये।
वौ म्हांरो सुने अरु गुनि है, बाजे अधिक बजाये।
मीरां कहै सत्त कर मानों, भक्ति मुक्ति फल पाये ॥१३९॥[1]

और—

घूघरुँ बांध मीरां नाची रे, पग घूघरुँ।
लोग कहै मीरां होगई बाबरी, सास कहै कुलनासी रे।
जहर का प्याला राणा जी भेज्या पीवत मीरां हांसी रे।
मैं तो अपने नारायण की आप ही होगई दासी रे।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, बेग मिलौ अविनासी रे ॥[2]

हिन्दी के कृष्णोपासक कवियों की श्रेणी की रचनाओं में अभिव्यक्त मधुर-भाव के स्वरूप का थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त कर लेने के उपरान्त यह देखना है कि कर्नाटक के हरिदासों के साहित्य में इस भाव का क्या रूप है। श्री व्यासराय, श्री पादराय, पुरन्दरदास, कनकदास प्रभृत्ति हरिदासों के बहुत कम ऐसे पद मिलते हैं जिनमें माहात्म्य-भाव के साथ साथ मधुर-भाव की व्यंजना हुई है। लेकिन, इन थोड़े-से पदों का अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि इस भाव के प्रकाशन की ओर भक्तों का विशेष ध्यान नहीं गया है। न संयोग-पक्ष का विकास हुआ है न वियोग-पक्ष का ही। मगर, उनमें बीज-रूप में दोनों पक्षों के भाव विद्यमान हैं। कृष्ण की रूप-माधुरी, मुरली-माधुरी, चीर-हरण, वसंत-वर्णन, अक्रूर का वृन्दावन आना, अक्रूर के साथ कृष्ण का मथुरा जाना, गोपियों की उद्विग्नता, गोपियों का विरह, उद्धव का व्रज में आना आदि प्रसंगों की ओर कुछ पदों में संकेत-मात्र कर दिया गया है। इनमें ऐसे प्रसंग बहुत ही कम हैं जिनका स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। कहीं कहीं एक ही पद में अनेक प्रसंगों का उल्लेख कर दिया गया है।

श्री व्यासराय ने अपने एक गीत में कृष्ण के रूप-लावण्य का वर्णन करते हुए मुरली बजाने वाले कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम-भाव का परिचय

१—मीरां बृहद् पद संग्रह—पृ० ८२।
२—मीरां बृहद् पद संग्रह—पृष्ठ १५७।

दिया है। गीत का सारांश इस प्रकार है :—"हे सखी, चलो उस वृन्दावन में हम गोविन्द की लीला का सौन्दर्य देखें जिसमें मुनिगण मृग, पक्षी, पेड़ के रूप में हैं, सनकादि गायों के रूप में हैं, देवतागण गोप-बालकों के रूप में हैं और राक्षस-गण मनुष्यों के रूप में हैं। मुनि रूपी पक्षीगण कृष्ण के वेणुगान के रस में निमग्न हैं।

वहाँ की गाएँ मुरली की रस-माधुरी का आस्वादन करके उन्मत हैं और उनके मन में आनन्द-रूपी सागर उमड़ पड़ा है। कृष्ण के चरणों की नख-छवि रूपी चाँदनी से चन्द्रकांत-शिला पानी बन कर बहने लगी है और यमुना से इस तरह जाकर मिल रही है मानो एक दूसरा ही संगम बन गया हो। श्रीपति के मन्दहास रूपी चन्द्रमा और कौस्तुभ-मणि रूपी बाल-रवि को देख कर चक्रवाक इस भ्रम में पड़े हैं कि अब दिन है या रात्रि। कृष्ण के वक्ष पर विराजमान वनमालारूपी इन्द्रधनुष, पीताम्बर रूपी विद्युत्, वेणु-नाद रूपी घन-गर्जन और श्यामल-वर्ण के कृष्ण रूपी मेघ को देख कर चातक इसलिए नाचने लगा है कि वर्षा ऋतु के मेघ दिखाई पड़ रहे हैं।"[1] दूसरे एक पद्य में इसी प्रकार कृष्ण के रूप का वर्णन करती हुई गोपिकायें कृष्ण-मिलन की अभिलाषा कर रही हैं।[2] श्री व्यासराय ने भी यह कल्पना की है कि मुरली के सौभाग्य पर गोपिकाओं के मन में आश्चर्य और ईर्ष्या के भाव उत्पन्न होते हैं। कोई गोपिका अन्य गोपिकाओं को सम्बोधन करके कहती है कि "मैं कसम खाकर कहती हूँ कि मुझसे अब रहा नहीं जाता। चलें उस कृष्ण से मिलें और अपनी आँखों का फल पावें जो वेणु बजाते हुए गोपांगनाओं के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। सुनोरी सखी, उस मुरली का भाग्य कितना महान है! यह मुरली कृष्ण के अधरों का रस-पान स्वयं कर रही है और कृष्ण की अत्यन्त प्रिय सखियों को भी उससे वंचित कर रही है।"[3]

यद्यपि मुरली-नाद का उल्लेख अनेक हरिदासों के पदों में मिलता है तथापि हिन्दी के कृष्ण काव्यों में इसका जैसा विशद वर्णन किया गया है वैसा नहीं किया गया है।

हरिदासों ने आध्यात्मिक शृङ्गार के संयोग पक्ष का चित्रण माहात्म्य-भाव की पुष्टि में ही किया है। पुरन्दरदास के निम्नलिखित पद में इसका स्पष्ट

१—हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ६, पृ० १४२–१४४।
२—वही पृ० १७०।
३—कर्नाटक हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ६, पृ० १९९।

परिचय मिलता है। कृष्ण के साथ रति-सुख का भोग करने वाली कोई गोपिका कृष्ण से इस प्रकार प्रार्थना कर रही है :—

> "हे कृष्ण, तुम्हारे पैरों पर पड़ती हूँ, कुछ शब्द न करो। जो लोग सो रहे हैं वे जाग पड़ेंगे और उन्हें तुम्हारे यहाँ आने की खबर लग जायगी। हाथ पकड़ कर खींचो नहीं, चूड़ियाँ बज उठेंगी। छाती पर से आँचल न हटाओ, कहीं गले के हारों से आवाज़ निकलेगी। साड़ी खोलो नहीं, कहीं करधनी से शब्द निकलेगा। अधर रस मत पिओ, कहीं हमारे पति के मन में ईर्ष्या पैदा हो जायगी। इधर-उधर की बातें क्यों करते हो? यह तो कुछ गाना गाने का समय नहीं है। यह तो पुरन्दर विट्ठल की स्तुति करके पंथ में मिल जाने का समय है।"[२]

दूसरे एक गीत में पुरन्दरदास इस भाव का यों वर्णन करते हैं। "हे कृष्ण आ जाओ अभी, यह ठीक समय है। इस समय ननद पूजा के लिए एक लाख बत्ती तैयार करने में लगी है, वह जल्दी अपनी जगह से नहीं उठेगी। सास पुराण सुनने में मग्न हैं और अपने ठीक समय पर ही आयेंगी। मेरे मामा मुझ पर मोहित नहीं हैं और मेरे पति मेरे प्रति उदास हैं। जेठ जी मुझसे मिलना पसन्द नहीं करते। यही तुम्हारे आने के लिए उत्तम समय है। मैं न अपने माता पिता की चिन्ता करूँगी और न पुत्र का ही ख्याल करूँगी। मन्दर पर्वत को धारण करने वाले हे पुरन्दर-विट्ठल, यदि तुम आओगे तो तुम्हारे चरणों की सेवा करूँगी।"[१]

अधिकांश पद ऐसे हैं जिनमें मधुर-भाव अपने इष्ट-देव की स्तुति का ही रूप धारण करता है। श्री विजयदास के एक गीत में यह भाव यों प्रकट हुआ है—

> हे नीरजाक्ष, हम तुमसे अलग नहीं हो सकतीं, तुमसे मिलकर सुख पाने के लिए आई हैं। प्रेम से हमारा आदर न करके क्या भेद की बातें करोगे? फल दिखा कर ज़हर देते हो? पंचानन भी तुम्हारी प्रशंसा कर नहीं सकता। तुम अप्रमेय, आदि-पुरुष, अमर हो। जिस प्रकार से मोक्ष की इच्छा करके तुम्हें भजने वालों का

१—हरिभक्ति सुधे—पृ० १३५-३६।
२—वही पृष्ठ १३६।

सदा तुम पक्ष लेते हो उसी प्रकार हमारी भी रक्षा नहीं करोगे ? क्या लक्ष्मी देवी ने तुम्हें मोहित कर रखा है ? तुमसे आकर्षित होकर हमने अपने तन, मन, अन्तरात्मा सब कुछ तुम्हें अर्पित कर दिया है। हे प्रभो, क्या हमको जन्म-मरण के दुख से सताओगे ? हे 'विजय विट्ठल' हमारा उद्धार करो।[१]

श्री पादराय के एक गीत में कृष्ण का मुरली बजाते हुए आना और गोपिकाओं का रति-भाव से विकल होना, कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए गोपियों का नाना प्रकार की सुगन्धित वस्तुओं से अपने शरीर को अलंकृत करना आदि का वर्णन किया गया है, किन्तु अन्त में गीत स्तुति के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[२]

हरिदासों ने अपनी रचनाओं में चीर-हरण, रास-लीला, जल-क्रीड़ा, वसन्त-लीला, ब्रज में उद्धव का आगमन आदि प्रसंगों का उल्लेख मात्र कर दिया है और उनका विस्तार नहीं किया है। श्रीव्यासराय, श्रीपादराय, पुरन्दरदास के पदों में विरह को प्रकट करने वाले कतिपय पद मिलते हैं। श्रीपादराय ने 'भ्रमर गीत' नामक शीर्षक पर कुछ गीत रचे हैं। जिनमें गोपियाँ भृङ्ग को लक्ष्य करके अपने मन की विरह-व्यथा व्यक्त करती हैं। एक तो इन गीतों की संख्या बहुत कम है दूसरा इनमें विरह-भावों की अपेक्षा भगवान के अलौकिक गुणों का वर्णन ही अधिक है। श्रीपादराय तथा व्यासराय के ऐसे कुछ गीत हैं जिनमें विरह के सहज भाव प्रकट किए गए हैं। श्री व्यासराय अपने एक गीत में किसी गोपिका के हृदय की वेदना का वर्णन किस प्रकार करते हैं—

'हे बहिन, वन में सर्वत्र चांदनी छिटकी है, तो भी हमारे प्रिय कृष्ण नहीं आए। माघ मास बीत गया है और बसन्त आ गया है। कोयल और भौरे गा रहे हैं आम के बौर निकल आए हैं। हे बहिन, कृष्ण नहीं आए।

× × ×

स्नान के लिए गरम किया हुआ पानी ठंडा हो गया है। तैयार किया हुआ चमेली का हार मुरझा गया है। काम-पीड़ा बढ़ती ही

१—हरिभक्ति सुधे—पृष्ठ १३३।

२—हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ६—पृष्ठ १५-१७।

जा रही है, तो भी कृष्ण नहीं आये।.....सजाया हुआ बिछौना मैला हो गया है, बदन पर लगाया हुआ चन्दन सूख गया है, छाती में बिजली कौंध रही है, तो भी वासुदेव कृष्ण नहीं आए,"[१]

श्री पादराय की भावुकता का परिचय निम्नलिखित पद से प्राप्त होता है :-

"सखी री, मुरली बजाकर और हमारे मन में विश्वास पैदा करके कृष्ण चले गए, हम विकल होकर तड़प रही हैं। सखी री, हमें घर का काम काज जरा भी रुचता नहीं। हमारा मन मनसिज के पिता के साथ ही चला गया है। एक पग भी आगे बढ़ नहीं पाती, पैरों ने जवाब दे दिया है। प्रिय के साथ ही हमारी वाणी भी चली गयी है। हम ऐसी हो गयी हैं कि मन में एक बात तक नहीं उठती। प्रिय को देखे बिना कुछ सहा नहीं जाता। कल से नींद भी नहीं लगती। उस नटवर से मिल कर इस नारी-जन्म की कैसी दुर्दशा हो गयी है। गोपीनाथ से न मिलने के कारण हमारा विरह-ताप बढ़ता ही जा रहा है।"[२]

सूरदास प्रभृति हिन्दी के कृष्ण-भक्तों की रचनाओं में 'उद्धव-गोपी-संवाद' एक महत्त्वपूर्ण अंग है। कर्नाटक के हरिदासों के साहित्य में इस प्रसंग पर दो-एक पद ही मिलते हैं। व्यासराय द्वारा रचित एक गीत का भाव इस प्रकार है :—

"हे उद्धव, इस वृन्दावन और गोकुल में अब रखा ही क्या है ? अब स्नेह कहाँ रहा ? लोकमोहक उस कुब्जा से जाकर मिल गए हैं। उनका कटाक्ष अब हमें कैसे मिलेगा। तन में ताप की वृद्धि हो रही है, हमारी बेबसी बढ़ रही है। हमारे वल्लभ को हमसे अलग करके खल अक्रूर ले चले गए हैं। हे उद्धव, मल्लों का मर्दन करके कँस का बध करने वाले हमारे वल्लभ को दिखाओ। आदर से अधरामृत पिला कर आनन्द देने वाले और मन के मर्म को समझ कर मधुर वचनों से तंग करने वाले कृष्ण अब हमको स्वप्न-से लगते हैं। हे उद्धव, वनजाक्ष वासुदेव को शीघ्र ही ला

१—हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ६, पृष्ठ १९३।
२—हरि भक्ति सुधे—पृष्ठ १३०।

मिलाओ। कपट-नाटक करने वाले कृष्ण को करुणा-सागर कहते हैं और जो उनका स्मरण करते हैं वे उनका पालन करते हैं। तब उन्होंने हमको कैसे भुला दिया ? जल्दी जाओ, और हमारा यह रोना उन्हें सुनाओ और उन्हें यहाँ बुला लाओ। जिन्होंने उन पर विश्वास रखा है उनको इस प्रकार भुला देना क्या उचित है ?"[१]

ऊपर के विवेचन से यह कहा जा सकता है कि कर्नाटक के भक्तों की भक्ति-साधना में मधुर-भाव का उतना परिपाक नहीं हुआ है जितना हिन्दी-प्रदेश के आध्यात्म-साधकों की साधना-पद्धति में हुआ है।

दास्य-भक्ति-भाव

हिंदी-प्रदेश में क्या, कन्नड-प्रदेश में क्या, सगुण और निर्गुण परम्परा के सभी भक्तों ने दास्य-भाव से भगवान की भक्ति की है। अन्तर केवल इतना ही दिखाई देता है कि किसी ने दास्य पर विशेष जोर दिया है, किसी ने कम। उदाहरण के लिए हिन्दी के रामोपासक सगुण-भक्तों और कन्नड के हरिदासों ने दास्य-भक्ति-पद्धति को ही अपना आदर्श माना है। कन्नड के शिव-शरणों और हिन्दी के निर्गुणिया सन्तों को भी दास्य-भाव बहुत प्रिय है, किन्तु वे उसी को अपना एक मात्र मार्ग नहीं मानते। दास्य-भक्ति के अन्तर्गत उन सभी भावों की व्यंजना होती है जिन्हें एक स्वामिभक्त सेवक, आज्ञापालक पुत्र और शिष्य अपने प्रभु, पिता और गुरु के प्रति विभिन्न परिस्थितियों में प्रकट किया करते हैं। अपने उपास्य-देव को अपना दयालु प्रभु, पिता, गुरू समझ कर भक्त उनके सामने अपनी अज्ञानता, दीनता, अपने दुर्गुण, दोष आदि का वर्णन करने में, अपनी रक्षा और उद्धार के लिए नाना प्रकार से याचना करने में विशेष आनन्द पाते हैं। भगवान की सर्व-सामर्थ्य की अनुभूतियों से अभिभूत होकर उपासक उनकी नाना प्रकार से कीर्ति का गान करते हुए उनकी कृपा,दृष्टि पाने के लिये सदा कातर रहते हैं। भक्तगण अपना सर्वस्व भगवान के चरणों में समर्पित करके अहं को भुला देने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं। उनकी शरण में रहते हुए उन्हीं में विलीन हो जाने की शुभ घड़ी की प्रतीक्षा में रहते हैं। वे अपने इस प्रयत्न में बाधा डालने वाली सभी बातों की तीव्र निंदा करते हैं और भगवान की भक्ति को ही एक मात्र सहारा मानते हैं।

१—हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ६, पृष्ठ १४१-१४२।

हिन्दी के सन्त-श्रेष्ठ कबीरदास जी अपने प्रभु से निहोरते हैं कि मैं तो जन्म का अपराधी हूँ, मेरे नख-शिख में विकार भरा हुआ है, तुम दाता हो, दुःख को दूर करके मुझे संभालो। मैं तुम्हारी किस मुँह से विनती करूँ, बड़ी लज्जा आती है। तुम्हारे देखते हुए अवगुन का व्यवहार करता हूँ, ऐसी हालत में तुम्हें मैं कैसे भला लग सकता हूँ ?

मैं अपराधी जनम का नखसिख भरा विकार।
तुम दाता दुख-भंजना मेरी करो सम्हार ॥
क्या मुख लै विनती करौं लाज आवत है मोहिं।
तुम देखत अवगुन करौं कैसे भावों तोहिं ॥[1]

अपने अवगुणों को गिनाते हुए कबीर अपने मन की व्यथा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन यों करते हैं :—

कहा करौं कैसे तिरौं, भौ जल अति भारी।
तुम्ह सरणागति केसवा, राखि राखि मुरारी ॥
घर तजि बन खण्डि जाइये खानि खइये कंदा।
विष विकार न छूटई, ऐसा मन गन्दा ॥
विष विषिया को वासनां तजौं तजी नहीं जाई।
अनेक जतंन करि सुरझिहौं, फुनि फुनि उरझाई ॥
जीवन अछित जोवन गया, कछू कीया न नीका।
यहु हीरा निरमोलिका, कौड़ी पर बीका ॥
कहै कबीर सुनि केसवा सू सकल व्यापी।
तुम्ह समांनि दाता नहीं, हम से नहीं पापी ॥१७८॥[2]

दूसरे एक पद में कबीरदास जी अपने हृदय की वेदना का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचते हैं जो देखने लायक है :—

माधौ, मैं ऐसा अपराधी ! तेरी भगति हेत नहीं साधी।
कारनि कवन आइ जग जनम्यौं जनमि कवन सचु पाया।
भौजल-तिरण चरण च्यंतामंणि ता चित घड़ी न लाया।
परनिंद्या परधन परदारा परअपवादै सूरा।
तार्थें आवागमन होइ फुनि-फुनि ता पर संग न चूरा।

१—कबीर वचनावली—पृष्ठ ११०।

२—कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ १४८।

काम क्रोध माया मद मछर ए संतति हम मांही।
दया धरम ग्यांन गुर सेवा ए प्रभु सुपिनैं नांहीं।
तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत-बछल भौहारी।
कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी ॥[1]

रैदास ने भगवान और भक्त के बीच में जो सम्बन्ध स्थापित किया है उसमें काव्य-सुषमा के साथ-साथ विमल-भक्ति की नूतन छटा दिखायी देती है।—

अब कैसे छूटै नामरट लागी।
प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी। जाकी अंग-अंग बास समानी ॥
प्रभुजी तुम घनबन हम मोरा। जैसे चितवत चन्द चकोरा ॥
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती। जाकी जोत बरै दिन राती ॥
प्रभुजी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥[2]

दादू को इस बात का भरोसा है कि उनके साहिब ऐसी दया करेंगे कि सेवक का उद्धार हो जायगा। क्योंकि उनके तोड़ने पर भी साहिब जोड़ देते हैं, उनके भूल जाने पर भी साहिब नहीं भूलते। उनके बिगड़ने पर भी साहिब नहीं बिगड़ते। उनके भूलने पर भी वे आकर मिल जाते हैं। उनके बिछुड़ने पर भी साहिब आकर अंगीकर करते हैं अर्थात् छाती से लगाते हैं—

तौ निबहै जन सेवग तेरा, ऐसे दया करि साहिब मेरा।
ज्यू हम तोरै त्यू तू जोरै, हम तौरै पै तूं नहि तोरै ॥
हम बिसरै पै तू न बिसारै, हम बिगरैं पै तू न बिगारै।
हम भूलें तूं आनि मिलावै, हम बिछुरें तूं अंगि लगावै ॥
तुम्ह भावै सो हम पै नांही, दादू दरसन देहु गुसांई ॥[3]

कर्नाटक के शिवशरणों में बसव का स्थान सर्वोपरि है। इस संसार के बन्धन से उनके हृदय में जो तीव्र वेदना हुई है उसका मर्मस्पर्शी वर्णन उनके कितने ही वचनों में मिलता है। उनका आर्तनाद हृदय को द्रवीभूत करने वाला है। वे अपने उपास्य देव 'कूडल संगम' से कहते हैं :—

१—संत सुधा सार—पृ० ७५।
२—वही पृ० १९६।
३—संत-सुधा-सार—पृ० ४३९।

प्रभो-प्रभो कह कर चिल्ला रहा हूँ,
प्रभो-प्रभो कह कर कराह रहा हूँ,
क्यों नहीं कहते कि मैं आया,
सदा तुम्हें पुकार रहा हूँ,
उत्तर न देकर मौन साधे बैठे हो,
ऐसा क्यों हे कूडलसंगमदेव ?[१]

तन्मयता ही भक्ति का एक प्रधान लक्षण है। इस तन्मयता का एक सुन्दर चित्र बसव के निम्नलिखित पद में प्राप्त होता है।

वचनों में नामामृत भर कर
नयनों में तुम्हारी मूर्ति भर कर
मन में तुम्हारी स्मृति भर कर
कानों में तुम्हारी कीर्ति भर कर,
तुम्हारे चरण कमलों में, हे कूडल संगमदेव,
गुनगुनानेवाला मैं हूँ भ्रमर।[२]

बसव विनम्रता के अवतार हैं। वे अपने प्रभु के सम्मुख अपने छोटेपन की और भगवान के भक्तों के बड़प्पन के साथ तुलना करते हैं—

मुझ से बढ़ कर कोई छोटा नहीं,
शिव भक्तों से बढ़कर कोई बड़ा नहीं,
तुम्हारे शरण ही साक्षी, मेरा मन ही साक्षी,
प्रभो, कूडल संगमदेव, यही मेरा भाग्य है।[३]

बसव की इस उक्ति से साम्य रखने वाला गोस्वामी जी का निम्नलिखित कथन पठनीय है :—

राम सों बड़ो है कौन ? मो सो कौन छोटो ?
राम सों खरो है कौन, मो सो कौन खोटो ?[४]

भक्त सिद्धराम अपने सारे गुणदोषों के लिए अपने आराध्य-देव को उत्तर-दायी ठहराते हैं। उनका उक्तिचातुर्य देखने लायक है—

१—बसवण्णनवर षटस्थलद वचनगळु—पृ० १६।
२—बसवण्णनवर षटस्थलद वचनगळु—पृ० १२८।
३—वही पृ० ८७।
४—तुलसीग्रन्थावली—विनय पत्रिका—पृ० ४९७।

"ध्यान करता हूँ फिर भुला देता हूँ, मेरे सारे गुण दोष तुम्हारे ही हैं, मेरी विनती सुनो प्रभो, तुम्हारा ध्यान करने वाला व्यक्ति मैं नहीं हूँ, तुम्हारे कारण से ही मैं तुम्हारा ध्यान करता हूँ, हे कपिल सिद्ध मल्लिकार्जुन, कृपा करो।[1]

महात्मा सूरदास जी दास्य-भाव प्रकट करते हुए कहते हैं—'नंद नंदन ने मुझको मोल लिया है। उन्होंने मुझे अभयदान दिया है और मेरा मृत्युरूपी फन्दा कट गया है। मैंने अन्य भक्ति के चिन्हों को मेट कर कृष्ण-भक्ति के चिन्ह धारण किये हैं। मस्तक पर तिलक, कान में तुलसीदल और कण्ठ में वन-माला आदि चिन्हों को देख कर लोग मुझे श्याम का गुलाम कहते हैं। यह सुन कर मेरा मन प्रसन्न होता है। सबसे बड़ा दुख तो मुझे यह है कि मैं दास-वृत्ति से भगवान की जूठन प्रसादरूप में पाता हूँ :—

हमें नन्दनन्दन मोल लिए।
जम के फन्द काटि मुकराये, अभय अजाद किये।
भाल तिलक, स्रवननि तुलसीदल, मेटे अंक बिये।
मूंड्यौ मूंड, कण्ठ वनमाला, मुद्रा चक्र दिये।
सब कौउ कहत गुलाम श्याम कौ, सुनत सिरात हिये।
सूरदास कौं और बड़ौ सुख, जूठनि खाइ जिये ॥१७१॥[2]

सूरदास ने ऐसे बहुत से पद रचे हैं जिनमें विषय-विकारों से होने वाले दुख का विशद चित्र उपस्थित किया है और आत्मोद्धार की तीव्र उत्कण्ठा के भाव प्रकट किए हैं। निम्नलिखित पद बहुत प्रसिद्ध है—

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल,
काम क्रोध कौ पहरि चोलना कण्ठ विषय की माल।
महामोद के नूपर बाजत निन्दा-सब्द-रसाल,
भरम भरयो मन भयो पखावज, चलत कुसंगत चाल।
तृष्णा नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल,
माया को कटि फेंटा बांध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला नाचि दिखराई, जल थल सुधि नहिं काल,
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नन्दलाल ॥१५३॥[3]

१—वचन शास्त्र सार—भाग १ पूर्वार्ध—पृ० २७३।
२—सूरसागर—प्रथमस्कंध, पृ० ५६।
३—वही पृ० ५०।

आत्मनिवेदन का भाव प्रकट करते हुए सूरदास जी अपने प्रभु से यों कहते हैं—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे ?
तुम्हें हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे।
सब तजि तुम शरणागत आयौ निज कर चरण गहेरे।
तुम प्रताप-बल बदत न काहू, निडर भये घर-चेरे।
और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तें, पाए सुख जु घनेरे ॥१७०॥[1]

अष्टछाप के अन्य कवियों में परमानन्ददास ही एक ऐसे हैं जिन्होंने सूर की भाँति दास्य-भाव के अनेक पद रचे हैं। अन्य कवियों ने कतिपय पदों में दास्य भाव की भक्ति की है। किन्तु इन पदों में सूरदास की वाणी का न वह चमत्कार है न माधुर्य ही।

मीराबाई जी ने कृष्ण को प्रियतम के रूप में ग्रहण करके माधुर्य-भाव की रस-धारा बहाने में अपनी वाणी के अपार वैभव का परिचय दिया है। यद्यपि मधुर-भाव से ही उनका हृदय ओतप्रोत है तो भी सूर, तुलसी आदि अन्य भक्तों का अनुकरण करते हुए उन्होंने कतिपय विनय के पद भी रचे हैं। कृष्ण के चरण-रज की महिमा का वर्णन करते हुए वे कहती हैं—

चरण-रज महिमा मैं जानी।
ये ही चरण से गंगा प्रगटी भागीरथ कुलतारी।
ये ही चरण से विप्रसुदामा हरिकंचन धाम दीनी।
ये ही चरण से अहिल्या उधारी गौतम की पटरानी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर ये ही चरण कमल में लपटानी ॥३६८॥[2]

हिन्दी के सगुणोपासक कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी ने यद्यपि राम के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करके भक्ति की है[3] तो भी उन्होंने

१—सूरसागर—प्रथमस्कंध, पृ० ५५।

२—मीरां बृहद पदसंग्रह—पद्मावती शबनम, पृ० २२१।

३—तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे।
ज्यों त्यों तुलसी कृपाल, चरन शरन पावे।
विनयपत्रिका—तु० ग्रन्थावली पृ० ५०१।

अपना यह सिद्धान्त बना लिया है कि सेव्य-सेवक भाव के बिना भवसागर पार करना सम्भव नहीं है।[1] उन्होंने राम के दरबार में अपनी जो विनय-पत्रिका भेजी है उसमें दास्य-भक्ति का चरम उत्कर्ष हुआ है। निश्चय ही तुलसी की विनय पत्रिका दास्य-भक्ति-भाव का पारावार है जिसकी थाह लेना कठिन ही है। तुलसीदास जी सीता जी की इसीलिए वंदना करते हैं कि वे समय पाकर तुलसीदास जी की करुण-कथा सुना कर रामचन्द्र जी को कुछ स्मरण दिला दें। उनकी अनन्य-दास्य-भावना निम्नलिखित पद में साकार होकर प्रकट हुई है—

कबहूँक अंब अवसर पाइ।
मेरि औ सुधि द्याइबी कछु करुन-कथा चलाइ।
दीन सब अंगहीन छीन मलीन अघी अघाइ॥
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ।
बूझि हैं 'सो है कौन'? कहिबी नाम दसा जनाइ॥
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरि औ बनि जाई।
जानकी जगजननि जनकी किए वचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ-गुन गन गाइ॥४१॥[2]

कर्नाटक के हरिदासों की भक्ति-पद्धति में दास्य-भाव को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। पुरन्दरदास जी कभी-कभी बड़ी सीधी और सरल भाषा में अपने उपास्य-देव पुरन्दरदास विट्ठल से प्रार्थना करते हैं कि "मुझे अपना दास बना लो, मेरी दुष्ट बुद्धि को दूर करो, अपना करुणा रूपी कवच मेरे प्राणों पर पहना दो, अपने चरणों की सेवा का कार्य मुझे सौंप दो और अभय रूपी फूल से मेरे सिर को अलंकृत करो। दृढ़-भक्ति की याचना करते हुए मैं बारम्बार तुम्हारे चरणों पर पड़ रहा हूँ। आँखों की कोर से निहार कर मुझे छोड़ न दो, मेरे चित्त को निर्मल करके मुझे इस योग्य बना दो कि मैं तुम्हारा ध्यान कर सकूं। शरणागतों की रक्षा करना तो तुम्हारी एक उपाधि है, मेरे सभी संकट दूर करो।"[3]

श्रीपति के पादारविंद की सेवा की तुलना वणिक्-वृत्ति से करते हुए

१—सेव्य-सेवक भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजिय राम पद पंकज, अस सिद्धांत विचारि॥
रामचरित मानस—उत्तर काण्ड, पृ० ५५६।

२—तुलसी ग्रन्थावली—विनय पत्रिका, पृ० ४७५।

३—हरिभक्ति-सुधे, पृ० १०६।

पुरन्दरदास अपनी उक्ति में जो कौशल तथा सौंदर्य प्रकट करते हैं वह अन्यत्र शायद ही देखने को मिले। पद्य का भावार्थ इस प्रकार है :—

> "हमने श्रीपति के पादारविंद की सेवा रूपी वणिक-वृत्ति अपनायी है। हरि की करुणा रूपी कुर्ता पहन कर गुरु-करुणारूपी पगड़ी बाँध ली है और हरिदासों की दया रूपी ओढ़नी ओढ़ ली है। परम पापी कलि रूपी पाद-रक्षा पहन कर दुष्टों की छाती पर चलते हुए हमने वणिक्वृत्ति अपनायी है। हृदय रूपी सफेद कागज पर, रसना रूपी लेखनी से मुंहरूपी कलमदानी के सहारे श्री लोल की कथा तथा उनके दिव्य नाम और शील मन पर लिखते हुए हमने वणिक्-वृत्ति करना शुरू किया है। अब भविष्य में आनेवाली सब भव बाधाओं के भय भाग गए हैं। पिछले काल के सभी ऋण बेबाक करते हुए हमने वणिक्-वृत्ति करना शुरू किया है। अब तो मेरे मुँह से निकलने वाले प्रत्येक शब्द के साथ शरीर में रोमांच होता है और आँखों से आनन्द के आँसू निकल रहे हैं···· अब तो मैं हर किसी की कृपा का भिखारी नहीं बनूंगा, पुण्डरीकाक्ष श्री पुरन्दर विट्ठल ने अब मुझे अपनी सेवा में नियोजित कर लिया है।"[१]

कनकदास को दैन्य-भाव व्यक्त करने में विशेष आनन्द मिलता है। उनकी उक्ति की खूबी देखने लायक है :—

> "मैं तो सहस्रनामयुक्त श्रीरंग के दासानुदासों की दासी का लड़का हूँ। मैं तो शंकुदास के घर का पागल दास हूँ। मैं उन दासों के घर की रखवाली करने वाला गरीब दास हूँ जो संकीर्तन द्वारा भगवान का स्मरण करते हैं। मैं दासदासों के दासों का गुलाम हूँ। दासों के घर का मैं नीच दास हूँ। कुलरहित व्याध जाति का दास हूँ, हठ करके तुम्हारा भजन करने वाले अत्यन्त दासों का मैं दास हूँ। हे केशव, मुझे मुक्ति देकर उबारो।"[२]

उपर्युक्त कतिपय उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि हिन्दी और कन्नड के समस्त भक्त-कवियों ने दास्य-भाव को भक्ति-साधना में सहायक माना है।

१—हरिभक्ति-सुधे, पृ० ११०, १११।

२—कनकदासर कीर्तनेगळु (उडुपि प्रति) पृ० ८६, ६०।

नवम अध्याय

हिन्दी और कन्नड में सगुण तथा निर्गुण मतावलम्बी भक्त-कवियों की विचार धारायें

जाति-पाँति से नहीं, ज्ञान और भक्ति से मनुष्य की पहचान

हिन्दी के निर्गुणिया सन्त मूलतः भक्त थे और थे ज्ञान के प्रकाश में चलने वाले अध्यात्म-साधक। यद्यपि उनकी साधना में व्यष्टि-पक्ष ही प्रबल था तथापि यह कहा नहीं जा सकता कि उनमें समष्टि-वृत्ति का सर्वथा अभाव था। उनकी आत्मा अवश्य ही समाज तथा मानव-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत थी। यही कारण है कि वे अपनी सहज-समाधि से समय-समय पर जाग पड़ते थे और अपने उद्‌गारों द्वारा अपने हृदय की वेदना का परिचय दिया करते थे। जाति, धर्म, वर्ण, वृत्ति आदि के कारण समाज में विषमता का जो उग्र रूप दिखाई पड़ता था उसकी उपेक्षा करना सन्तों के लिए सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने जहाँ, जो भी बुराई देखी उसका तीव्र शब्दों में खण्डन किया और मानव की पहचान के लिए ज्ञान और भक्ति का एक नूतन मान-दण्ड निर्धारित किया। जाति की निन्दा करते हुए कबीरदास ज्ञान की महत्ता यों बताते हैं—

जाति न पूछो साध की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तरवार का पड़ी रहन दो म्यान।[1]

फिर वे कहते हैं :—

"एक जोति ते सब जग उतपना, का बामन का सूद्रा।"

उनके मत में—

"जात-पाँति पूछे नहिं कोय, हरि को भजौ सो हरि का होय।"

कबीर के समय में न केवल हिन्दू-समाज में अर्थहीन बाह्याचार, जाति-गत, कुलगत भेद-भावों का ताण्डव हो रहा था और हिन्दू-धर्म तेजोहीन हो गया

१—कबीर वचनावली—पृ० १२२।

था बल्कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच में भयंकर संघर्ष चल रहा था। इस धर्म भेद के कारण हिन्दू और मुसलमानों के बीच जो द्वेष बढ़ रहा था उसे कबीर ने सत्य ज्ञान का प्रकाश फैला कर दूर करने का प्रयत्न किया। इस कृत्रिम भेद का रहस्य बताते हुए उन्होंने कहा है :—

हिन्दू तुरक कहाँ ते आये किन एह राह चलाई।
दिलमहि सोच विचार कवादे भिस्त दोजक किन पाई।
काजी तै कौन कतेब बखानी।
पढ़त गुनत ऐसे सब मारे किनहू खबर न जानी।
सकति सनेह करि सुन्नति करियै मै न बदौगा भाई।
जौ रे खुदाई मोहि तुरक करैगा आपन ही कटि जाई॥
"सुन्नति किये तुरक जे होइगा औरत का क्या करिए।
अर्द्ध सरीरी नारि न छोड़े ताते हिन्दू ही रहिए।
छाड़ि कतेब राम भजु बौरे जुलम करत है भारी।
कबीर पकरी टेक राम की तुरक रहे पंचि हारी॥२१०॥[1]

जन्म ही से कोई ब्राह्मण या शूद्र अथवा हिन्दू या मुसलमान नहीं होता। इस बात को कबीर ने कितने सीधे और मार्मिक ढंग से कहा है—

जौं तु बाँभन बंभनी जाया। तौं आन बाट हवै क्यों नाहिं आया।
जौं तू तुरक तुरकनीं जाया। तौं भीतर खतना क्यों न कराया॥[2]

कबीर ने निम्नलिखित पद द्वारा भक्ति और ज्ञान का बड़ा ही सुन्दर समन्वयात्मक रूप उपस्थित किया है :—

जा नारि रांम भगति नहीं साधो,
जो जनमत काहे न मूवौ अपराधी॥
गरभ मुचे मुचि भई किन बाँझ,
सूकर रूप फिरै कलि माँझ॥
जिहि कुलि पुत्र न ग्यांन विचारी,
वा की विधवा काहे न भई महतारी॥
कहै कबीर नर सुन्दर सरूप,
रांम भगति बिन कुचल करूप॥१२५॥

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३३१।
२—कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३३१।

राम बिनां धिग-धिग नर नारी,
कहाँ तैं आइ कियौ संसारी ।।
रज बिनां कै सौ रजपूत,
ग्यांन बिना फोकट अवधूत ।।
गनिका कौ पूत पिता कासौं कहै,
गुरु बिन चेला ग्यांन न लहै ।।"[1]

स्वामी दादू दयाल यह उपदेश देते हैं कि मनुष्य-मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है, सब की आत्मा एक ही है। ऐसी परिस्थिति में हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे से कैसे भिन्न हो सकते हैं?—

"कोई स्वामी कोई सेख कहै, इस दुनियाँ का मर्म न कोई लहै।
कोई राम कोई अलह सुनावै, पुनि अलह रांम का भेद न पावे ।।
कोई हिन्दू कोई तुरक करि मानैं, पुनि हिन्दू तुरक की खबरि न जानैं।
यहु सब करणी दून्यूं वेद, समझ परी तब पाया भेद ।।
दादू देखे आतम एक, कहिबा सुनिबा अनन्त अनेक ।।४५।।[2]

संत रज्जब ने कहा है कि जो निगुरे हैं उन्हीं के मन में उच्च-नीच का भेद-भाव स्थिर रहता है और सद्गुरू के द्वारा बिना ज्ञान प्राप्त किये समता का भाव उत्पन्न नहीं होता।

"बिन सतगुर समता नहिं आवै। नीच ऊंच निगुरा सु दृढ़ावै ।।
येकहि पवन येक ही पानी। बुधि बिन बीच वैरता ठानी ।।
येकै आतम येक सरीरा। समझ बिना बड़ अन्तर बीरा ।।
सौंज सबै विधि एक बनाई। दुबिधा दुरमति है रे भाई ।।
सबके नखशिख येक विचारा। येके सबका सिरजन हारा ।।
गुर के ग्यान माहि सब येके। रज्जब अन्ध अग्यान अनेकै ।।[3]

हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र के भेद-भाव पर रज्जब ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है—

हिन्दू तुरक दून्यूं जल बूंदा। कांसू कहये बांमण सूदा।
रज्जब समता ग्यान विचारा। पंच तत्त का सकल पसारा।[4]

१—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १२७, २८।
२—सन्त-सुधा-सार—पृष्ठ ४४५, ४६।
३—वही पृष्ठ ५१६।
४—वही पृष्ठ ५३०।

पंद्रहवीं शताब्दी के उपरान्त लगभग तीन सौ साल तक कबीर, दादू, रज्जब जैसे सन्त कवियों ने जात-पांत, उच्च-नीच, हिन्दू मुसलमान का भेद-भाव दूर करके हिन्दी-प्रदेश के लोक-जीवन को भक्ति और ज्ञान द्वारा ऊपर उठाने का जो महान् कार्य किया वही कार्य बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कर्नाटक के शिवशरणों ने किया था। इन शिवशरणों ने ज्ञान, भक्ति, कर्म और ध्यान का एक समन्वयात्मक साधना-मार्ग स्थापित किया और वर्ण, जाति, धर्म आदि के कारण कर्नाटक के लोक-जीवन में जो विषमता थी उसे दूर करने का उद्योग किया।

श्री बसव, अल्लमप्रभु, सिद्धराम आदि समस्त वीरशैव भक्तों ने तीव्र शब्दों में जात-पाँत, कुल गोत्र के कारण उत्पन्न भेद-भाव का खण्डन किया है। बसव के अनुसार "वही अंत्यज है जो प्राणियों की हत्या करता है। जो गंदी चीजें खाता है वही चाण्डाल है, और वे ही कूडल संगम देव। श्री बसव के आराध्य-देव पर-शिव के भक्त हैं जो सब प्राणियों की भलाई करते हैं।"[१] बसव स्वयं जाति के ब्राह्मण थे और इस जात-पाँत का विरोध करने के लिए उन्होंने उपनयन संस्कार के विषय में अपने माता-पिता का विरोध करके घर का त्याग किया था। यद्यपि बसव के मन में जाति-पाँत का भेद-भाव रत्ती भर भी नहीं था तो भी 'शिवानुभव मटंप' के अन्य शिवशरण कभी-कभी उन्हें संदेह की दृष्टि से देखते थे। इसी कारण से बसव के मन में बड़ी वेदना हुई थी। किसी समय उन्होंने अपनी हृदय-वेदना का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। उनके वचन का भाव इस प्रकार है—"हे कूडल संगमदेव, उत्तम कुल में पैदा होने का कैसा भारी बोझ तुमने मेरे शिर पर लाद दिया है! कक्कय्या, दासय्या, चैन्नय्या जैसे भक्त (ये नीच जाति के लोग थे और शिवानुभव मंटप के सदस्य बने थे) भी मेरे प्रति आदर का भाव नहीं रखते। यदि मेरे पिता डोहर कक्कय्या होते और मेरे दादा चेन्नय्या होते तो कितना अच्छा होता, अवश्य ही मेरा उद्धार हो जाता! मैंने तो श्वपच्य्या से भक्ति के सद्गुणों की शिक्षा पायी है। मैं कैसा अभागा हूँ कि मेरा जन्म ऐसे कष्टदायक कुल में (ब्राह्मण कुल में) हुआ।"[२] वैदिक-शास्त्र-ग्रन्थों के अनुसार यह बताया जाता है कि ब्रह्मा के सिर से ब्राह्मण, उनकी भुजाओं से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य और पैरों से शूद्र का जन्म हुआ है। इस प्रकार के अन्धविश्वास का मज़ाक उड़ाने के

१—बसवण्णनवर षट्स्थलद वचनगळु।

२—वचनशास्त्र सार—भाग १—पृष्ठ ३७६।

लिए शिवशरणों ने यह कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति के अठारह अंगों से अठारह जातियाँ पैदा हुई हैं। एक शिवशरण कहते हैं—"शिर के बालों से ब्राह्मण, आँखों से क्षत्रिय, नाक से वैश्य, अधर से किसान। (ओक्कलिग) कानों से ग्वाला, गले से कुंवार, बाहुओं से अंत्यज, इसी प्रकार अठारह अंगों से अठारह जातियाँ उत्पन्न हुई हैं।"[१]

कबीर की तरह अल्लम बड़े ही ज्ञानी और स्पष्टवादी थे। वे इस प्रकार व्यंग्य कसते हैं—"बताओ तो सही, पत्नी के प्राणों के कितने कुच थे ? क्या ब्राह्मणों के प्राणों के साथ यज्ञोपवीत लगा था ? चाण्डाल के प्राणो ने ही क्या अपने हाथ में लाठी ले रखी थी ? तुमने ही तो यह सारा बखेड़ा खड़ा किया है ? जगत के जड़बुद्धि वाले लोग इसे क्या जाने ?"[२] सिद्धराम का यह स्पष्ट कथन है कि "जाति और गोत्र के कारण से कोई भी मोक्ष नहीं पा सकता। मोक्ष के लिए ज्ञान ही साधन है। जो ब्रह्म को जानता है वही ब्राह्मण है। वेद-पाठ करने से कोई भी ब्राह्मण नहीं बनता।[३] देवरदासिमय्या नामक शिवशरण उसी को कुलीन मानते हैं जो सदाचारी है और वही नीच कुल का आदमी है जो अनाचारी हैं।[४]

शिवशरणों ने आत्मज्ञानी को बड़ा माना है। बसव ने आत्मज्ञान के स्वरूप का वर्णन संक्षेप में किन्तु स्पष्ट शब्दों में किया है—"हे कूडल संगम देव, जो व्यक्ति अपने को समझता है, अपने अज्ञान, असत्य, आशा, आचार-विचार आदि का परिचय पाकर अपने दुर्गुणों को दूर करता है और अपने आप में दृढ़ रहता है वह स्वयं ही मायातीत है, गुणातीत है, सगुण-निर्गुणातीत है तथा स्वयं ही साकार-निराकार चैतन्य-स्वरूप है और वह स्वयं निज वस्तु (परब्रह्म) है। यह निश्चय है।"[५] आदय्या नामक दूसरे एक शिवशरण ज्ञान का वर्णन यों करते हैं—"जब तन में निर्मोह, मन में निरहंकार, प्राण में निर्भय, चित्त में निरपेक्ष, विषय में उदासीन, भाव में दिगंबर, ज्ञान में परमानन्द-भाव स्थापित होता है तब सोमेश्वरलिंग (आदय्या का उपास्य

१—वचन शास्त्र सार—भाग १—पृष्ठ ३६२, ६३।
२—वही पृष्ठ ३६५।
३—वही पृष्ठ ३६७।
४—वही
५—वचन शास्त्र रहस्य—भाग १—पृष्ठ ५८।

देव) दूसरा कोई पदार्थ नहीं है अर्थात् ऐसी स्थिति में ईश्वर का साक्षात्कार होता है ।"[१]

प्रसिद्ध वीरशैव संत सर्वज्ञ ने भक्ति और ज्ञान दोनों की आवश्यकता बतायी है—"ज्ञान से कोई बड़ी वस्तु नहीं है और कुत्ते से कोई नीच प्राणी नहीं हैं । सूर्य-मण्डल से बढ़ कर कोई प्रकाश नहीं है । जगत में ज्ञान ही बड़ा है । ज्ञान से ही मनुष्य का इह और पर है । यदि ज्ञान न हो तो अन्य सब वस्तुओं से कोई लाभ नहीं है ।"[२]

हिन्दी के सन्तों की तरह कर्नाटक के शिवशरणों के सामने हिन्दू-मुसलमान समस्या नहीं थी । उनका विरोध विशेष रूप से ब्राह्मण जाति से ही था । इन शिवशरणों का अनुकरण करते हुए कर्नाटक के हरिदासों में पुरन्दर दास तथा कनकदास ने भी जात-पाँत उच्च-नीच, छूत-छात आदि का विरोध किया है । पुरन्दरदास पूछते हैं कि जिनको हम अछूत कहते हैं क्या वे गाँव के बाहर रहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर वे स्वयं देते हैं और कहते हैं कि जिनमें शील नहीं है वे ही अछूत हैं । हरि-कथा सुनाने पर भी जो नहीं सुनते, राजा के सेवक होकर भी जो उनका अहित चाहते हैं, जो वेश्यागामी हैं वे ही शुद्ध अछूत हैं । अछूत वे हैं जो अपना कर्ज़ा चुकाते नहीं, जो नीचता का व्यवहार करते हैं, जो नमक हराम हैं, जो पत्नी की इच्छा के अनुवर्ती हैं, सम्पत्ति के रहते हुए भी ज़ो दान नहीं देते, जो दूसरों को विष देकर मार डालते हैं, जो सत्य और विनय का व्यवहार नहीं करते, जो अपने को पवित्र समझते हैं, वचन देकर उसका पालन नहीं करते, जो परोपकार नहीं करते, जो असत्य बोलते हैं, जो धोखा देते हैं, जो आचारवान् नहीं हैं, जो परस्त्री पर मोहित होते हैं और जो गुरु और बड़ों का आदर नहीं करते वे अछूत हैं ।"[३]

कनकदास जी कुल की चर्चा करते हुए कहते हैं कि तुम लोग व्यर्थ ही कुल की बात पर लड़ मरते हो । कुल का मूल रहस्य कोई नहीं जानता । कौन ऐसा है जो किसी योनि से पैदा नहीं होता, और कौन ऐसा है जो ज़मीन पर नहीं चलता ? हे मानव, इन सब बातों को छोड़ दो, सर्वज्ञ परमात्मा का स्मरण करो। सब कुलों की माता जल है और क्या बता सकते हो कि जल का

१—वचन शास्त्र रहस्य—भाग १, पृष्ठ ५५ ।
२—सर्व ज्ञान वचनगळु—उत्तंगि—पृष्ठ ४०, ४१ ।
३—श्रीहरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग २, पृष्ठ १०५, १०६ ।

कौन कुल है ? यह शरीर बुलबुले की भाँति अस्थिर है, इस रहस्य को जानकर हे मानव, भगवान् का स्मरण करो। हरि सर्वोत्तम है, हरि ही सर्वेश्वर है, सब कुछ हरिमय है। कुलीन वही है जो सिरिकागिनेलेयादिकेशव के चरण-कमलों की कीर्ति का गान करते हैं।"[1] श्री मोहनदास का यह कथन है कि "वासुदेव का नाम स्मरण करने वाले ही कुलीन हैं, भगवान् की भक्ति करने वाले ही सर्वोत्तम हैं। विदुर और वाल्मीकि की कौन-सी जाति थी ? श्रीहरि का दास बनो। वे ही तुम्हारा उद्धार करेंगे।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के सन्तों तथा कर्नाटक के शिवशरणों और हरिदासों ने जात-पाँत, छुआ-छूत आदि का खण्डन किया है तथा ज्ञान और भक्ति की श्रेष्ठता समझायी है।

हिन्दी के सगुण-मतावलम्बी भक्तों ने भी जात-पाँति, ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं माना है। भक्त शिरोमणि सूरदास के विचार इस सम्बन्ध में इस प्रकार हैं :—

जन की और कौन पति राखै ?
जाति-पाँति-कुल-कानि न मानत, वेद-पुरानन साखे।[3]

अवतारवाद, मूर्ति-पूजा तथा पौराणिक विश्वासों का विरोध

भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम, एकेश्वर पर दृढ़ विश्वास, मनुष्य-मनुष्य के बीच में सम्पूर्ण समानता का भाव इत्यादि ऐसे कुछ सार्वभौम तत्व हैं जिनके आधार पर सर्व-धर्म-समन्वय की कल्पना की जाती है। हिन्दी के सन्त कवियों की वाणियों में ये सार्वभौम-तत्व अवश्य पाए जाते हैं। किन्तु सर्व-धर्म-समन्वय की सिद्धि के लिए और भी कुछ बातों की आवश्यकता होती है। ये बातें हैं सभी धर्मों के बाह्य आचारों और संस्कारों के प्रति पूरी सहिष्णुता तथा सम्मान की दृष्टि। कबीर तथा अन्य सन्तों की विचार-धारा में इन बातों का सम्पूर्ण अभाव था। धर्मगत विशेषताओं के प्रति सहनशीलता और संभ्रम का भाव भी उनके पदों में नहीं पाया जाता। अर्थहीन बाह्याचारों, पूजा-संस्कारों और पौराणिक विश्वासों के वे कट्टर विरोधी थे। क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि इन्हीं बातों के कारण समाज में व्यर्थ के विवाद, झगड़े और अनाचार

१—कनकदासर कीर्तनगळु—भाग १—पृष्ठ ६३।
२—दासरपद संग्रह—(उडुपि का प्रकाशन) पृष्ठ ८५।
३—सूरसागर—प्रथम स्कंध—पृष्ठ ५।

उत्पन्न हुए हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जब तक ये बुराइयाँ निर्मूल नहीं की जातीं तब तक व्यक्तिगत साधना भी सम्भव नहीं है। इसलिए जब-जब मौका मिला तब-तब उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, शास्त्र-ग्रंथ, मठ-मन्दिर, पण्डे-पुजारी आदि का तीव्र शब्दों में विरोध किया है। यद्यपि हिन्दी के सन्तों और कर्नाटक के शिवशरणों की साधना-पद्धतियों में भिन्नता की बहुत सी बातें पायी जाती हैं तथापि उपर्युक्त विषयों में दोनों की विचार-धारा मिलती-जुलती है। शिवशरणों ने भी अवतार, मूर्ति-पूजा, पौराणिक विश्वास आदि का कभी कभी इतने कठोर शब्दों में खण्डन किया है कि उनकी वाणी संतुलन की सीमा पार कर गई है और वे अपने भक्त-स्वरूप को छोड़ कर शास्त्रार्थ करने वाले मताचार्यों के रूप में प्रकट हुए हैं। नीचे दिए गए कुछ उद्धरणों द्वारा दोनों प्रकार के भक्तों की विचार-धारा का थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है।

मूर्ति-पूजा को व्यर्थ बताते हुए कबीरदास जी कहते हैं—

पांहन कु का पूजिए, जे जनम न देई जाब।
अन्धा नर आसामुषी, यौहीं खोवै आब ॥३॥
हम भी पांहन पूजते होते रन के रोझ।
सत गुरु की कृपा भई, डार्या सिर तैं बोझ ॥४॥[1]

जब प्रत्येक आत्मा एक एक शालिग्राम है और वह साधु के रूप में प्रत्यक्ष है तब पत्थर से क्या काम ?

जैती देखौ आत्मा तेता सालिगराम।
साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सू काम ॥४॥[2]

यद्यपि परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता तो भी सब के शरीरों में व्याप्त है "सब घट व्यापक ह्वै रहा सोई आप अलेख"। जिस प्रकार 'तिल माहीं तेल है', चकमक में अग्नि है उसी प्रकार परमात्मा प्रत्येक वस्तु में समाया हुआ है। जो मूर्ख हैं वे ही भगवान को बाहर ढूँढ़ने जाते हैं—"मूरख लोग न जानहीं बाहर ढूंढन जाहिं।" इसलिए कबीर का मत है कि मूर्ति-पूजा का कोई अर्थ नहीं है। यदि पत्थर की पूजा करने से परमात्मा मिलता है तो कबीर भी पत्थर की पूजा करने के लिए तैयार हैं। लेकिन मूर्ति की पूजा करने की अपेक्षा किसी चक्की की पूजा करना लाभकारी है। क्योंकि उससे कुछ पीसकर रोज़ी प्राप्त की जा सकती है—

१—कबीर ग्रन्थावली—पृ० ४४।
२—वही

पाहन पूजे हरि मिलै मैं भी पूजूं पहार ।
पाहन ते चाकी भली पीस खाय संसार ॥

जब मूर्ति-पूजा से कोई मतलब नहीं है तब न तीर्थयात्रा की जरूरत है न मन्दिर जाने की ही । यह शरीर ही सब मन्दिरों का प्रतीक है—

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि ।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि ॥१०॥

कबीर दुनियाँ देहुरै, सीस नवांवण जाइ ।
हिरदा भीतरि हरि बसै, तू ताही सौं ल्यौ लाइ ॥११॥[1]

दादू भी कबीर के स्वर में स्वर मिला कर कहते हैं :—

झूठे देवा झूठी सेवा, झूठी करै पसारा ।
झूठी पूजा झूठी पाती, झूठा पूजनहारा ॥[2]

पत्थर की पूजा करना दादू के विचार में आत्मघात का ही काम है—"पाहन की पूजा करै करि आतम घाता" ।

वीर-शैव सम्प्रदाय के अनुसार पर-शिव के प्रतीक के रूप में शरीर पर लिंग धारण करना और उसकी पूजा करना अनिवार्य है । लेकिन किसी मन्दिर में लिंग या मूर्ति की पूजा करना उसकी साधना-पद्धति में स्वीकृत नहीं है । अतः वीर-शैव भक्तों ने मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा आदि का विरोध किया है । अल्लम प्रभु मूर्ति-पूजा की चर्चा करते हुए कहते हैं—

> "पत्थर की मूर्ति बना कर पत्थर के मन्दिर में उसकी स्थापना करते हो ! एक पत्थर को दूसरे पत्थर पर रखने से न जाने भगवान कहाँ भाग जाते हैं ! जो इस प्रकार मन्दिर में लिङ्ग की स्थापना करते हैं उन्हें निश्चित ही महानरक प्राप्त होता है ।

अक्कमहादेवी मूर्ति पूजा के साथ ही तीर्थों की आलोचना करते हुए कहती हैं—

> "जब हाथ में ही दूध है तब मक्खन की क्यों खोज की जाय ? जब हाथ में ही इष्ट लिंग (गुरुद्वारा दीक्षा के समय दिया हुआ लिंग जो परतत्व का ही प्रतीक माना जाता है) वर्तमान है तब पुण्य-तीर्थों

१—कबीर ग्रन्थावली—पृ० ४४ ।
२—दादू की वाणी—राग रामकली—१९७ ।
३—वचन शास्त्र सार—भाग १, पृ० ३२५ ।

की यात्रा क्यों की जाय ? जब लिंग का पादतीर्थ तथा प्रसाद मिल गया है तब अन्य शास्त्र-बोध की क्यों इच्छा की जाय ? यदि कोई इष्ट-लिंग के रहते समय स्थावर-लिंग (मन्दिर में स्थापित लिंग) की शरण में जावे तो वह कुत्ते के पेट में पैदा होगा। क्योंकि शिव धर्म पुराण में कहा गया है "इष्ट लिंगअविश्वस्य तीर्थ लिंगं नमस्कृतः। श्वानयोनि शतंगत्वा चाण्डालगृहमाचरेते"— अतः जिस लिंग को गुरु ने दिया है उसी को सभी तीर्थ-क्षेत्र समझ कर मुक्ति की साधना करनी चाहिए। ऐसा न करके जो गुरु द्वारा प्रदत्त लिंग का आदर नहीं करते और तीर्थों में स्थापित लिंगों की पूजा करते हैं उन्हें अघोर नरक भोगना पड़ेगा।"[१]

जिस प्रकार कबीर के मत में पोथी पढ़ कर कोई पण्डित नहीं होता और प्रेम के दो अक्षर पढ़ने पर सब कोई पण्डित हो जाते हैं उसी प्रकार अल्लम प्रभु का विचार है कि पोथी पढ़-पढ़ कर नाद, वाद का रूप ग्रहण करता है, शास्त्र सुन-सुन कर संदेह बढ़ता जाता है किन्तु ब्रह्म-ज्ञान की उपलब्धि किसी को नहीं होती। सकल वेद-शास्त्र-पुराणों का पठन-पाठन जब तक बन्द नहीं किया जाता तब तक पर-शिव का ज्ञान नहीं हो सकता। अल्लम प्रभु बहुत ही सुन्दर रूपक द्वारा अपने विचार व्यक्त करते हैं—

"अज्ञान रूपी पालने में ज्ञानरूपी शिशु को सुलाकर सकल वेद-शास्त्र रूपी रस्सी के सहारे भ्रान्ति रूपी माता लोरी गाते हुए झुला रही है। जब तक पालना टूट नहीं जायगा और रस्सी कट न जायेगी तब तक लिंग ज्ञान (शिव-ज्ञान) प्राप्त नहीं होगा।"[२]

मडियाव्ठ माचप्पा नामक शिवशरण एक ओर वेद-पुराण-आगमों की निन्दा करते हैं और दूसरी ओर लिंग धारण करने तथा अनुभाव अर्थात् आत्म-ज्ञान की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं। उनकी वाणी में [illegible]ों के भावावेश का स्पष्ट परिचय मिलता है। उनके वचन का भावार्थ इस प्रकार है—

'वेद ब्राह्मणों का जंजाल है, शास्त्र बाज़ार की गप है, पुराण निठल्लों की गोष्ठी है, आगम असत्य की वाणी है और तर्क

१—वचन शास्त्र सार—भाग १—पृ० ३२६, २७।

२—वचन शास्त्र सार—भाग १—पृ० ३६१।

व्याकरण वितण्डा है। जिनके शरीर पर लिंग नहीं अनुभाव (आत्मज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती।"[१] बसवेश्वर मूर्ति-पूजा का खण्डन करते हैं और आत्म-ज्ञान द्वारा 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इसका रहस्य समझाते हैं। 'पत्थर का ईश्वर ईश्वर नहीं है, मिट्टी का ईश्वर ईश्वर नही है, काठ का ईश्वर ईश्वर नहीं है और सेतुबंध, रामेश्वर, गोकर्ण, काशी, केदार आदि पुण्य क्षेत्रों के मन्दिरों में स्थित ईश्वर ईश्वर नहीं है। अपने आपको जान लेने पर स्वयं ही ईश्वर है।[२]

कबीर तथा सन्त परम्परा के सभी भक्तों ने 'राम' को अपना उपास्य-देव' बना लिया था। पर, उनके राम पुराणों में प्रतिपादित अवतारी राम नहीं थे। उनके राम सगुण-निर्गुण से परे, पिण्ड और ब्रह्माण्ड से परे, रूप और अरूप से परे थे। इन सन्तों के राम कबीर के शब्दों में अखिगत, अविकल तथा अनूपम पर-ब्रह्म राम थे, जिनका शब्दों में उसी तरह वर्णन नहीं किया जा सकता जिस तरह गूँगा गुड़ खाकर गुड़ की मिठास को शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता और संकेत-मात्र करके रह जाता है।

'दसरथ सुत तिंहु लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना' कथन द्वारा कबीरदास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके राम अवतारी राम नहीं हैं। अवतारवाद का खण्डन करने वाले कबीर अपने राम को अवतारी राम कैसे मान सकते थे? सन्तों ने अपने उपास्य-देव राम को अकसर हरि, गोविंद, माधव, गोपाल, निरंजन, रहीम, करीम, अल्ला इत्यादि नामों से भी संबोधित किया है। किन्तु ये सब नाम उसी राम के अर्थ में लिए गए हैं जो भावाभाव-विनिर्मुक्त, अलख, अगोचर तथा प्रेम-पारावार है।

गुरु नानक ने हिन्दू और मुसलमान दोनों की एक साथ आलोचना की है जो इस प्रकार है :—

कोइ बोले राम नाम कोई खुदाइ। कोई सवै गुसइयाँ कोई अलाहि।
कारण करण करीम। किरपाधारि रहीम॥

कोई नावै तीरथि कोई हज जाइ। कोई करै पूजा कोई सिरू निवाइ।
कोई पढ़ै वेद कोई कतेब। कोई ओढ़ै नील कोई सुपेद।

१—वचनशास्त्र सार—भाग १—पृष्ठ ३६०।
२—वही पृष्ठ ५३।

कोई कहै तुरकु कोई कहै हिन्दू । कोई बछै भिसतु कंई सुरगिंदू ।
कहु नानक जिनि हुकुम पछाना । प्रभु साहिब का तिनि भेदु जाना ।[1]

वेश और बाह्याडम्बर का विरोध तथा नैतिक जीवन का महत्व

पिछले अध्याय में उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है जिस समय हिन्दी और कन्नड प्रदेशों में सन्तों का आविर्भाव हुआ था। वस्तुतः इन सन्तों को युग-धर्म की महान् देन ही समझना चाहिए। ये संत, समाज की जिस सतह से आविर्भूत हुए थे उसकी अवस्था अत्यन्त चिन्तनीय थी और उसमें मानव-आत्मा का दम घुट रहा था। सामाजिक तथा धार्मिक समस्त विधि-विधान, जिनका एकमात्र उद्देश्य व्यक्ति-संरक्षण तथा संवर्धन द्वारा समाज एवं राष्ट्र-कल्याण था, अब समाज के दुर्बल अंग के शोषण और उत्पीड़न के प्रधान साधन बन गए थे। जितने शास्त्र-ग्रंथ और शास्त्र-पण्डित थे वे सभी इस शोषण के पोषक थे। संतों का जीवन-दर्शन किसी भी मत-धर्म के शास्त्र-ग्रन्थों पर आधारित नहीं था और ऐसा करना न उनको पसन्द ही था। वे अपनी आत्मानुभूति के प्रकाश को मार्ग-दर्शक मानकर चलने वाले साहसी थे और सत्यान्वेषण ही उनका मुख्य उद्देश्य था। वे अपने इस सत्यान्वेषण के लिए व्यक्ति-साधना को ही प्रबल अवलम्ब मानते थे। लेकिन यह समझना कि वे समाज-कल्याण के प्रति बिलकुल निरपेक्ष-भाव रखते थे, उनके प्रति अन्याय करना है। क्योंकि व्यक्तिगत-साधना में संलग्न होकर जिस विचार-धारा का उन्होंने दृढ़ता के साथ प्रचार किया है वह मानव-कल्याण की भावना से ओतप्रोत थी। यदि वे अपने आत्म-कल्याण को पृथक मानते तो प्राचीन ऋषि-मुनियों की तरह जगत का त्याग करके जंगलों में जाकर बास करते। लेकिन ये संत ऐसे नहीं थे। ये समाज के साधारण व्यक्तियों की भाँति गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हुए अपनी साधना चलाते थे। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संतों के जीवन-दर्शन में व्यक्ति-कल्याण के साथ साथ समाज तथा मानव कल्याण की भावना निहित थी। वास्तव में ये संत अपने इर्दगिर्द के सामाजिक जीवन का सही प्रतिविम्ब अपने मन रूपी दर्पण में देखा करते थे जिसकी प्रतिक्रिया का स्पष्ट चित्र उनकी वाणियों में मिलता है। जहाँ उन्होंने जात-पाँत, अवतारवाद, पौराणिक विश्वास, तीर्थयात्रा, मूर्ति-पूजा के कारण समाज

१—संत सुधा सार—पृष्ठ ३४७।

में चलने वाले सभी अनाचारों तथा पाखण्डों का तीव्र शब्दों में खण्डन किया है वहाँ सदाचार, सरल जीवन तथा आत्मशुद्धि पर ज़ोर दिया है। वेष-भूषा, बाह्याडम्बर आदि को उन्होंने व्यर्थ बताया है, क्योंकि इनकी बाढ़ में जितनी बुराइयाँ फैली थीं उनसे वे भलीभांति परिचित थे। उनका मत था कि आत्मोपलब्धि के लिए नैतिक जीवन बिताना अत्यन्त आवश्यक है। वे स्वयं आदर्श का जीवन व्यतीत करते हुए दूसरों को भी सत्य, अहिंसा, दया, विनय, त्याग, वैराग्य आदि का सदा उपदेश देते थे। हिन्दी के संत कवियों को बाह्याडंबर वेश-भूषा, तिलक-छाप आदि से बड़ी चिढ़ थी। इन चीजों के कारण जहाँ भी उन्होंने पाखण्ड, ढोंग देखा खूब फटकार सुनायी है। ऐसे समय में कभी-कभी उनकी वाणी शिष्टता की सीमा भी पार कर जाती थी। नैतिक बातें सुनाते समय वे कही-कही धार्मिक उपदेशकों के समान दिखाई देते हैं। यद्यपि वेश, बाह्याडम्बर आदि की निंदा करने में उनकी वाणी में कटुता दिखाई देती है तो भी उनके हृदय में किसी व्यक्ति या धर्म के प्रति कटुता की भावना नहीं रहती थी। क्योंकि वे पहुँचे हुए ज्ञानी तथा संत थे।

यद्यपि कर्नाटक के शिवशरणों तथा हरिदासों ने अपना अपना अलग धार्मिक सम्प्रदाय चलाया था और अपने-अपने सम्प्रदाय-सम्बन्धी मंत्र, तिलक, नियम आदि पर उनकी पूरी श्रद्धा थी तो भी वे वेश, बाह्याडम्बर आदि के विरोधी थे। इसके अतिरिक्त नीति का उपदेश देने में हिन्दी के संतों से वे पिछड़े हुए नही थे। इन सभी भक्तों ने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य के साथ साथ सत्य, दया, अहिंसा, विनय, सरल जीवन, आत्मशुद्धि आदि पर विशेष ज़ोर दिया है। दोनों प्रदेशों के भक्तों के कतिपय पदों द्वारा उपर्युक्त कथन की पुष्टि की जा सकती है।

नंग-मुकुन्दमणि कबीरदास जी उन लोगों को लक्ष्य करके कहते हैं जो हाथ में माला फेरते रहते हैं, लेकिन मानसिक विकारों से मुक्त नहीं हैं,

माला फेरत जुग गया फिरा न मन का फेर।
करका मनका डारि दे मनका मनका फेर ॥१३६॥[1]

जिनका मन चंचल है और दसों दिशाओं में चक्कर काटता है वे दिखावे के लिए हाथ में माला फेरते रहते हैं। कबीर के अनुसार ऐसा ढोंग रचना ठीक नहीं है—

१—कबीर वचनावली—पृष्ठ १०५।

माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवां तो दहुं दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं ॥१४०॥[1]

जो लोग शिर मुंडा कर भक्त होने का ढोंग रचते हैं उनके प्रति कबीर का व्यंग्य कैसा चोट पहुँचाने वाला है—

मुण्ड मुडाए हरि मिले सब कोइ लेहि मुंडाय।
बार बार के मूंडने भेड़ न बैकुण्ठ जाय ॥३६१॥

केसन कहा बिगारिया जो मूंडौ सौ बार।
मन को क्यों नहिं मूंडिए जामैं विषै विकार ॥३६२॥[2]

कबीरदास जी जब नीति का उपदेश देते हैं तब उसमें भी भक्ति की ओर संकेत रहता है। वेश का इसीलिए वे खण्डन करते हैं कि भक्ति और वेश में जमीन आसमान का फ़रक रहता है। भक्ति से गुरु-चरणों में मन लगता है और वेश से जगत की आशा बढ़ती है।[3] उनके विचार में सत्य से बढ़कर तप नहीं है और असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं है। क्योंकि जिसके हृदय में सत्य है उसके हृदय में स्वयं परमात्मा वास करते हैं।[4] समाज में जितने झगड़े होते हैं उनका एक तो मुख्य कारण बदला लेने की प्रवृत्ति है। कबीर कहते हैं कि बुराई करने वालों के प्रति बुराई नहीं करनी चाहिए। क्योंकि हमारी बुराई का फल बुराई है और अच्छाई का फल अच्छाई है।[5] असल में जब तक अपने मन से बुराई को बाहर नहीं निकालते तब तक दूसरों में बुराई ढूँढने की प्रवृत्ति रहेगी ही। अतः कबीर कहते हैं कि जब मैं बाहरी दुनियाँ में बुरा देखने निकला तब कोई भी बुरा आदमी नहीं मिला, जब मैंने अपने ही दिल में खोजा तो मालूम हुआ कि मुझसे बढ़कर बुरा दूसरा कोई नहीं है।[6] कबीरदास जी बड़े ही मधुर स्वभाव के व्यक्ति थे। वे ऐसा मधुर व्यवहार करते थे कि मुँह से कठिन शब्द निकालना तक अनुचित समझते थे। वे कहते हैं:—

१—कबीर वचनावली पृष्ठ १०६।
२—वही पृष्ठ १२४।
३—वही पृष्ठ १०१।
४—वही पृष्ठ १४५।
५—वही पृष्ठ १३२।
६—वही पृष्ठ १४५।

ऐसी वाणी बोलिए, मनका आपा खोइ।
अपना तन शीतल करै, औरन कौं सुख होइ ॥६॥[1]

कबीरदास महान् भक्त और ज्ञानी ही नहीं थे वरन् एक महात्मा भी थे।

दादूदयाल वेश और बाह्याडम्बर की निंदा करते हुए कहते हैं :—

'दादू कनक कलस विषसूं भरचा सो किस आवै काम।'

उनका मत है कि सच्चे और स्वांग रचने वाले साधुओं में ज़मीन आसमान का अन्तर है। सच्चे साधु तो राम में रत रहते हैं और वेशधारी साधु जगत की आशा करते हैं।[2] दादू वेशधारी की तुलना वेश्या से करते हैं—

पीव न पावै बावरी, रचि रचि करै सिंगार।
दादू फिरि फिरि जगत सूं करैगी बिभचार ॥२८॥[3]

सचाई का व्यवहार करने पर ही भगवान का साक्षात्कार हो सकता है न कि वेश बनाने से—

दादू सचु बिन सांई ना मिले, भावै भेष बनाइ।
भावै करवत उरध मुपि, भावै तीरथ जाइ॥
दादू सांचा हरि का नांव है सो लै हिरदे राषि।
पाषण्ड प्रपंच दूरि करि सब साधौ की साषि ॥४१॥[4]

निराकार परत्मामा को प्रसन्न करने का उपाय मलूकदास यों बताते हे—

ना वह रीझै जप तप कीन्हे, ना आतम को जारे।
ना वह रीझै धोती नेती, ना काया के पखारे।-
दाया करै धरम मन राखै, घर में रहै उदासी।
अपना सा दुख सब का जाने, ताहि मिले अविनासी॥
सहै कुसबद बाद ही त्यागै, छांड़े गर्व गुमाना।
यही रीझ मेरे निरंकार की, कहत मलूक दिवाना॥[5]

स्वामी सुन्दरदास जी ने अपनी सर्वांगयोग-प्रदीपिका में जिस भक्तियोग का निरूपण किया है उसमें नैतिक जीवन का ऊँचा आदर्श उपस्थित किया

१—कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ ५७।
२—स्वामी दादू दयाल को वाणी—पृष्ठ २१२।
३—वही पृष्ठ २१४।
४—वही पृष्ठ २१५।
५—हिन्दी संत काव्य संग्रह—पृष्ठ २७७।

है। चाहे गृहस्थ हों, चाहे उदासी सब को उन्होंने जितेन्द्रिय होना अत्यन्त आवश्यक बताया है। इस भक्ति-योग की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

× × ×

शील संतोष क्षमा उरधारै। धीरज सहित दया प्रति पारै।
दीन गरीबीं राखै पासा। देखै निर्पख भया तमासा॥
मान महातम कछू न चाहै। एकै दशा सदा निवाहै।
राव रंक की शंक न आनै। कीरी कुंजर समकरि जानै।
आतम दृष्टि सकल संसारा। संतनि कौ राखै अधिकारा॥
वैर भाव काहू नहिं करई। सतगुरु शब्द हृदे में धरई॥[1]

× × ×

कर्नाटक के शिवशरणों के वचनों में बहुत-से ऐसे हैं जिनमें बाह्याडम्बर की कटु आलोचना की गयी है और शील, सत्य, सदाचार की आवश्यकता बतायी गई है। दादूदयाल की तरह मेरे विण्डदेव नामक शिवशरण वेश-धारियों की तुलना वेश्याओं से करते हुए कहते हैं—

> "वेश कहाँ नही है ? वेश्या में, जादूगरों में वेश अपने नाना रूपों में विद्यमान है। वेश बनाकर पेट भरने वाली दासियों तथा वेश्याओं के पुत्रों को भक्ति कैसे प्राप्त होगी ? क्योंकि आचार ही भगवान का प्राण है।"[2]

वेशधारियों को देखकर भक्त बसव अपने मन में खिन्न होते हैं और दूसरों के अपराध के लिए अपने को ही अपराधी ठहरा कर अपने प्रभु कूडल-संगमदेव से यों निवेदन करते हैं—

> "प्रभो, मैं तो भक्त नहीं हूँ, मैं एक वेशधारी हूँ, एक कसाई हूँ, हत्यारा हूँ, मैं तुम्हारे भक्तों के घर का गुलाम हूँ।[3] बसव की यह धारणा है कि देवलोक और मर्त्यलोक और कहीं नहीं हैं। सत्य बोलना ही देव लोक है, असत्य बोलना ही मर्त्यलोक है, आचार ही स्वर्ग है और अनाचार ही नरक है।"[4] वे अपने एक

१—संत सुधा सार—पृष्ठ ५८२।
२—वचन शास्त्र सार—भाग १, पृ० १५८
३—वही पृ० १६५।
४—वही पृ० १२६।

वचन में घोषित करते हैं कि दया धर्म का मूल है।[1] इसमें संदेह नहीं है कि वे एक सिद्ध पुरुष थे। उनके जीवनादर्श की सुन्दर झांकी निम्नलिखित वचन में मिल जाती है। वचन का भावार्थ है—"जो मुझे मारते है उन्हें मैं अपना रक्षक समझता हूँ, जो गाली देते हैं उन्हें मैं अपना बंधु समझता हूँ, जो मेरी निन्दा करते हैं उन्हें मैं अपना माता-पिता समझता हूँ, जो मेरा बध करना चाहते है उन्हें मैं अपना पालक समझता हूँ, जो मेरा निरादर करते हैं उन्हें मैं सगे बन्धु समझता हूँ। जो मेरी प्रशंसा करते हैं उन्हें मैं छाती में छुरा भोंकने वाला समझता हूँ।"[2]

इसी भाव से मिलता-जुलता कबीर का निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है—

निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छबाय।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करै सुभाय ॥५३६॥[3]

शिवशरणों ने जिस प्रकार के नैतिक जीवन की कल्पना की थी उसमें शील और सदाचार को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। प्रसिद्ध शिवशरण तोंटद सिद्धलिंग ने सदाचार की महत्ता समझाते हुए कहा है—

"जिस गुरु में आचार नहीं है वह भूत के समान है, जिस लिंग में आचार नहीं है वह निरा पत्थर है, आचाररहित पादोदक निरा पानी है, आचाररहित प्रसाद जूठन है, आचाररहित भक्त दुष्कर्मी है। जिस प्रकार छतपर जाने के लिए सोपान आवश्यक है उसी प्रकार शिव-पद प्राप्त करने के लिए गुरु का बताया हुआ सदाचार ही सोपान है। गुरु के उपदेश का जो अनादर करते हैं उन पापियों का मुँह तक नहीं देखना चाहिए।"[4]

बसव के समकालीन शिवचरण चेन्नबसवेश्वर ने शील का वर्णन करते हुए नैतिक जीवन का उच्च आदर्श उपस्थित किया है। उनके वचन का भाव इस प्रकार है—

"भाइयो, श्रीगुरू, शील, शील कहते हुए ऐंठकर चलते हो किन्तु शील किसे कहते हैं, यह तुमको मालूम नहीं है। जो कुछ अपने

१—वचन शास्त्र सार—भाग १, पृ० १३१।
२—वही पृ० १४२।
३—कबीर वचनावली—पृ० १३६।
४—वचन शास्त्र सार—भाग १, पृ० १२४।

पास है उसे देने में किसी प्रकार की अनुदारता नहीं दिखाना ही शील है, जो कुछ अपने पास नहीं है उसे पाने के लिए उधार नहीं लेना ही शील है, अन्य देवों के सामने शिर नहीं झुकाना ही शील है, परधन, परस्त्री को नहीं छूना ही शील है, गुरु और हर की निन्दा नहीं सुनना ही शील है और शिव-शरणों के आगमन पर उनकी सेवा में अपने शरीर को लगा देना ही शील है।"[१]

शिवशरणों ने शील की व्याख्या करने के लिए सैकड़ों वचन लिखे हैं। उनके अनुसार काम, मोह आदि को जीतना शील है, सत्य बोलना शील है, जात-पाँत और उच्च-नीच का भेद-भाव न रखना शील है, किसी को दुःख न पहुँचाना शील है, व्रत-नियम, तीर्थयात्रा, मूर्ति-पूजा, वेद-पुराण-पठन आदि पर विश्वास न रख कर निर्मल अन्तःकरण से शिव की भक्ति करना शील है। वस्तुतः उनके लिए शील और सदाचार पर्यायवाची शब्द हैं।

जिस प्रकार कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के व्यर्थ के बाह्याचारों पर फटकार बताई है उसी प्रकार शिवशरण सर्वज्ञ ने अपने पदों में वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले समस्त विधि-नियमों की कटु आलोचना की है। 'त्रिपदि' नामक एक छोटे छन्द में कही गई सर्वज्ञ की नीति की अनूठी बातें कहावतों की भाँति उसी तरह प्रसिद्ध हैं जिस तरह दोहों में कही गई हिन्दी के सन्तों की वाणियाँ लोकप्रिय हैं। आत्म-शुद्धि के बिना जो लोग तीर्थ-स्थानों में जाकर पानी में डुबकी लगाते हैं उनको लक्ष्य करके सर्वज्ञ कहते हैं—"यदि रोज पानी में डूबने से कोई स्वर्ग जा सकता हो तो पानी में पैदा होकर पानी में ही सदा रहने वाला मेंढक स्वर्ग पर क्यों नहीं चढ़ेगा ?"[२] सर्वज्ञ ने न केवल ब्राह्मण, जैन, नाथपन्थी, शाक्त आदि अन्य मतावलम्बियों के बाह्याचार, पाखण्ड का खण्डन किया है बल्कि वेशधारी वीरशैवों की भी खूब निन्दा की है। "यदि शरीर पर भस्म पोत लेने से कोई स्वर्ग चढ़ सकता हो तो बेचारा गधा स्वर्ग क्यों नहीं चढ़ सकेगा ?"[३] सर्वज्ञ के मत में जो सत्य बोलते हैं वे ही उत्तम ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण किसी एक अलग जाति का नाम नहीं है। उनके अनुसार जो परोपकार करते हैं उनको इस

१—वचन शास्त्र सार—भाग १, पृ० ३१४।
२—सर्वज्ञ वचनगच्छु—चे० उत्तंगि—पृ० १२६,
३—वही

जगत में फिर से जन्म लेने का कोई भय नहीं है। नैतिक जीवन की महत्ता से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी कोई समस्या नहीं है जिस पर सर्वज्ञ ने प्रकाश नहीं डाला हो।

सहज-भाव

सन्तों की परम्परा के उद्भव तथा विकास की चर्चा करते हुए हम ऊपर बतला चुके हैं कि सन्त लोग सारग्राही थे और उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन धर्म-साधनाओं की बहुत-सी बातों को अपनाया था। सहजयानी बौद्ध सिद्धों एवं नाथ-पन्थी योगियों का अनुकरण करते हुए कबीर, दादू प्रभृत्ति सन्तों ने भी अपनी साधना को 'सहज-साधना' अथवा 'सहज-समाधि' कहा है। लेकिन इन सन्तों ने 'सहज-साधना' को जिस अर्थ में ग्रहण किया है वह बौद्ध-सिद्धों तथा नाथ-योगियों की सहज-साधना से भिन्न था। जहाँ बौद्ध-सिद्ध अपनी गुह्यात्मक शून्य-साधना द्वारा महासुख की कल्पना करते थे वहाँ नाथयोगी काया-साधना द्वारा ब्रह्मेश्वरतत्व की अनुभूति की आकांक्षा करते थे किन्तु कबीर, दादू आदि सन्त न काय-साधना में विश्वास रखते थे न गुह्यात्मक-साधना की कल्पना ही करते थे। उनकी सहज-साधना का अंतिम लक्ष्य राम के प्रेम का रस चखना ही था। इन सन्तों के मत में साधना सहज होनी चाहिए। प्रतिदिन के जीवन के साथ चरम-साधना का कोई विरोध नहीं होना चाहिए। दैनिक गति के साथ शाश्वत गति का जो सहज-योग है वही सहज-पन्थ है। इन सन्तों का विश्वास है कि संसार और गृहस्थ जीवन को छोड़ कर साधना नहीं हो सकती। साधना में किसी प्रकार की कृत्रिमता या खींचा-तानी नहीं होनी चाहिये। कबीर, दादू आदि सन्त सन्यासियों के शिरोमणि होते हुए भी गृहस्थ थे और संसार में रहते हुए अपनी आजीविका के लिए स्वयं शरीर-श्रम भी किया करते थे। इन सन्तों के अनुसार सहज-पन्थ ही सत्यपन्थ था।

कबीरदास के 'सहज-योग' में वेद-पुराण पढ़ने की आवश्यकता नहीं है, पढ़ने सुनने से जो ज्ञान हो सकता है वह सहज साधना द्वारा अनायास ही मिल जाता है। इसलिए वे कहते हैं—

का पढ़िये, का गुनियें ? का वेद-पुरान सुनिए।
पढ़े गुने मति होई, मैं सहजें पाया सोई॥[1]

१—कबीर ग्रन्थावली—पृ० १७७।

क्योंकि कबीर की सहज-साधना केवल रामनाम की ही साधना है। जब युक्तिपूर्वक राम-नाम में लौ लग जाती है तब भक्ति दृढ़ हो जाती है और सहज में ही समाधि लगकर आत्म-स्वरूप का परिचय हो जाता है। रामनाम का योग इसलिए सहज है कि सासांरिक कर्म करते हुए भी उसकी साधना की जा सकती है।

सहजैं रामनांम ल्यौ लाई, राम नांम कह भगति दिठाई।
रामनांम जाका मन मांनां, तिन तौ निज सरूप पहिचांनां।[1]

जब राम-नाम में प्रीति दृढ़ हो जाती है तब सांसारिक विषयों का बन्धन आप से आप मन्द पड़ जाता है। कबीर कहते हैं :—

सहजैं सहजैं सब गए, सुत, बित कांमिणि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या दास कबीरा रांम।[2]

'सहज-सहज' कहना तो आसान है किन्तु सहज का सही अर्थ जानना सहज नहीं है। क्योंकि—

सहज सहज सबकोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन सहजैं हरिजी मिलै, सहज कही जै सोइ॥[3]

'सहज' का अर्थ कबीरदास जी यों समझाते हैं—

जो कछु आवे सहज में सोई मीठा जान।
कड़ुआ लागै नीम सा जामें ऐंचातान॥२४७॥[4]

सहज मिलै सो दूध सम मांगा मिलै सो पानि।
कह कबीर वह रक्तसम जामें ऐंचातानि॥२४८॥

मनको शुद्ध रखना, उसे माया-मोह से विरक्त करना और उसे निर्विषय बनाना इसके लिए आवश्यक है कि राम से सहज प्रेम हो जाय। राम से सहज प्रेम होते ही समस्त इन्द्रियाँ बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हो जाती हैं। उनके अन्तर्मुखी होने पर काया के भीतर व्याप्त अपने राम का साक्षात्कार हो जाता है। यही सहज साधना है, यही वास्तविक योग है। कबीर इसी योग को मानते थे। बाह्य साधनों द्वारा दबाव डाल कर वश में किया हुआ मन उन परिस्थितियों

१—कबीर ग्रन्थावली—पृष्ठ २२७।
२—कबीर ग्रन्थावली—पृ० ४२।
३—वही पृ० ४२।
४—कबीर वचनावली—पृ० ११५।

के पुनः आने पर प्रलोभनों में पड़ सकता है। इसीलिए कबीर सहज अर्थात् जन्म से ही प्राप्त साधन से अपने मन का परिष्कार करना चाहते थे। कबीर की वाणी में इस सहज-साधना अथवा सहज-धर्म की अनेक बातें भरी पड़ी हैं।

भक्त सुन्दरदास का मत है :—

सहज निरंजन सब में सोई। सहजै सन्त मिलै सब कोई॥
सहजै शंकर लागे सेवा। सहजै सनकादिक गुरु देवा॥
सोजा पीपा सहज समाना। सोना धना सहजै रस पाना॥
जन रैदास सहज को बन्दा। गुरु दादू सहजै आनन्दा॥

और—

चिह्न बिना सब कोई आये। इहां भये दोइपन्थ चलाये।
हिन्दू तुरक उठयौ यह भर्मा। हम दोऊ का छाडया धर्मा।
ना मैं कृत्तम कर्म बखानौं। नां रसूल का कलमा जानौं।
ना मैं तीन ताग गलि नाऊँ। ना मैं सुन्नत करि बौराऊँ।
माला जपौं न तसबी फेरौं। तीरथ जाऊँ न मक्का हेरौं।
न्हाइ धोइ नहिं करूँ अचारा। ऊजू तें पुनि हूवा न्यारा।
एकादशी न व्रतहिं बिचारौं। रौज़ा धरों न बंग पुकारौं।
देव पितर नहिं पीर मनाऊँ। धरती गड़ौं न देह जलाऊँ॥[1]

बाह्य प्रक्रियाओं को छोड़ कर आत्मा और परमात्मा के नित्य सहज-योग में ही नित्य सहज-ज्ञान तथा सहज आनन्द विद्यमान हैं। इसीलिए सन्त दादू का कहना है कि "नदी की तरह अपने को दैनिक और शाश्वत साधना के क्षेत्र में सहज ही छोड़ देना चाहिए। साधना के लिए संसार के कृत्यों को बाधा देकर, रोक कर शक्ति-संचय न्हीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से वह मिथ्या और कृत्रिम हो जायगी। नदी की भाँति सबको तृप्त करने के द्वारा ही नित्य सहज-योग के आनन्द से भीतर ही भीतर पूर्णता को प्राप्त कर परमानन्द का लाभ होता है।"[2] सन्त रज्जब जी का तर्क भी बड़े ही मार्के का है—योग के भीतर भी एक तरह का भोग रहता है और भोग के भीतर भी एक तरह का योग रह सकता है। इसीलिए अक्सर कोई कोई वैराग्य में डूब मरता है और कोई कोई गृहस्थ जीवन में सहज जीवन बिताते हुए ही तर जाता है—

१—सन्त-सुधा-सार—भाग १—पृ० ५६७।
२—स्वामी दादूदयाल की वाणी—पृ० १७६।

एक जोग में भोग है एक भोग में जोग।
एक बूड़हिं बैराग में एक तिरहिं सो गृह-भोग ॥[1]

बाहरी क्रिया-कर्म और अनुष्ठान से भगवान को पाना सम्भव नहीं है। दादू कहते हैं कि "घर में ही आश्रय मिला है, सहज-तत्व उसी में समाहित है। गुरु ने इसका अनुसंधान करके बता दिया है :—

भाई रे घर ही में घर पाया।
सहज समाइ रह्यो ता माहीं सतगुरु खोज बताया ॥
ता घर काजि सबै फिर आया, आपै आप लखाया ॥
खोलि कपाट महल के दीन्हें, फिर अस्थान दिखाया।
गयऊ भेद भर्म सब भागा, साच सोइ मन लागा ॥
निहचल सदा चलै नहीं कबहूँ, देख्या सब मैं सोई।
ताहीं सों मेरा मन लागा, और न दूजा कोई ॥
आदि अनन्त सोई घर पाया, इव मन अनत न पाई।
दादू एक रङ्गे रङ्ग लाया, तामैं रहा समाई ॥[2]

कर्नाटक के शिरशरणों की भक्ति-पद्धति हिन्दी के सन्तों की सहज-साधना से बहुत कुछ मिलती जुलती है यद्यपि उनके वचनों में 'सहज-साधना', 'सहज समाधि' जैसे विशिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। शिवशरणों ने कृत्रिम उपायों, क्रियाओं और बाह्य आचारों को भक्ति के मार्ग में बाधक ही माना है। ये शिवशरण सब के सब गृहस्थ थे और अपनी आजीविका के लिए किसी न किसी वृत्ति में लगे रहते थे। उनके 'शिवानुभव मण्टप' में सब जातियों, श्रेणियों तथा पेशों के लोग सम्मिलित होते थे और सहज अनुभूतियों के आधार पर विचार-विनिमय किया करते थे। जहाँ हिन्दी के निर्गुणिया सन्तों ने 'सहज-समाधि' पर जोर दिया है वहाँ शिवशरणों ने शुद्ध अनुभाव और शील की आवश्यकता बतायी है। अतएव यह कहा जा सकता है कि सन्तों की सहज-साधना से जिस समदृष्टि और स्थितप्रज्ञ-भाव की आशा रखी जाती थी उसी की प्राप्ति करना शिवशरणों की साधना-पद्धति का उद्देश्य था। अन्तर इतना ही था कि वीरशैवों ने सम्प्रदाय के चिन्ह धारण करना, विधि-नियमों का पालन करना—जैसे लिंग-धारण, ललाट तथा भुजाओं पर भस्म लगाना, मन्त्र

१—सन्त-सुधा-सार भाग १—पृ० ५२४।
२—स्वामी दादूदयाल की बाणी—पृ० ३८४।

जपना—आदि को अनिवार्य बना दिया था। सम्भवतः ऐसा करना इसीलिए आवश्यक समझा गया कि वैदिक-धर्म में आस्था रखने वाले हिन्दुओं को वीरशैव मत की ओर आकृष्ट किया जाय।

श्री बसव के अनुसार "इन्द्रियों को सताना ठीक नहीं है। क्योंकि वे इन्द्रियाँ फिर से हमें सताने लगेंगी। सिरियाळ तथा चंगळे नामक भक्त दम्पति ने क्या रति-सुख को त्याग दिया था? क्या सिंधु बल्लाळ नामक भक्त ने रति-सुख-भोग छोड़ दिया था? जो लोग पर-स्त्री, पर-धन को छुयेंगे वे, कूडल संगम देव के चरणों को प्राप्त नहीं कर सकेंगे।"[१]

श्री अल्लम प्रभु कहते हैं कि "यदि नहीं देखना चाहिए तो ये आँखें किस काम के लिए? यदि सुनना नहीं चाहिए तो ये कान किस काम के लिए? यदि नहीं सूघना चाहिए तो यह नाक किस काम के लिए? यदि छूना नहीं चाहिए तो यह त्वचा किस काम के लिए? तब तो भगवान की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर अल्लम प्रभु स्वयं देते है। इस बात का रहस्य समझ कर पंचेन्द्रियों से जो सुख मिलता है उसे भगवान को अर्पित करके शरीर और पंचेन्द्रियों के कारण उत्पन्न अभिमान को त्यागना चाहिए।"[२] श्री बसव ने अपने एक वचन में कहा है कि सहज भाव से अपना तन, मन, जो जिस रूप में मिलता है, उसे उसी रूप में अपने भगवान को अर्पण करना चाहिए।[३] बसव की निम्नलिखित उक्ति भी सहज जीवन का परिचायक है—

> कोई दूध का व्रत रखता है तो दूसरा कोई मलाई का व्रत रखता है, मक्खन खाने का व्रत, गुड़ खाने का व्रत सभी रखते हैं। किन्तु साथ सत्तू खाने का व्रत कोई नहीं रखता। मादार चेन्नय्या (एक शिव-शरण) ही सत्तू खाने का नियम रखते हैं। कूडल संगम के भक्तों में वे ही बड़े हैं।[४]

सकेळ्शा मादरस नामक शिवशरण सहज जीवन का वर्णन करते हुए कहते हैं "जगत को त्याग कर जंगल में जाना दुष्टों का काम है। यदि जगत् में रहे तो लोगों का आश्रय वांछित है, यदि जंगल में रहे तो वृक्षों का आश्रय वांछित

१—वचन शास्त्र सार—भाग २—पृ० ६६।
२—वही पृ० ६७।
३—वही पृ० ५६।
४—बसवण्णनवर षट्स्थलद वचन गळु—पृ० ६१।

है। इसलिए समझदार शिवशरण को चाहिए कि वह सहज भाव से अपना सर्वस्व भगवान को अर्पित कर दे और सहज-भाव से जगत में रहते हुए जीवन व्यतीत करे।"[१]

वीर-शैवों के षट्स्थल भक्ति-सिद्धान्त में तीसरी सीढ़ी प्रसादिस्थल है। इस प्रसादिस्थल तक पहुँचने पर भक्त लगभग उसी अवस्था को प्राप्त होता है जिसे हिन्दी के निर्गुणिया सन्त सहज-भाव कहते हैं। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सन्तों की वाणियों में सहज-साधना का जो परिष्कृत रूप मिलता है वह शिव-शरणों में नहीं पाया जाता।

शून्य-साधना

'शून्य' शब्द का अर्थ है 'नास्ति' अथवा 'अभाव' अथवा 'कुछ नहीं है'। हमारे देश के आध्यात्मिक साहित्य में यह 'शून्य' शब्द अति प्राचीन काल से प्रयुक्त होता आया है। इस शब्द की खूबी यह है कि भिन्न-भिन्न साधनाओं में यह भिन्न-भिन्न भाव का द्योतक रहा है। बौद्ध सिद्धों, निरंजनियों तथा नाथ-योगियों के साहित्य में प्रयुक्त होता हुआ यह शब्द हिन्दी के सन्त कवियों की वाणियों में आ मिला है। सहजयानियों ने 'शून्य' को 'परतत्व' 'परम सुख' अथवा 'महासुख' के अर्थ में ग्रहण किया है। गुरु गोरखनाथ की बानियों में इस शब्द का जो प्रयोग हुआ है उसका स्वरूप निम्नलिखित उद्धरण से भलीभाँति प्रकट होता है—"परम तत्व तक किसी की पहुँच नहीं है क्योंकि वह अगम है। हम उसे न बस्ती कह सकते हैं न शून्य ही। न यह कह सकते हैं कि वह कुछ है और न यह कि वह कुछ नहीं है। यह भाव और अभाव दोनों से परे है। वह आकाश मण्डल में बोलने वाला बालक है। इसका नाम ही कैसे रखा जा सकता है ?"[२] सन्तों ने बहुत-सी बातों को पूर्ववर्ती साधना-पद्धतियों से ग्रहण किया है; किन्तु उन्होंने किसी चीज की कोरी नकल नहीं की है। ऐसा करना उनके स्वभाव के खिलाफ ही था। उन्होंने दूसरों से जो कुछ लिया है उसे अपने सांचे में ढाल कर अपनाया है। सन्त-मत में 'शून्य' का प्रयोग विशेष रूप से 'ब्रह्म', 'निर्गुण सर्वात्मा' के अर्थ में हुआ है। साथ ही, इसी अर्थ को प्रकट करने

१—वचनशास्त्र सार—भाग २—पी० जी० हल्डकट्टि—पृ० १६।

२—बस्ती न सुन्यं-सुन्यं न बस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महि बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा ? ॥१॥
—गोरख बानी—पृ० १

के लिए 'सहस्रदल कमल', 'सुन्नगढ़', 'सुन्न महल', 'सुन्नमण्डल', 'सुन्न बस्ती', 'सुन्न सरोवर' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

कबीरदास जी उस 'सुन्नमण्डल' में प्रवेश करने की अभिलाषा करते हैं जिसमें अनहद नाद का मधुर संगीत सुनाई पड़ता है, दिव्य प्रकाश से रोम-रोम आलोकित होता है और दीन दयालु परमात्मा के दर्शन होते हैं—

सुन्न मण्डल में घर किया बाजै शब्द रसाल।
रोम-रोम दीपक भया प्रगटे दीन दयाल ॥६६॥[1]

कबीर के अक्षय पुरुष, जो ज्योति-स्वरूप हैं, और सकल जगत में व्याप्त हैं, सहस्त्र कमल में वास करते हैं—

'सहस कमल में झिलमिल दरसो आपुइ बसत अपारा।
जोति सरूप सकल जग व्यापी अछय पुरुष है प्यारा ॥[2]

इसी प्रकार कबीर ने स्थान-स्थान पर अपने निर्गुण राम के स्वरूप को 'शून्य' शब्द के सहारे समझाने का प्रयत्न किया है। उनके भगवान गगन-मण्डल के मध्य में वास करते हैं। वे एक ऐसे देह-रहित पुरुष हैं कि उनकी न कोई रेखा है न रूप ही।

रेख रूप जेहि है नहीं अधर धरो नहीं देह।
गगन मण्डल के मध्य में रहता पुरुष बिदेह ॥८॥[3]

धर्मदास ने 'सुन्न महल' से अमृत की वर्षा का हवाला देकर सन्तों को उसी में नहाने के लिए उपदेश दिया है—

सुन्न महल से अमृत बरसै। प्रेम अनन्द होइ साध नहाय।
खुली किवरिया मिटी अन्धिरिया। धन सतगुरु जिन दिया है लखाय ॥[4]

स्वामी सुन्दरदास ने परब्रह्म को शून्य होते हुए भी कुछ और ही माना है। शून्य होते हुए भी ब्रह्म दसों दिशाओं में व्याप्त है--

यह रूपातीत जु शून्य ध्यान। कुछ रूप न रेष न ह्वै निदान।
तहाँ अष्टप्रहार लौं चित्तलीन। पुनि सावधान ह्वै अति प्रवीन।
जिमि पक्षी की गति गगन मांहि। कहुँ जात जात दिठि परय नाहि।

१—कबीर वचनावली—पृ० ६६।
२—वही पृ० १६६।
३—वही पृ० ६४।
४—सन्त सुधा सार—खण्ड २, पृ० १२।

पुनि आइ दिखाई देत सोइ। वा योगी की गति इहै होइ।
इहिं शून्य ध्यान सम और नाहि। उत्कृष्ट ध्यान सब ध्यानमांहि।
है शून्याकार जु ब्रह्म आपु। दशहू दिशि पूरण अति अमापु।[1]

दादू, नानक, मलूक, रैदास, दयाबाई, सहजोबाई जैसे अन्य सन्तों ने भी परब्रह्म के अर्थ में 'शून्य' शब्द का बार-बार प्रयोग किया है।

कर्नाटक के शिवशरणों के वचनों में परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए 'शून्य' शब्द का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया गया है। कहीं-कही कन्नड में इसी का समानार्थक शब्द 'बयलु' दिया गया है। 'शून्य' अथवा 'बयलु' के लिए 'शून्यलिंग' भी कहा गया है। अल्लम प्रभु इस 'शून्य' का भाव इस प्रकार समझाते हैं—

> "यह शून्य न सत्य न असत्य ही, न सहज है न असहज ही, न मैं हूँ न तुम ही हो, "यहाँ नहीं है" यही शून्य है।"[2]

फिर वे कहते हैं—'मैं यह जानता हूँ'—यह शून्य है, यह मैं नहीं जानता'—यह शून्य है, मैं भूल गया हूँ—यह शून्य है, 'मै नहीं भूलूँगा'—यह शून्य है।[3]

षणमुखस्वामी नामक शिवशरण जीव की परमात्मा में ऐक्य होने पर जो स्थिति होती है उसका वर्णन यों करते हैं—

> जब शून्य-शून्य में मिल जाता है तब उसकी कोई सीमा है? जब क्षीर-क्षीर में मिल जाता है तब क्या फिर से उसका अलग अस्तित्व है? जो जीव ईश्वर में मिल जाता है तब क्या उसका फिर से अपना अस्तित्व है?"[4]

देवरदासिमय्या के अनुसार 'शून्य' का भाव इस प्रकार है—"शून्य का वर्णन नहीं किया जा सकता, शून्य जलाया नही जा सकता, शून्य पकड़ा नहीं जा सकता, जो रहस्य हृदय-रहित शून्य में छिपा हुआ है उसे जगत के जड़लोग कैसे समझ सकते हैं?"[5]

१—सुन्दर ग्रंथावली—भाग १, पृ० ५४–५५।
२—वचनशास्त्र सार—भाग २, पृ० २८२।
३—वही पृ० २८२।
४—वही पृ० २७७।
५—वही पृ० २८२।

गट्टिवाळ्य्या नामक वीर-शैव-भक्त ईश्वर के स्वरूप का परिचय देते हुए कहते हैं कि शून्य नाम-रूप से भी परे है। सिद्धराम का मत है कि ब्रह्म शून्या-शून्य से भी परे है—

> "शरीर प्रथम है या शरीर में स्थित मन प्रथम है ? मन प्रथम है या मन में स्थित चैतन्य प्रथम है ? या चैतन्यात्मक माया प्रथम है ? ये सब प्रथम नहीं हैं। वह निराकार शून्या-शून्य से भी परे है।"[१]

लगभग इसी भाव से मिलता-जुलता कबीर का निम्नांकित पद द्रष्टव्य है—

> रामराइ अबिगति बिगति न जानं।
> कहि किम तोहि रूप बपानं॥
> प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन कि पांणीं।
> प्रथमे चन्दकि सूर प्रथमे प्रभू, प्रथमे कौन बिनाँणी॥
> प्रथमे प्राण कि पिण्ड प्रथमे प्रभू, प्रथम रकत कि रेतं।
> प्रथमे पुरिष कि नारि प्रथमे प्रभू, प्रथमे बीज कि खेतं॥
> प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पाप कि पुन्यं।
> कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन, तहाँ कुछ आहि कि सुन्यं।[२]

वीर-शैव-भक्तों के अल्लम प्रभु महान् ज्ञानी भक्त कहलाते हैं। वीर-शैव सम्प्रदाय की गद्दी का नाम है 'शून्य-सिंहासन' जिसके सर्वप्रथम अध्यक्ष अल्लम-प्रभु थे। वे 'शून्यलिंग' का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

> "शून्य-लिंग-मूर्ति न साकार है न निराकार ही, उसका न आदि है न अन्त ही, न वह इह है न पर ही, न वह सुख है न दुख ही, न वह पुण्य है न पाप ही, न वह प्रभु है न दास ही, न वह कार्य है न कारण ही, न धर्मी है न कर्मी ही, न पूज्य है न पूजक ही—वह इन दोनों से परे है।"

इस प्रकार कन्नड के वचन-साहित्य में 'शून्य' शब्द का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु, सुन्नगढ़, सुन्नमहल, सुन्नसरोवर, सुन्नवस्ती जैसे शब्द, जिनका हिन्दी के सन्त-साहित्य में स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है, शिवशरणों की वाणियों में नहीं पाये जाते।

१—वचनशास्त्र सार—भाग २, पृ० ३।
२—कबीर ग्रंथावली—भाग २, पृ० १४२-४३।

गुरु-माहात्म्य

चाहे सगुण भक्त हों चाहे निर्गुणिया संत, चाहे हठयोगी साधक हों चाहे सूफी प्रेमी भक्त, सभी ने आध्यात्मिक साधना में गुरु की आवश्यकता तथा महिमा का गान किया है। गुरू गोरखनाथ कहते हैं कि सद्गुरु के मिलने से ही मनुष्य का उद्धार हो सकता है, नहीं तो निश्चय ही प्रलय समझना चाहिए।

"सत गुरु मिले तो ऊबरै बाबू नहीं तौ परलै हवा।"[१]

फिर वे कहते हैं कि गुरु के बिना (निगुरा) न रहो। गुरु के बिना ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। दूध से धोने पर भी कोयला उज्ज्वल नहीं हो सकता, कौवे के गले में फूलों की माला पहनाने से वह हंस नहीं हो सकता :—

गुरु की जै गहिला निगुरा न रहिला,
गुरु बिन ग्यान न पायला रे भाईला।
दूधैं धोया कोइला उजला न होइला।
कागा कंठैं पुहुप माल हंसला न भैला॥[२]

महात्मा कबीरदास ने गुरु की महत्ता का नाना प्रकार से अपनी वाणियों में जगह-जगह उल्लेख किया है। उनके मतानुसार गुरु तो ईश्वर से भी बड़ा है। बिना उसकी सहायता के आत्मा की अशुद्धि दूर नहीं हो सकती और परमात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं है। गुरु की कृपा ही आत्मा को परमात्मा से मिलने के रास्ते पर ले जाती है। गुरु आध्यात्मिक जीवन का पथ-प्रदर्शक है, वह ईश्वर से भी अधिक आदरणीय है। इसीलिए तो कबीर के मन में सन्देह उत्पन्न होता है कि यदि गुरु और गोविन्द दोनों सामने खड़े हों तो किसके चरण पहले स्पर्श किए जायँ? इस सन्देह का समाधान वे स्वयं करते हैं और कहते हैं कि गुरु के चरण पहले छूने चाहिये, क्योंकि उन्होंने ही तो गोविन्द को बतला दिया है। उन्होंने ही तो मनुष्य से देवता बनाया है :—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय॥३००॥
बलिहारी गुरु आपने घड़ि-घड़ि सौ-सौ बार।
मानुष से देवता किया करत न लागी बार॥३०१॥[३]

१—गोरखबानी—पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल पृ० ११५।
२—गोरखबानी—पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० १२८।
३—कबीर वचनावली—पृ० ११६।

मनुष्य-देह पाकर गुरु की सेवा करके अवश्य भक्ति कमानी चाहिए, क्योंकि गुरु से मिल कर जिनके अन्तर पट खुल जाते हैं वे फिर संसार में जन्म नहीं लेते—

गुरु सेवा कर भगति कमाई, जौ तैं मनिषा देही पाई।
गुरु मिलि जिनके खुले कपाट, बहुरि न आवै जोनीबाट।[१]

कबीर का यह निश्चित मत है कि गुरु के बिना चेला ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता—"गुरु बिन चेला ग्यान न लहै।" गुरु को छोड़ कर और किसी का भरोसा नहीं किया जा सकता। अनेक मार्गों में चित्त के भटकते रहने के कारण निगुरे जनों की बुद्धि स्थिर नहीं रह सकती, अतः वे गणिका-पुत्र के समान हैं जो किसी को भी अपना पिता नही बता सकते।

गुरु बिन इहि जग कौन भरोसा काके संगि ह्वै रहिए।
गनिका कै घरि बेटा जाया पिता नांम किस कहिए।
कहै कबीर यहु चित्र बिरोध्या, बूझी अमृत बाणी।
खोजत खोजत सतगुर पाया, रहि गई आँवण जाणीं ॥१९७॥[२]

कबीरदास जी गुरु की महिमा का गान करने मे कभी नहीं थकते। उनके मत में गुरु की महानता का वर्णन करना सम्भव नही है—

सब धरती कागद करूँ लेखनि सब बन राय।
सात समुन्द की मसि करूँ गुरु गुन लिखा न जाय।[३]

जहाँ कबीरदास जी गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं वहाँ इस बात का भी स्मरण दिलाते है कि योग्य गुरू का होना बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि—

कबीर सतगुरु नां मिल्या, रही अधूरी सीष।
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगे भीष ॥२७॥[४]

गुरु और शिष्य दोनों का भी योग्य होना आवश्यक है, वरना दोनों की दशा वैसी ही हो जायगी जैसी अन्धे को अन्धा ठेले तो दोनों कुएँ में जा गिरेंगे :—

१—कबीर ग्रन्थावली—पृ० २८३।
२—कबीर ग्रन्थावली—पृ० १५५, पदावली (१९७)
३—कबीर वचनावली—पृ० १२०।
४—कबीर ग्रन्थावली—पृ० ३।

जाका गुरु भी अन्धला, चेला खरा निरन्ध ।
अन्धे अन्धा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत ॥१५॥[1]

गुरु मिला न सिष मिला लालन खेला दांव ।
दोऊ बूड़े धार में चढ़ि पाथर की नांव ।[2]

कबीर का विश्वास है कि गुरू की प्राप्ति तभी होती है जब कि गोविन्द की कृपा होती है । "जब गोविन्द कृपा करी तब गुरु मिल्या आइ ।"

स्वामी दादूदयाल की उक्ति इस सम्बन्ध में बड़ी ही अनूठी है :—

इक लख चन्दा आणिधरि, सूरज कोटि मिलाय ।
दादू गुर गोव्यन्द बिन, तौ भी तिमिर न जाय ॥८॥[3]

भ्रम रूपी पर्दा जो सब शरीरों पर पड़ा हुआ है तभी सहज ही हट सकता है जब कि गुरु-गोविन्द की कृपा होगी—

भक्तवर सूरदास का कथन है कि हरि और गुरु एक ही हैं इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । गुरु के प्रसन्न होने पर हरि प्रसन्न होते हैं और गुरु के दुखित होने पर हरि दुखित होते है—

'हरि गुरु एक नृप जाति । यामें कछु सन्देह न आनि ।
गुरु प्रसन्न हरि परसन होइ । गुरुकै दुखित दुखित हरि जोइ ॥[4]

अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी गुरु माहात्म्य पर अपने-अपने विचार प्रकट किए है । नन्ददास ने गुरु और कृष्ण को एक ही समझ कर वन्दना की है ।

तन्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल-दल-नैन ।
जग-कारन करुणायतन, गोकुल जाको ऐन ॥[5]

गुरु के द्वारा दीक्षा तथा श्रीकृष्ण की सेवा ग्रहण करने की क्रिया को वल्लभ सम्प्रदाय में 'ब्रह्म सम्बन्ध' कहा गया है । जब गुरु अंशरूपी संसारी आत्मा को उसके अंशी परमात्मा से भूले हुए सम्बन्ध की याद दिलाता है और उस शिथिल सम्बन्ध को पुनः स्थापित करता है तब शिष्य दैन्य-भाव के

१—कबीर ग्रन्थावली—पृ० २ ।
२—कबीर वचनावली—पृ० १२१ ।
३—सन्त सुधा सार—पृ० ४५० ।
४—सूरसागर षष्ठ स्कंध—पृ० १५७ ।
५—नन्ददास ग्रन्थावली—नाममाला, पृ० ७६ ।

साथ अपने सर्वस्व को कृष्ण के प्रति अर्पित करता है। इसके उपरांत गुरु श्रीकृष्ण-शरण का मन्त्र उसे देता है और सदा तन, मन, धन से कृष्ण की सेवा करने का आदेश देता है। इसी को 'आत्मनिवेदन' अथवा 'समर्पण' कहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार इस घोर भवसागर को पार करने के लिए विमल विवेक चाहिए और वह विवेक हरि और गुरु की करुणा के बिना सम्भव नहीं है।

तुलसीदास हरिगुरु करुना बिनु विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई॥[1]

गुरु की तुलना सूर्य से करते हुए तुलसीदास जी कहते हैं कि गुरु के उपदेश रूपी किरणों से मोहान्धकार का नाश होता है :—

बंदऊं गुरु पदकंज, कृपासिन्धु नररूप हरि।
महामोह तम पुज, जासु वचन रवि कर निकर।[2]

फिर वे कहते हैं—

बंदौं गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।
श्री गुरु पद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू।
उघरहिं विमल विलोचन ही के। मिटहि दोष दुख भव रजनी के।
सूझहिं राम चरित मनिमानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।[3]

तुलसीदास जी बड़ी दृढ़ता के साथ घोषित करते हैं कि गुरु के बिना ब्रह्मा और शंकर भी भव-सागर से पार नहीं करा सकते।

गुरु बिनु भव निधि तरै न कोई।
जौ विरंचि संकर सम होई।[4]

कर्नाटक के शिवशरणों के षट्स्थल-भक्ति-सिद्धान्त में भी गुरु का स्थान सर्वोपरि है। इस सम्प्रदाय में गुरु के द्वारा दीक्षा प्राप्त किए बिना आध्यात्मिक साधना-पथ पर चलने के लिए कोई भी योग्य नहीं माना जाता।

१—विनय पत्रिका—पृ० ११५।
२—राम चरित मानस—बालकाण्ड—दोहा १।
३—रामचरित मानस—बालकाण्ड, दोहा १।
४—वही उत्तरकाण्ड—दोहा ९३।

देवरदासिमय्या गुरु की महिमा का अनूठे ढङ्ग से वर्णन करते हैं—"जलते हुए अंगार पर तृण को रखने पर तृण भी अंगार हो जाता है, इसी प्रकार गुरु-चरणों पर तनु को रखने पर सारा तनु लिंगमय बन जाता है।"[१] दूसरे एक वचन में वे कहते हैं कि लोग तो यह कहते है कि गुरु और लिंग एक ही है। गुरु और लिंग के मिलन पर विचार किया जाय तो यही कहना चाहिए कि गुरु की कृपा प्राप्त करने के बाद ही शरीर पर लिंग धारण करना चाहिये।"[२]

श्रीबसव की उक्ति अपनी एक विशिष्टता लिए हुए है। वे कहते हैं—

> "जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए मिट्टी पहली आवश्यक चीज़ है, गहने बनाने के लिए सोना पहली अवश्यक चीज़ है उसी तरह शिव-पथ को जानने के लिए गुरु-पथ ही पहली आवश्यक चीज़ है।"[३]

अन्यत्र वे कहते है कि "गुरु-वचन के बिना लिंग नही, गुरु-वचन के बिना नित्यवस्तु नही और गुरु-वचन के बिना विधि-नियम नही।"[४]

श्री निजगुरु स्वतन्त्र सिद्धिलिंगेश्वर के अनुसार "गुरु ही लिंग अर्थात् परमात्मा है।"[५]

कन्नड के वचनकारों में सर्वज्ञ एक परवर्ती शिवशरण हैं जिनकी वाणी कन्नड-भाषा-भाषियों की जीभों पर कहावतों तथा सूक्तियों की भाँति अब भी नाच रही है। सर्वज्ञ ने गुरु की आवश्यकता, गुरु के लक्षण, गुरु-शिष्य सम्बन्ध आदि पर अनेक पद्य रचे है।

सर्वज्ञ कहते हैं कि "गुरु माहात्म्य का कहाँ तक विस्तार किया जाय! समस्त ब्रह्माण्ड के बाहर और भीतर वे प्रकाशमान हैं और परिपूर्ण हैं।"[६] "त्रिनेत्री को गुरु ही दिखा सकते हैं, इसमें कोई शक नही है, गुरु की करुणा ही हर को बता सकती है।"[७] गुरु के लक्षणों का निरूपण करते हुए सर्वज्ञ कहते हैं

१—देवरदासिमय्या प्रशस्ति—भाग १ व २, पृ० १०२।
२—वही पृ० १०३।
३—बसवण्णनवर षट्स्थल वचन गच्छु, पृ० १६।
४—वही पृ० १६-७१।
५—वचन शास्त्र सार (१६३१) भाग १, पृ० १२३।
६—सर्वज्ञन पदगच्छु—उत्तंगि, पृ० ४।
७—वही पृ० ५।

कि गुरु और पिता मे अन्तर यही है कि पिता सद्गुरु के दर्शन कराता है और सद्गुरु बन्धन को दूर करता है।[१] लेकिन ऐसे गुरु को स्वीकार नहीं करना चाहिए जो असत्य बोलता है, जो विषयों से मुक्त नही है।[२] जिस प्रकार गुरु में उत्तम गुणों का होना आवश्यक है उसी प्रकार शिष्य में भी उत्तम गुणों का होना आवश्यक है। जिस शिष्य में भक्ति नहीं है वह ऐसा है जैसा कि सूखे हुए तालाब के किनारे धान बोना व्यर्थ है। "गुरु से ही बन्धुओं की प्राप्ति होती है, गुरु से ही दैव के दर्शन होते हैं, गुरु से ही पुण्य मिलता है, जगत के लिए गुरु ही मुक्ति-प्रदायक है।"[३]

अज्ञानी गुरु और अज्ञानी शिष्य के बारे मे श्री अंबियार चौड्या की उक्ति कबीर की उपर्युक्त उक्ति से बिलकुल मिलती-जुलती है। वे कहते हैं कि अज्ञानी गुरु और अज्ञानी शिष्य की क्या दशा हो जाय? एक अन्धा दूसरे अन्धे के हाथ का सहारा लेकर क्या चल सकता है? यह ऐसा ही है जैसा कि जो तैरना नही जानता वह पानी में डूबने वाले को बचाने का प्रयत्न करता है।[४]

श्री पुरन्दरदास जी का कथन है कि गुरु के द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है। वे कहते हैं—

हे भाई, जब तक तुम गुरु के गुलाम नही बनोगे तब तक मुक्ति नही मिल सकती। चाहे शास्त्राभ्यास कितना ही क्यों न करो सब उपाय व्यर्थ ही है। षड्-दर्शन पढ़ने से क्या लाभ? अठारह-पुराण समाप्त करने से क्या लाभ? सज्जनों का संग न करके अपने को शूर समझ कर फिरने से क्या लाभ? गले में जयमाला पहनने से क्या लाभ? हाथ में जप-मणि जपने से क्या लाभ? राख में कुत्ते की भाँति लोटने से क्या लाभ? पागल की तरह घूमने से क्या लाभ? सारी धरती पर शासन करने से क्या लाभ? शारीरिक सुखों का त्याग करने से क्या लाभ? जो गुरु भगवान की महिमा बता नहीं सकता उससे क्या लाभ?[५] अन्यत्र श्री पुरन्दरदास कहते हैं कि गुरु के उपदेश

१—सर्वज्ञन पदगव्ठु—उत्तंगि—पृ० ६।
२—वही पृ० ६।
३—वही पृ० १४।
४—वचन धर्म सार (एम० आर० श्रीनिवासमूर्ति)—पृ० २५५।
५—हरिभक्ति सुधे—पृ० ६।

के बिना कोई ज्ञान नहीं, गुरु के उपदेश के बिना कोई योग नहीं, गुरु के उपदेश के बिना कोई कर्म नहीं। यदि यह सब प्राप्त किया भी जाय तो भी वह उसी तरह व्यर्थ है जिस तरह साँप का उपवास व्यर्थ है।"[१] श्री विजयदास के अनुसार यदि गुरु की करुणा मिल जाय तो साधना में किस बात की पूर्ति नहीं होती ? जो कुछ दिखाई पड़ेगा वह 'कमलनाभ की मूर्ति हो जाएगी, जो कुछ खाया जायगा वह विष्णु की पूजा हो जायगी, बाजार की गपशप भी वारिजाक्ष की कीर्ति-गाथा हो जाएगी।[२] दूसरे एक पद्य में वे कहते हैं कि "यदि हरि हमसे नाराज हो जाँय तो गुरु हमारी रक्षा करेंगे, यदि गुरु नाराज हो जाँय तो हरि हमारी रक्षा नहीं कर सकते।"[३] श्री गोपालदास का कहना है कि गुरु का उपदेश महा दुर्लभ है, वह महा मंगलकारी है और दुखमय संसार रूपी उदधि को पार करने के लिए वही पतवार है।

इस प्रकार हिन्दी और कन्नड के समस्त भक्तों ने गुरु की आवश्यकता, महिमा, गुरु के लक्षण, आदि पर जो विचार प्रकट किए हैं उनमें सर्वत्र साम्य है। एक विशेष बात यही दिखाई पड़ती है कि दोनों साहित्यों में निर्गुण भक्तों ने सगुण भक्तों की अपेक्षा गुरु की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया है। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि इन सन्तों ने अपनी आध्यात्मिक साधना में किसी शास्त्र-ग्रन्थ या किसी चेतनारहित वस्तु को अपना पथप्रदर्शक नहीं माना है। वे गुरु को ईश्वर के समान ही समझते थे और उन्हीं को अपना एक-मात्र अवलम्ब मान कर चलते थे।

नाम-महिमा

नवधा-भक्ति में बताए गए भक्ति के साधनों में से श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण भगवान की लीला, उनके गुण और नाम से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। भक्तों का यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान के सहस्रों नामों में से किसी भी एक का सदा मन में स्मरण तथा ध्यान करने से, जिह्वा से उसका कीर्तन-गायन करने से, और उसका कानों से सदा श्रवण करने से मन, वाणी और कर्म द्वारा होने वाले समस्त पापों का क्षय होता है, मन में पवित्र-भाव भर जाते हैं तथा श्रद्धा की वृद्धि होती है। श्रद्धा से भगवान की सेवा में संलग्नता आती

१—हरिभक्ति सुधे—पृ० १०।
२—वही पृ० ११।
३—श्री कर्नाटक हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ४—पृ० १५६।

है जिससे भगवान की भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति से सत्वगुण की वृद्धि होती है और तत्व का साक्षात्कार होता है, तदनन्तर मोक्ष मिलता है। हिन्दी और कन्नड के समस्त भक्त कवियों ने अपनी भक्ति-साधना में भगवान के नाम-स्मरण, कीर्तन और श्रवण पर ज़ोर दिया है और बड़े ही तर्क-पूर्ण ढंग से नाम-महिमा का गान गाया है। हिन्दी के निर्गुणिया सन्तों ने भी भगवान के नाम को, विशेष रूप से, राम-नाम को महत्त्वपूर्ण माना है। पर हाँ, इन सन्तों ने रामनाम को उस अर्थ में नही लिया है जिस अर्थ में वैष्णव भक्तों ने स्वीकार किया है। सन्तों के राम-नाम के साथ भगवान के किसी भी अवतार से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके राम निर्गुण निराकार पर-ब्रह्म के ही प्रतीक है। कन्नड के वीर-शैव भक्तो के साहित्य में नाम-महिमा का विशेष विस्तार नही हुआ है। इस सम्प्रदाय में 'ऊं नमः शिवाय' मन्त्र का बहुत ऊँचा स्थान है। किन्तु नाम-जप का इसमें वह रूप नही है जो हिन्दी और कन्नड के अन्य भक्तों के साहित्य में पाया जाता है।

हिन्दी और कन्नड के भक्तो ने भगवान की नाम-महिमा का नाना प्रकार से वर्णन किया है। कबीर ने राम-नाम की तुलना कई प्रकार की वस्तुओं से की है। उनके अनुसार रामनाम एक स्पर्शमणि है जिसके छूने से मन रूपी मलिन लोहा सोना बन जाता है, मोह-बन्धन छूट जाता है। नाम एक ऐसा रत्न है कि उसे गाँठ बाँध कर रखना चाहिए, कभी खोलना नहीं चाहिए, उसका न कोई पारखी है न ग्राहक ही। राम-नाम अनुपम रसायन है जिसकी एक बूँद भी यदि शरीर में जाय तो सारा शरीर कंचन हो जाता है। नाम अग्नि के समान है जो सारे शरीर में समायी हुई है और चित्तरूपी चकमक के लगते ही जल उठती है। नाम के बिना छप्पन कोटि विलास भी बेकार हैं और उसके सामने इन्द्रासन और बैकुण्ठवास भी कोई चीज़ नहीं है :—

आदि नाम अहै मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया छूटा बन्धन मोह।
रामनाम धन पाइकै गाँठी बाँध न खोल।
नाहीं पन नहिं पारखू नहिं गाहक नहिं मोल।
सभी रसायन हम करी नहिं नाम सम कोय।
रंचक घट में संचरै सब तन कंचन होय।
पावक रूपी नाम है सब घट रहा समाय।
चित्त चकमक लागै नहीं धुवाँ ह्वै ह्वै जाय।

नाम बिन बेकाम है छप्पन कोटि विलास।
का इन्द्रासन बैठिबो का बैकुण्ठ निवास।[१]

वे फिर कहते हैं कि राम-नाम अमृत है। इस अमृत को छोड़ कर विष क्यों खाया जाय ?

"राम नाम छाड़ि अमृत काहे विष खाइ।"

राम नाम का मर्म बताते हुए वे कहते हैं कि :—

"ऊपर की मोहि बात न भावै। देखै गावै तौ सुख पावै।
कहै कबीर कछू कहत न आवै। परचै बिना मरम को पावै।"[२]

राम नाम रूपी रंग की खूबी भी देखने लायक है :—

राम नाम रंग लागौ कुरंग न होई।
हरि रंग सौ रंग और न कोई।
और सबै रंग इहि रंग थै छूटै, हरि रंग लागा कदे न खूटै।
कहै कबीर मेरे रंग रामराई, और पतंग रंग उडि जाई॥[३]

अन्त में कबीरदास जी सीधी भाषा में यह उपदेश देते हैं :—

राम सिमरि राम सिमरि राम सिमरि भाई।
राम नाम सिमरन बिन बूड़ते अधिकाई॥
बनिता सुत देह गेह सम्पति सुखदाई।
इनमे कछु नाहि तेरो काल अवधि आई॥[४]

सन्त रैदास के मतानुसार जगत में और सब कुछ त्याग कर हरि नाम जपना चाहिए। क्योंकि—

सुष सागरू सुरतरू चिन्तामनि कामधेनु बसि जाके।
चारि पदारथ असट दसा सिधि, नवनिधि करतलताके।
हरि हरि हरि न जपहि रसना। अवर सभि तियागि बचन रचना।
नाना षियान पुरान वेद विधि, चउंतीस अषर मांही।
विआस विचारि कहिउ परमारथु, रामनाम सरि नाहीं॥[५]

१—कबीर वचनावली—पृ० ९७, ९८।
२—सन्त काव्य—पृ० १९१।
३—सन्त काव्य—पृ० १९१।
४—कबीर ग्रन्थावली—पृ० ३२०।
५—सन्त काव्य—प० २२२।

गुरु नानक, सन्त जम्भनाथ, गुरु अमरदास, सन्त सिंगाजी, आदि ने नाना प्रकार से रामनाम की महिमा का वर्णन किया है। सन्त धर्मदास ने अपने को सत्य नाम का व्यापारी बता कर नाम की महत्ता को समझाने के लिए जो भाव व्यक्त किए हैं उनमें एक मौलिक कल्पना है—

हम सतनाम के बैपारी।
कोइ कोइ लादें कांसा पीतल, कोइ कोइ लौंग सुपारी।
हम तो लाद्यौ नाम धनी को, पूरन खेप हमारी।
पूँजी न टूटै नफा चौगुना, बनिज किया हम भारी।
हाट जगाती रोक न सकिहैं, निर्भय गैल हमारी।
मोती बुन्द घटही में उपजै, सुकिरत भरत कोठारी।
नाम पदारथ लाद चलाहै, धर्मदास बैपारी ॥३॥[1]

दादू यह मानते हैं कि रामनाम अगाध है जिसका कोई आर-पार नहीं है, वर्ण और अवर्ण का आधार नहीं है :—

दादू नाम अगाध है परिमित नाहीं पार।
अबरण बरण न जाँणिये दादू नांइ अधार॥"[2]

स्वामी सुन्दरदास नाम की सर्व श्रेष्ठता यों समझाते है :—

सुन्दर सदगुरु यौ कह्या सकल शिरोमनि नाम।
ताकों निसदिन सुमरिये, सुखसागर सुखधाम।
रामनाम बिन लैन कौं और वस्तु कहि कौन।
सुन्दर जपतप दान व्रत, लागे खारे लौन।
रामनाम पियूष तजि, विष पीवै मतिहीन।
सुन्दर डोले भटकते, जन जन आगे दीन।
सुन्दर सुरति समेटि कैं सुमिरन सौं लैलीन।
मन वच क्रम करिहोत हैं, हरि ताके आधीन।
सुमिरन ही मे शील है, सुमिरन मे सन्तोष।
सुमिरन ही तें पाइये सुन्दर जीवन-मोष॥[3]

नाम-रस-पान का वर्णन गुलाल साहब कुछ और ही ढङ्ग से करते हैं जो पढ़ते ही बनता है—

१—संत काव्य पृ० २८०।
२—वही पृ० २६१।
३—संत सुधा सार—भाग १, पृ० ६३५।

राम रस अमरा है भाई, कोउ साध-संगति तें पाई।
बिन घोटे बिन छाने पीवै, कौडी दाम न लाई।
रंग रंगीले चढ़त रसीले, कबहीं उतरि न जाई।
छके छकाये पगे पगाये, झूमि झूमि रसलाई।
बिमल बिमल बानी गुन बोले, अनुभव अमल चढ़ाई।
जहँ-जहँ जावै चिर नहिं आवै, खोलि अमल लै घाई।
जल पत्थल पूजन करि मानत, फोकट गाढ़ बनाई।
गुरु परताप कृपा तें पावै, घट भरि प्यास फिराई।
कहै गुलाल मगन ह्वै बैठे, मंगिहै हमरी बलाई॥[1]

हिन्दी के अष्टछाप के कवियों के साहित्य में नाम-महिमा का वर्णन करने वाले अनेक पद मिलते हैं। सूरदास ने हरिनाम-स्मरण और कीर्तन का उपदेश दिया है और नाम-कीर्तन से होने वाले फल का विवरण दिया है। रामनाम एक भारी ओट है जिसका परिचय सूरदास जी इस प्रकार देते हैं—

बड़ी है रामनाम की ओट।
सरन गये प्रभु काटि देत नहिं, करत कृपा कै कोट।
बैठत सबै सभा हरि जू की, कौन बड़ौ को छोट?
सूरदास पारस के परसैं मिटति लोह की खोट॥[2]

भगवान का यशोगान करने से भक्ति सहज ही मिल जाती है। हरि-स्मरण के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है, उसी से सब सुखों की प्राप्ति होती है, भगवान के साक्षात्कार का यही साधन है। सौ बात की एक बात यह है कि दिन-रात भगवान का स्मरण करना चाहिए।[3] स्थान-स्थान पर सूरदास जी ने हरिनाम के जपने से होने वाले फलों का वर्णन किया है। नाम के स्मरण से तरे हुए अनेक पापियों के उदाहरण देकर उन्होंने यह समझाया है कि हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये। यद्यपि सूरदास के उपास्य-देव कृष्ण हैं तो भी उन्होंने 'राम' नाम के रहस्य का बखान किया है। सम्भवतः इसका कारण यही है कि उनके समय में राम-नाम का इतना प्रचार हो गया था कि

१—संत सुधा सार, पृ० १२३, १२४।

२—सूरसागर—प्रथम स्कंध, पृ० ७६।

३—वही—द्वितीय स्कंध, पृ० ११६।

राम-नाम में सब कोई अपने-अपने उपास्य देव का साक्षात्कार कर लेते थे। दो वर्ण वाले राम-नाम के अद्‌भुत स्वरूप का चित्र सूरदास जी खींचते हैं—

उदभुत राम नाम के अंक।
धर्म अंकुर के पावक द्वै दल, मुक्ति-वधू-ताटंक।
सुनि-मन-हंस-पच्छ-जुग, जाकै बल उड़ि ऊरध जात।
जनम-मरन-काटन कौ कर्तरि तीछन बहु विख्यात।
अन्धकार-अज्ञान हरन कौं रबि-ससि जुगल प्रकास।
वासर निसि दोउ करै प्रकासित महा कुमग अनयास।
दुहूँ लोक सुखकरन, हरनदुख, बेद-पुराननि साखि।
भक्ति ज्ञान के पंथ सूर ये, प्रेम निरन्तर भाषि ॥९०॥[1]

वास्तव में राम-नाम निर्धन का ऐसा धन है जिसे चोर उठा ले नहीं जा सकता, जो कभी घटता नहीं, जो बड़े काम की वस्तु है, जो पानी में नहीं डूबता, अग्नि में नही जलता, जो सब प्रकार का सुख देने वाला है।[2]

सूरदास जी अपने मन को प्रबोध देते हुए कहते हैं :—

अब तुम नाम गहौ मन नागर।
जातैं काल-अगिनि तैं बाँचौ, सदा रहौ सुख-सागर।
मारि न सकै, विघन नहिं ग्रासै, जम न चढ़ावै कागर।
क्रिया-कर्म करतहु निसि-वासर भक्ति कौ पंथ उजागर।
सोचि विचारि सकल-स्तुति-सम्मति, हरि तैं और न आगर।
सूरदास प्रभु इहिं औसर भजि उतरि चलौ भवसागर ॥९१॥[3]

परमानन्ददास जी के अनुसार प्रातःकाल उठ कर हरिनाम लेना चाहिए, सम्पूर्ण दिन आनन्द से बीतेगा। भगवान करुणासागर हैं, सब प्रकार के विघ्नों का नाश करते हैं। वे कलिकाल का मल दूर करते हैं। भव-सागर पार करने के लिए कृष्ण का नाम चिन्तामणि और कामधेनु के समान है। शिव, ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता तथा मुनि-जन इस नाम की अभिलाषा करते हैं। भक्त-वत्सल भगवान का नाम कल्पवृक्ष के समान वांछित वर देने वाला है।

प्रात समें उठि हरि नाम लीजै आनन्द सों सुख में दिन जाई।
चक्रपानि करुना को सागर विघ्न विनासत जादोंराई।

१—सूर सागर—प्रथम स्कंध, पृ० २९।
२—वही।
३—वही।

कलिमल हरन तरन भवसागर भक्त चिन्तामणि कामधेनु ।
सिव विरंचि इन्द्रादिक देवता मुनि जन करत नाम की आस ।
भगतवछल ऐसो नाम कल्पद्रुम बरदायक परमानन्ददास ।[1]

कृष्ण का नाम-स्मरण-मात्र से गोपिका किस तरह उन्मत्त होती है, घर-बार को भुला कर किस तरह पागल बनती है, इसका मार्मिक चित्र उपस्थित करते हुए नन्ददास यों गा उठते हैं—

कृष्ण नाम जब तै सुन्यो री आली,
भूली री भवन हौं तौ बावरी भई री ।
भरि-भरि आवै नैन चित हूँ न परै चैन,
तन की दसा कछु औरे भई री ।
जेतिक नेम धर्म व्रत कीनेरी, मैं बहु विधि,
अंग अंग भई मैं तो श्रवनमई री ।
नन्ददास जाके श्रवन सुने ऐसी गति,
माधुरी मूरति कैधों कैसी दई री ।।५४।।[2]

मीरांबाई ने भी राम-नाम का गुणगान करने में वैसी ही मस्ती प्रकट की है जैसी उन्होंने कृष्ण के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने में प्रकट की है । वे कहती हैं :—

रसियो राम रिझाऊँ ए माइ, राम नाम मेरे मन बसियो ।
बिरहै पीड की बात सखी री, कासूँ कहूँ समझाई ।।
तन करि ताल रमन करि मिरदंग, सुणतहिं सुरति जगाऊँ ए माई ।
सील सिंगार साज तन ऊपर, प्रभु के सनमुख जाऊँ, ए माई ।।
लोक लाज कुल संक निवारी, राम जी मिल्यां सुख पाऊँ ए माई ।
मीरां के प्रभु तुमरे मिलन कूँ, चरण कमल बलि जाऊँ ए माई ।।५४६।।[3]

राम नाम रूपी रस पीने का उपदेश देती हुई मीरां अपने मन से कहती है—

राम-नाम रस पीजै मनुआ, रामनाम रस पीजै ।
तज कुसंग सतसंग बैठ निज हरि चरचा सुन लीजै ।।

१—परमानन्द पद संग्रह, पद संख्या ३५ ।
२—नन्ददास ग्रन्थावली—पृष्ठ ३४४ ।
३—मीरां बृहद् पद संग्रह—पृष्ठ सं० ३०६ ।

काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ, चित्त से बहाय दीजै ।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, ताही के रंग भीजै ॥३५७॥[१]

राम-नाम ऐसा रत्न-धन हैं जिसका मोल-भाव नहीं किया जा सकता । गुरु की कृपा से ही वह प्राप्त हो सकता है । वह जन्म-जन्म की पूँजी है जो खर्च करने पर घटता नहीं, जिसे कोई चुरा नहीं सकता, जिसकी दिन-दिन वृद्धि ही होती है । भवसागर को पार करने के लिए नाम रूपी नाव आवश्यक है ।[२]

सगुण-धारा के सबसे बडे मांझी महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने राम-नाम की जैसी साधना की है वैसी शायद ही किसी भक्त कवि ने की हो। उन्होंने राम-नाम स्मरण को रामभक्ति के प्रादुर्भाव के लिए एक महत्तम साधन माना है । अपने अमर महाकाव्य रामचरित मानस के प्रारम्भ में ही रामनाम का विषय लेकर तुलसी ने युक्ति-युक्तता तथा सहृदयता के साथ चर्चा चलायी है । इससे यह भलीभांति प्रकट होता है कि तुलसी के मन में नाम के प्रति कैसा प्रगाढ़ प्रेम है और असीम श्रद्धा है । उनके अनुसार राम-नाम न केवल निर्गुण ब्रह्म से बड़ा है बल्कि सगुण ब्रह्म राम से भी बड़ा है ।

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ।
मोरे मत बड़ नामु दुहूँ तें । किये जेहि जुग निज बस निज बूते ॥
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहि जनकी । कहउं प्रतीति प्रीति रुचि मन की ।
एक दारूगत देखिअ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू ।
उभय अगम जुग सुगम नामतें । कहौं नाम बड़ ब्रह्म राम तें ।
व्यापक एक ब्रह्म अविनासी । सत चेतन घन आनन्द रासी ।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ।
नाम निरूपन नाम जतन तें । सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ।

निरुगुन तें येहि भांति बड़ नाम प्रभाउ अपार ।
कहउं नाम बड़ राम तें निज विचार अनुसार ॥२३॥[३]

१—मीरा बृहद्—पद संग्रह, पृष्ठ सं० २१८ ।

२—मीरां बृहद पद संग्रह–पृष्ठ १४४ ।

३—राम चरित मानस, बालकाण्ड–दोहा २३ ।

सगुण राम से नाम बड़ा है, क्योंकि—

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किये साधु सुखारी।
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मङ्गल बासा॥[1]

राम-नाम-स्मरण से रूप-ज्ञान के बिना भी प्रेम उत्पन्न होता है। इसीलिए नामस्मरण वास्तविक भक्ति का एक सुलभ साधन है—

देखि अहि रूपनाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम विहीना।
रूप विशेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचानें।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेखें।
नाम रूप गुन अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।[2]

गोस्वामी तुलसीदास ने नाम को जिह्वा पर स्थित मणिमय दीपक माना है जिसका प्रकाश भीतर और बाहर, हृदय और शरीर दोनों में आलोकित है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुं जो चाहसि उजियार।[3]

इस राम-नाम ने गणिका, अजामिल, व्याध, गीध, और गज जैसे दुष्टों और महापापियों को भी तार दिया है, यह कहते हुए तुलसीदास जी कभी नहीं थकते। मानस की समाप्ति करते समय इसी पतितोद्धारक नाम के राम को नमस्कार करते हुए वे कहते हैं—

पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते।[4]

नाम की प्रशसा और महत्ता का गुणगान करते-करते जब गोस्वामी जी थक जाते हैं तब यहाँ तक कह देते हैं "कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहि नाम गुन गाई।"[5]

१—राम चरित मानस—बालकाण्ड—दोहा २४।
२—वही दोहा २१।
३—वही
४—वही उत्तरकाण्ड—दोहा १३०।
५—वही बालकाण्ड—दोहा २६।

कर्नाटक के हरिदासों ने भी हरिनाम की महिमा का गान करने में ऐसी ही तल्लीनता दिखायी है जैसी हिन्दी के कवियों ने दिखायी है। सन्त धर्मदास की भाँति भक्तवर पुरन्दरदास भी कृष्ण-नाम रूपी मिसरी के व्यापारी बने हुए हैं। लोगों को सम्बोधित करके वे कह रहे है—

> "भाइयो मिसरी लो, मिसरी लो, सब लोग मिसरी लो। कमल नयन कृष्ण के नाम रूपी मिसरी का स्वाद वे ही जानते हैं जो उसे चख चुके है। बैल-गाड़ियों में लाद कर यह बेची नहीं जाती। बोरियों में दबा दबा कर यह भरी नहीं जाती, कहीं भी इस पर चुगी नही लगती, यह तो सर्वोत्तम माल है जिससे खूब लाभ मिलता है। न इससे कभी कुछ नुकसान होता है न कभी यह सड़ने लगती है। जितनी चाहे लो, इसका कोई मूल्य नहीं है। चीटियाँ भी इसे नही खाती है। नगर का यह प्रसिद्ध माल है। बार बार इसके लिये बाज़ार जाने की कोई आवश्यकता नहीं है, न इसका बाज़ार में व्यापार ही चलता है। सतत भक्तों की रसना के लिए यह मीठी लगती है।"[१]

पुरन्दरदास जी अपने एक गीत में, नाम रूपी बीज इस जगत में कब बोया गया, कब वह अंकुरित हुआ, कब उससे फूल और फल निकले, किसने उस फल को चखकर आनन्द पाया, इसका सुन्दर वर्णन करते है—

> "हे मन, सदा कहि नारायण", हरि नारायण कहो। इस जगत में नारायण-नाम रूपी बीज को पहले पहल नारद ने बोया, बालक ध्रुव द्वारा वह अंकुरित हुआ, श्रेष्ठ प्रहलाद द्वारा वह पल्लवित हुआ, राजा रुक्मांगद द्वारा विकसित हुआ, कुरू पितामह द्वारा पुष्पित हुआ, विजय की सती द्वारा उसमें फल निकला, गजेंद्र द्वारा वह अधपका बना, श्री शुकमुनि द्वारा वह परिपक्व हुआ और अजामिल ने उसका रस पिया। जब काम्य फल देने वाले इस नाम का सहारा है तब जप, तप, होम, नेम आदि की क्या आवश्यकता है? अतएव हे मन, तुम निरन्तर पुरन्दरविट्ठल का ध्यान करो।"[२]

नाम के प्रति लोगों की उदासीनता देखकर पुरन्दर कभी कभी खीझ कर बोल उठते हैं—

१—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग १—पृष्ठ २४।
२—वही पृष्ठ १८।

"नारायण का नाम क्यों नहीं लेते हो ? क्या तुम्हारी जीभ में कांटे गाड़ दिए गए हैं ? वाराणसी जाने का क्यों कष्ट उठाते हो ? देश देश की यात्रा क्यों करते हो ? मोक्ष-पथ का साधन क्या हरिनाम नहीं है ? रोज उपवास करके कष्ट क्यों उठाते हो ? जाड़े में क्यों गंगा में डुबकी लगाते हो ? हाथ पकड़े जपतप क्यों करते हो ? क्या मुक्ति का साधन हरिनाम नहीं है ? पत्नी-पुत्रों को छोड़ कर सन्यास लेने से क्या लाभ ? व्रत-नियम से क्या लाभ ? क्या इस जगत में पुरन्दर विट्ठल का एक बार स्मरण करना पर्याप्त नहीं है ?"[१]

हरिनाम के प्रति भक्त इतने आकर्षित है कि कभी-कभी वे पागलों की भाँति नाच उठते हैं। पुरन्दरदास की भी उक्ति मे ऐसे ही पागलों की मस्ती का दर्शन होता है—

"मै पगला हूँ, अच्युत के नाम रूपी दवा सिर में चढ़ गयी है। वासुदेव का नाम मुंह में रट रहा हूं, माया-पाप रूपी अंगिया को फाड़-फाड़ फेंक रहा हूँ। क्लेशरूपी पहने हुए फूल को खीच खींचकर फेंक रहा हूँ। अन्य प्रकार के दोषरूपी दीवारों को तोड़ रहा हूं। कृष्ण के चरण-कमलो में बार बार गिर रहा हूँ, अपने संकट रूपी घड़ों को तोड़ रहा हूँ, जो निष्ठावान् हैं उनके पीछे-पीछे घूम रहा हूँ, दुष्टो को देखकर पत्थर फेक रहा हूं, जो मतिहीन हैं उन्हे देखकर मूक बन जाता हूँ, हरि की निन्दा करने वालों पर मिट्टी उठा उठाकर फेक रहा हूं, उन लोगों के साथ गा गाकर नाच रहा हूँ जो मुझे पुरन्दर के चरणों में पहुँचा देने वाले हैं।"[२]

पुरन्दरदास समझते है कि इस नाम में ही समस्त रहस्यों का उद्घाटन करने वाले वेद छिपे हुए हैं। यदि भूल कर भी 'हरि' शब्द का एक बार स्मरण किया जाय तो सारे संकट उसी प्रकार चूर-चूर हो जायेंगे जिस प्रकार वज्राघात से बड़े-बड़े पर्वत भी चूर चूर हो जाते हैं।[३] "श्रीश का नाम ऐसा एक दुकूल है जिसे ओढ सकते हैं, बिछा सकते हैं, जैसा चाहे उसका उपयोग कर सकते हैं। एक बार इंदिरेश के नाम का स्मरण करने पर करोड़ यज्ञों का फल

१—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग २—पृष्ठ ११६।
२—वही पृष्ठ ७२–७३।
३—वही भाग १–पृष्ठ २८।

प्राप्त होता है।"[१] "वास्तव में दो वर्णों वाले राम-नाम की महिमा को पामर क्या जाने ? रक्त-मांस-अस्थिगत पाप को दूर करने का जो महत्त्व 'रा' वर्ण में है उसे केवल बाल्मीकि मुनि जानते हैं। 'रा' वर्ण के उच्चारण से जो पाप तन-मन से निकलते हैं उन्हें फिर से अन्दर जाने से 'मा' का उच्चारण कपाट की भाँति रोक देता है। तन-मन को पवित्र करने वाले इस 'मा' वर्ण की महिमा केवल भक्त-श्रेष्ठ हनुमान जानते हैं। इस नाम की बराबरी कर सकने की शक्ति इस जगत में और किसी वस्तु में नहीं है। इस रहस्य को जानने वालों में एक है वेद, दूसरे है काशी के शिवजी।"[२] असाधारण-शक्ति-सम्पन्न नाम की प्राप्ति तभी होती है जब जन्म-जन्म के सभी दुष्कर्मों के फलों का नाश होता है। जिसका चित्त भक्ति-रस से शराबोर है उसी के मन में इस नाम का स्थायी निवास है और उस व्यक्ति के अन्तरंग में यह दिव्य-नाम विद्यमान रहता है जिसने इस जगत के दुखो से निश्चिंतता प्राप्त की है। जो मूर्ति नयनों में समाई हुई है उसे हृदय में लाकर भजे बिना दिव्य नाम की प्राप्ति सम्भव नही है।"[३]

यदि कबीरदास ने नाम रूपी रसायन की कल्पना करके उसकी एक बूँद से शरीर के कंचन हो जाने का वर्णन किया है तो पुरन्दर ने राम-नाम रूपी खीर के बनाने की क्रिया का सुन्दर रूपक बाधा है। राम-नाम-रूपी खीर में कृष्ण नाम-रूपी चीनी मिलाकर विट्ठल-नाम-रूपी घी घोल कर रसास्वादन करो। एक मन गेहूँ लाकर उसे वैराग्य-रूपी-पत्थर पर पीस कर सूजी बनाओ और उसका पकवान तैयार करो, हृदय रूपी बरतन में भाव-रूपी पानी भर कर बुद्धि नामक पकवान तैयार कर तश्तरी में प्रदान करो, डकार-रूपी-आनन्द के साथ आनन्दमूर्ति पुरन्दर विट्ठल का स्मरण करो।"[४] पुरन्दरदास अपने प्रभु को सम्बोधित करके कहते हैं कि जब "मुझे तुम्हारे नाम का भरोसा है तब तुम्हारी क्यों परवाह करूँ।"[५] इसका तात्पर्य यह है कि पुरन्दर के अनुसार राम-नाम राम से भी बड़ा है।

१—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग १, पृष्ठ २८।

२—वही पृष्ठ २९।

३—वही पृष्ठ ३०।

४—वही पृष्ठ ३२।

५—हरिभक्ति सुधे पृष्ठ ३२।

हिन्दी और कन्नड के भक्तों में यह एक प्रवृत्ति समान रूप से पायी जाती है कि वे अक्सर नाम की महिमा का गान करते करते अपने सारे तर्क और उपदेश भूल जाते हैं और स्वयं नाम जपने में मग्न हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में कबीर, तुलसी, सूर, पुरन्दर, कनकदास, श्रीवादिराज स्वामी में पूरा साम्य दिखायी देता है।

कबीर--

राम सिमरि राम सिमरि राम सिमरि भाई।
राम नाम सिमरन बिन बूड़ते अधिकाई।[१]

तुलसी—

राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।
घोर भव-नीर निधि नाम निजु नाव रे!।[२]

सूर—

हरि हरि हरि सुमिरो सब कोई
हरि हरि सुमिरत सब सुख होई।[३]

पुरन्दर—

राम राम राम राम राम कहो रे,
रघुराम के नाम का नित्य गान करो रे।[४]

कनकदास—

राम गोविंद हरे कृष्ण गोविंद।
दामोदर हरि विष्णु मुकुन्द।[५]

वादिराज स्वामी—

नारायण नारायण नारायण
नलिनोदर नारद प्रियनाम जय नारायण।[६]

१—कबीर ग्रंथावली—पृष्ठ ३२०।
२—विनय पत्रिका-तुलसी ग्रंथावली भाग २—पृष्ठ ४९४।
३—सूरसागर द्वितीय स्कंध—पृष्ठ ११६।
४—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—पृ० २९।
५—कनकदासर कीर्तन भाग १—पृष्ठ ११।
६—श्री कर्नाटक हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ५, पृष्ठ ७७।

कनकदास ने रामनाम को ही सबसे बड़ा मंत्र माना है। उनका कहना है कि जिस प्रकार नेम-रहित होम व्यर्थ है उसी प्रकार राम-नाम-रहित मंत्र व्यर्थ है। पानी में डुबकी लगाना, नारियल अर्पित करना, सप्ताह में एक बार उपवास करना आदि व्यर्थ है। यदि नरसिंह के दिव्य नाम का स्मरण किया जाय तो सब पाप कट जायेंगे।[१] कनकदास जी न केवल श्रेष्ठ भक्त थे बल्कि उत्तम कवि भी थे। अतः उनके पदों में जैसी भावुकता का परिचय मिलता है कन्नड के अन्य भक्त-कवियों के साहित्य में शायद ही मिले। जब नारायण नामक नाम प्राप्त हुआ है तब दूसरा नाम क्यों चाहिए? जब सीधा रास्ता मालूम हो गया है तब पहाड़ी रास्ता क्यों पकड़ना चाहिए? जब आठों ऐश्वर्य और मिष्टान्न मिल गए हैं तब जूठन क्यों खानी चाहिए? जब थाली में अमृतमय अन्न प्राप्त है तब भिक्षा मांग कर क्यों खानी चाहिए? जब हाथ में ही गुड़ मौजूद है तब पत्थर क्यों तोड़ना चाहिए? जब सर्वशक्तिमान आदि-केशव वर्त्तमान हैं, तब अन्य छोटे-मोटे देवों की चिंता क्यों की जाय?'[२]

श्री पादराय, विजयदास, वरद गोपालदास, गोपालदास, मोहनदास आदि दासों ने भी नाम की अलौकिक शक्ति का नाना प्रकार से वर्णन किया है। कर्नाटक के समस्त वैष्णव-भक्तों ने हिन्दी के सन्तों तथा वैष्णव भक्तों की भांति भगवान के नाम को अपनी भक्ति-साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इन भक्तों के समूचे साहित्य का अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान के और नामों की अपेक्षा राम-नाम ही अधिक लोकप्रिय है। न केवल हिन्दी के निर्गुणिया सन्तों ने राम-नाम को अपनाया है बल्कि हिन्दी और कन्नड के कृष्णभक्त प्रेमी भक्तों ने भी 'राम-नाम' का जप किया है और उसका भूरि-भूरि गुण गान किया है। इन असंख्य भक्तों की साधना तथा वाणियों की असाधारण शक्ति के कारण दो वर्णों का 'राम' शब्द इतना अर्थ-पूर्ण और भाव पूर्ण हो गया है कि वह असीम और अवर्णनीय बन गया है। उसकी असाधारण महिमा वाणी से, कल्पना से परे बन गयी है। वस्तुतः सारा जगत् राममय हो गया है। भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी के स्वर में स्वर मिला कर हमें भी यह कहना पड़ता है—

'सियाराममय सब जग जानी करौं प्रनाम जोरि जुग पानी'

१—कनकदासर कीर्तन—भाग १,
२—वही —पृष्ठ ६४।

आत्मनिवेदन, शरणागति अथवा प्रपत्ति तथा भगवान की भक्तवत्सलता

पांचरात्र संहिताओं और भगवद्गीता में 'शरणागति' की विशद व्याख्या की गई है। अहिर्बुध्न्य संहिता में कहा गया है कि भगवान से निश्चिल भाव से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि मैं अपराधों का आलय हूँ, अकिंचन हूँ तथा आश्रयहीन हूँ। हे भगवन्, आप ही मेरे उद्धार के लिए उपाय बनिए।[१] भगवान ने भगवद्गीता में कहा है 'हे भारत, सब प्रकार से उस परमेश्वर की शरण में जा, तू उस परमात्मा की कृपा से ही परम शांति और शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा।' 'सब धर्मों का त्याग करके मेरी ही शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से छुटकारा दूँगा, किसी बात का सोच न कर।'[२] भारतवर्ष के सभी भक्तों ने 'शरणागति' को भक्ति-साधना का आवश्यक अग माना है। हिन्दी और कन्नड के सभी सगुण तथा निर्गुण-मतावलम्बी भक्तों ने आत्मदोष, अज्ञातता, दीनता प्रकट करते हुए अपने-अपने उपास्य-देव की शरण में जाने की अभिलाषा व्यक्त की है। लेकिन जहाँ सगुण-मतावलम्बी भक्तों की रचनाओं में शरणागति का जो तत्व है उसका आधार वैदिक-शास्त्र-ग्रंथों में प्रतिपादित शरणागति है, वहाँ निर्गुण-मतावलम्बी भक्तों ने 'शरणागति' को अपने ढंग से अपनाया है। विशेष रूप से, कर्नाटक के शिवशरणों ने 'शरणागति' का मौलिक ढंग से निरूपण किया है। शिवशरणों के 'षट्स्थल-भक्ति-सिद्धान्त' में जिसका परिचय इसके पहले ही दिया गया है, पाँचवां स्थल 'शरण स्थल' है। शिवशरणों ने अपने वचनों में शरणस्थल की विस्तार के साथ व्याख्या करते हुए शरणागति की महत्ता का वर्णन किया है। शिवशरणों के साधना-मार्ग की चर्चा करते हुए श्री आर० आर० दिवाकर जी ने कहा है कि 'पूर्णार्पण-मार्ग, समन्वय-

---

१—अहमस्म्यराधानामालयो ऽ किंचनो गति :।
त्वमेवोपायभूतो में भवेति प्रार्थना–मति :।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन प्रयुज्यताम्।
अहि० संहिता—३७।३१।

२—तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत
तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥
सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥
भगवद्गीता—अध्याय १८।

मार्ग अथवा शरणमार्ग कहा जा सकता है। साधक का अपना सर्वस्व अर्थात् शक्ति, युक्ति, भक्ति, तन मन, भाव तथा प्राण, करण, कर्म–अनन्य भाव से परमात्मा के चरणों में अर्पित करना ही अर्पण-मार्ग है। सांस लेने के कार्य से लेकर सभी कार्यों को परमात्मा में अर्पित समझ कर करना ही इस मार्ग का मूलतत्त्व है। भक्ति, ज्ञान, कर्म, ध्यान इनमें से किसी एक ही का अवलंबन न करके सबका समन्वयात्मक-मार्ग ग्रहण करने के कारण यह समन्वय-मार्ग कहलाता है। चूंकि साधक पूर्णरूप से परमात्मा की शरण में जाता है अतः इसे शरणमार्ग भी कहते हैं।[1] शिवशरणों का विश्वास है कि जब साधक अपना सर्वस्व परमात्मा में अर्पण करता है तब वह हर क्षण अपनी सब शक्तियों, गुणों और कर्मों के द्वारा परमात्मा की ओर अग्रसर होता है। धीरे-धीरे साधक का अहंकार घटता जाता है, सब दोष नष्ट होते जाते हैं और अन्त में उसे परमात्मा का साक्षात्कार होता है। शिवशरणों के वचनों में शरणागति का विस्तार किया गया है। कतिपय वचनों का सारांश इस प्रकार है—

तन, मन, धन का अर्पण—चेन्न बसव कहते हैं कि इष्ट लिंग में शरीर को अर्पित करना चाहिए, प्राणलिंग में मन को अर्पित करना चाहिए, भाव लिंग में प्राण को अर्पित करना चाहिए। इन तीनों प्रकार के अर्पण से महाघन लिंग में समरस ऐक्य प्राप्त होता है।[2] इस त्रिविध अर्पण का वर्णन बसव इस प्रकार करते हैं—'तन देने पर तनशून्य बना, मन देने पर मनशून्य बना, धन देने पर धन शून्य बना—इस प्रकार त्रिविध अर्पण के कारण बसव की शून्य समाधि कूडलसंगम में स्थापित हुई।'[3] बसव इन त्रिकरणों के कारण अत्यन्त विकल हैं। वे अपनी हीन दशा को प्रकट करते हुए अपने आराध्य-देव की शरण में जाने की इच्छा करते हैं। वे कहते हैं—मैं इन पचेन्द्रियों के गुणों से विकल हूँ, मन के विकार से मेरी मति भ्रष्ट हुई है, धन के विकार से मेरी धृति भ्रष्ट हुई, काय-विकार से मेरी गति भ्रष्ट हुई है, हे कूडलसंगम देव, तुम्हारी शरण में आया हूँ।'[4] इस अर्पण द्वारा भगवान का साक्षात्कार होता है। बसव इस साक्षात्कार का मर्म समझाते हुए कहते हैं—जब तन तुम्हारा हो गया तब मेरा अलग तन नहीं रहा, जब मन तुम्हारा हो गया तब मेरा

१—वचनशास्त्र रहस्य—आर० आर० दिवाकर–पृष्ठ ४८।
२—वचनशास्त्र सार–भाग २–पृष्ठ ३७।
३—वचनशास्त्र रहस्य–दिवाकर–पृष्ठ ५२।
४—वही· पृष्ठ ५१।

अलग मन नहीं रहा, जब धन तुम्हारा हो गया तब मेरा अलग धन नहीं रहा। इस प्रकार ये तीनों करण तुम्हारे होगए, मेरा अलग कुछ नहीं रहा।'[१] निष्काम भाव से अपना सर्वस्व—तन, मन, धन—परमात्मा को अर्पित करने के बाद जीव की जो स्थिति होती है उसे इस सम्प्रदाय में 'प्रसाद' कहते हैं। अल्लम प्रभु आत्मा की प्रसादि-अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'जब करणों के गुण नष्ट होते हैं और नवचक्रों से मुक्ति मिलती है तब और क्या रहा ? न स्वर्ग है न नरक, और क्या रहा ? न पाप न पुण्य, और क्या रहा ? गुहेश्वर लिंग को प्राप्त करके सुखी होने के बाद और क्या रहा ?'[२]

इस प्रकार शिव शरणों ने शरणागति को सर्वार्पण के रूप में ग्रहण किया है। उनकी भक्ति-पद्धति में आत्मनिवेदन, दैन्य-भाव-प्रकाशन का भी बड़ा महत्व है। अखण्डेश्वर नामक शिवशरण अपने उपास्य-देव 'अखण्डेश्वर' की शरण में जाने की इच्छा प्रकट करते हुए कहते हैं—"जिस तरह बाघ के मुँह में 'हिरनी' पड़ी हुई है, साँप के मुँह में मेंढक फँसा हुआ है उसी तरह माया के जाल में सभी लोग फँसे हुए हैं। इसे देख कर भयभीत हो गया हूँ। हे करुणानिधि, मेरी रक्षा करो।"[३]

यद्यपि बसव ने अपने उपास्य-देव कूडल संगमदेव को भक्तवत्सल के रूप में भी सम्बोधित किया है[४] तो भी बहुतेरे शिवशरणों के वचनों में भक्तवत्सलता का भाव बहुत कम पाया जाता है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि शिवशरणों के शिव भक्तवत्सल ही नहीं अपितु जो निष्ठा के साथ षट्स्थल-भक्ति की साधना नहीं करते, जो गुरु लिंग, जंगम, आचार, प्रसाद की महत्ता नहीं जानते,[५] उन्हें दण्ड भी देते हैं और महानरक भी भेजते है। इस प्रकार वीर-शैवों के शिव पिता, रक्षक ही नहीं शासक और अपराधियों को दण्डविधान भी करते हैं।

कर्नाटक के हरिदासों ने अपने कृष्ण को भक्तवत्सल और दुष्ट-भंजक के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने दैन्य-भाव प्रकट करते हुए उनकी शरण

१—वचनशास्त्र-रहस्य—दिवाकर, पृष्ठ ५२।
२—वचन शास्त्र सार—भाग २, पृ० ५७।
३—वचनशास्त्र-रहस्य
४—बसवण्णनवर षटस्थलव वचनगछ्छु, पृ० १८३।
५—वही पृ० २०५।

में जाने की अभिलाषा प्रकट की है। कनकदास ने अपने अनेक पदों में शरणागति का भावपूर्ण वर्णन दिया है। उनके एक गीत का भाव इस प्रकार है—"हे आदिकेशव, यह शरीर तुम्हारा है, यह मेरा जीव तुम्हारा है, रोज़ जितने सुख दुख आते हैं वे भी तुम्हारे हैं। मधुरवचन, वेद, पुराण, शास्त्र आदि को सुनने की मेरी जो अवस्था है वह भी तुम्हारी है। नवयुवतियों के सुन्दर रूप को ध्यान से देखने की दृष्टि तुम्हारी है। चन्दन, कस्तूरी आदि सुगन्धित वस्तुओं का लेपन तुम्हारा है। षट्रस-युक्त अन्न के लिए लालायित होने वाली जिह्वा तथा जिह्वा की रुचि भी तुम्हारी है। माया-पाश के फंदे में फँसा हुआ यह शरीर और शरीर की पंचेंद्रिय तुम्हारी हैं। आदिकेशव तुम्हारे बिना मनुष्यों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है ?"[१] दूसरे एक गीत में कनकदास ने भगवान के दसों अवतारों का वर्णन करते हुए उनकी भक्तवत्सलता की प्रशंसा की है।[२]

श्रीवादिराज स्वामी ने भी अपने उपास्य-देव कृष्ण को भक्तों का रक्षक और दुष्टों का नाशक बताया है।[३]

कर्नाटक के शिवशरण और हरिदास दोनों ने भगवान की भक्तवत्सलता के साथ-साथ उनके दुष्ट-दमन करने के गुण पर भी ज़ोर दिया है। यदि हरिदासों ने पौराणिक कहानियों का वर्णन करते हुए कृष्ण को भक्त-रक्षक और दुष्ट-नाशक के रूप में चित्रित किया है तो शिवशरणों ने अपने शिव का भी दुष्ट-नाशक और भक्त-पालक होना बताया है।

हिन्दी के निर्गुणिया संतों की साधना में शरणागति तथा भगवान की भक्त-वत्सलता का जो रूप है वह सगुणोपासक भक्तों से कुछ भिन्न है। इस भिन्नता का मुख्य कारण यह है कि संतों के इष्टदेव राम निर्गुण, निराकार पर-ब्रह्म हैं और विशुद्ध प्रेम-स्वरूप हैं। वे अपने भक्तों का उद्धार करने के लिए कोई अवतार लेकर नहीं आते और दुष्टों का संहार नहीं करते। वे घट-घट में व्याप्त हैं और अनन्य प्रेम-भक्ति से भक्तों को मिल जाते हैं। ये संत अपने इष्टदेव राम का साक्षात्कार कभी दास्य-भाव से, कभी मधुर-भाव से कर लेते हैं। संतों की शरणागति तथा उनके उपास्य-देव की भक्तवत्सलता का परिचय पाने के लिए कतिपय संतों की वाणियों के उद्धरण पर्याप्त हैं। कबीरदास अपने राम से अपने दुर्गुणों का वर्णन करते हैं—

१—कनकदासर कीर्तन—पृष्ठ ७।
२—वही पृष्ठ ३४।
३—हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग ५, पृष्ठ १३।

माधौ कब करिहौ दया ।
कांम क्रोध अहंकार व्यापै, नां छूटे माया ।।
उतपति व्यंद भयौ जा दिन थें कबहूँ सचु नहीं पायौ ।
पंच चोर संगि लाइ दिए हैं, इन संगि जनम गँवायौ ।।
तन मन डस्यौ भुजंग भामिनीं, लहरी वार न पारा ।
सो गारड़ू मिल्यौ नहीं कबहूँ पसर्यौ विष विकराला ।।
कहै कबीर यहु कासूं कहिये, यह दुख कोइ न जानैं ।
देहु दीदार विकार दूरि करि, तब मेरा मन मानैं ।[1]

भगवान जैसे परम प्रेमी को पाने के लिए भक्त को बड़ा से बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है और अपने आपा को दे देने से बढ़ कर भक्त और कौन सा मूल्य चुका सकता है ?

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं ।
सीस उतारै भुंइ धरै तब पैठे घर माहिं ।।[2]
नेह निभाए ही बनै सोचै बनै न आन ।
तन दे मन दे सीस दे नेह न दीजै जान ।।[3]

रैदास जी के अनुसार करुणामय और जगत के आधार-स्वरूप कृष्ण का दर्शन इसीलिए नहीं होता कि उनकी मति अति चंचल है । दो सज्जनों में परस्पर प्रीति तभी होती है जब कि दोनों एक दूसरे को देखते हैं । भगवान तो उनको सदा देखते हैं लेकिन रैदास की मति अपनी सुधि खो बैठी है । भगवान सब घटों में रमे हुए हैं, लेकिन उन्हें रैदास नही पाते । भगवान सब गुणों के आगार हैं, लेकिन रैदास ने भगवान के उपकार को भुला दिया है । नासमझी से रैदास ने भगवान को नहीं जाना । अब उनका निस्तार कैसे हो ?"[4] सन्त गरीबदास अपनी अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं—

पार पाऊँ कैसे ।
माया सरिता तरून तरंगनि, जल जोवन को वैसे ।
नैननि रूप नासिका परिमल, जिभ्या स्वाद श्रवण सुनिबे को ।
मन मारे मोहे ऐसे ।।१।।

१—कबीर ग्रन्थावली—पृ० १९२ ।
२—कबीर वचनावली—पृ० १०३ ।
३—कबीर वचनावली—पृ० १०५ ।
४—सन्त काव्य संग्रह—पृ० २१६, १७ ।

पंचों इन्द्री चंचल चहु दिसि, असथिर होहि करहु तुम तैसे ।
"गरीबदास" कहैं नांव नाव दो, खेइ उतारो जैसे ॥२॥[1]

मलूकदास अपने राम की शरण में जाने की इच्छा प्रकट करते हैं और कहते हैं—"अब तेरी शरण आयो राम ।

जबै सुनिया साध के मुख, पतित पावन नाम ।
वही जान पुकार कीन्हीं, अति सताओ काम ।
विषय सेती भयो आजिज, कह मलूक गुलाम ॥[2]

जैसा कि ऊपर कहा गया है संतों के इष्टदेव भक्तवत्सल हैं, पतितों तथा गरीबों का उद्धार करते हैं, किंतु कहीं अवतार लेकर दुष्टों का मर्दन नहीं करते । चरनदास का निम्नलिखित पद इस कथन की पुष्टि करता है—

राखो जी लाज गरीब निवाज ।
तुम बिन हमरे कौन संवारै, सबही बिगरे काज ॥
भक्त बछल नाम कहावो, पतित उधारन हार ।
करौ मनोरथ पूरन जनको, सीतल दृष्टि निहार ॥
तुम जहाज मैं काग तिहारो, तुम तजि अंत न जाऊँ ।
जो तुम हरिजू मारि निकासौ, और ठौर नहिं पाऊँ ।
चरनदास प्रभु सरन तिहारी, जानत सब संसार ।
मेरी हंसी सो हंसी तुम्हारी, तुमहूँ देखु विचार ॥[3]

हिन्दी के कृष्णोपासकों ने भगवान के प्रति पुरुषार्थ रहित अनन्य-भक्ति के भाव प्रकट किए हैं । सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने वैसे तो अपने भगवान की सभी भावों से उपासना की है, किंतु उन्होंने सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों की व्यंजना में विशेष उत्साह दिखाया है । जहाँ इन भक्तों ने संपूर्णतया लोकाश्रय का त्याग करके अपने इष्ट-देव में अनन्याश्रय पाया है वहाँ उनके भगवान वात्सल्य, सत्य और मधुर भाव से भक्तों का मन रखने वाले हैं । ये भगवान कभी बालक बनकर अपनी निरीह बाल-लीलाओं से अपने भक्त का मन बहलाते हैं, कभी सखा बनकर साथ देते हैं और कभी प्रियतमा के रूप में संयोग और वियोग द्वारा आनन्द पहुँचाते हैं । इन सभी

१—संत काव्य संग्रह—पृ० ३२० ।
२—वही पृ० ३५४ ।
३—संत सुधासार—भाग २, पृष्ठ १५६ ।

अवस्थाओं में जहाँ एक ओर भक्त की दीनता, अज्ञानता, दुर्गुणों और पापों का प्रकाशन होता है वहाँ दूसरी ओर भगवान अपनी भक्तवत्सलता के वशीभूत होकर भक्त की रक्षा करने तथा उसे और सुख आनन्द देने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं। अष्ट-छाप के भक्तों की साधना में भक्त और भगवान के परस्पर सम्बन्ध में इतनी समीपता, आत्मीयता एवं तन्मयता की स्थिति उत्पन्न होती है कि अनिर्वचनीय रसानुभव का आनन्द मिलता है। सूरदास के आराध्य लीला-निकेत कृष्ण, सखा के रूप में अपने भक्त के प्रति जो भक्तवत्सलता प्रकट करते हैं वह अध्यात्म-साधना की अन्य पद्धतियों में शायद ही देखने को मिले। कृष्ण अर्जुन से यों कहते हैं—

हम भक्तनि के, भक्त हमारे।
सुनि अर्जुन परतिज्ञा मोरी, यह व्रत टरत त टारे।
भक्तनि काज लाज जिय धरि कै, पाइ पियादे धाऊँ।
जहं-जहं भीर परै भक्तनि कों, तहं-तहं जाइ छुड़ाऊँ।
जो भक्तनि सौं बैर करत हैं, सो बैरी निज मेरौ।
देखि विचारि भक्त-हित-कारन, हाँकत हौं रथ तेरौ।
जीतैं जीति भक्त अपने की, हारैं हारि बिचारौं।
सूरदास सुनि भक्त-विरोधी, चक्र सुदरसन जारौं॥२७२॥[1]

इनके भगवान भक्त का हित करने के लिए चाहें तो अपनी प्रतिज्ञा का त्याग भी करते हैं—

"गोविंद कोपि चक्र कर लीहौं।
छांडि आपनौ प्रन यादवपति, जन को भायौ कीन्हौ।
रथ तै उतरि अवनि आतुर ह्वै, चले चरन अति धाए।
मनु संचित भू भार उतारन, चपल भए अकुलाए।
कछुक अंग तै, उडत पीतपट, उन्नत बाहु विशाल।
स्रवत स्रोनकन, तन सोभा, छवि-घन बरसत मनु लाल।
सूर सु भुजा समेत सुदरसन देखि बिरंचि भ्रम्यौ।
मानौ आन सृष्टि करिबे कौं, अंबुज नाभि जम्यौ॥२७३॥[2]

१—सूरसागर—प्रथम स्कंध—पृष्ठ ८७।
२—सूरसागर—प्रथम स्कंध—पृष्ठ ८७-८८।

सूरदास की भाँति परमानन्द दास भी अपने इष्ट-देव की भक्तवत्सलता का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

एक व्रत माधो प्रथम लियो,
जे प्रानी भगतनि को दुखवै ताकौ फारौं नखन हियौ।
पराधीन हों अपने भगत को जा कारन अवतार धरौं।
मारे दुष्टनि असुर जहाँ लगि अभिमानी को गरबु हरौं,
मेरे भक्त को जे कोउ सतावै तै जन मोसौं बेरु करै।
रखवारी को चक्रसुदर्शन माथे ऊपर सदा फिरै।
भजते भजों तजों नहिं कबहुँ पारथ प्रति श्रीपति भाषी,
परमानन्ददास को ठाकुर देव मुनिन बहु सुख साषी ॥[1]

अष्टछाप के कवियों के आत्मदोष-प्रकाशन तथा शरणागति में जैसी भावप्रवणता पायी जाती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। सूरदास कहते हैं—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
तुम सों कहा छिपी करुनामय, सबके अन्तरजामी।
जो तन दियौ नाहि विसार्यौ, ऐसौ नौन-हरामी।
भरि-भरि द्रोह विषै कौं धावत, जैसे सूकर ग्रामी।
सुनि सतसंग होत जिय आलस, विसयिनि संग बिसरामी।
श्री हरि चरन छांड़ि विमुखन की निसिदिन करत गुलामी।
पापी परम, अधम अपराधी, सब पतितन में नामी।
सूरदास प्रभु अधम उधारन सुनियै श्रीपति स्वामी ॥१४८॥[2]

शरणागति की चरम-सिद्धि तब तक सम्भव नहीं है जब तक लोकाश्रय का पूर्ण रूप से त्याग नहीं किया जाता। इस तत्त्व का रहस्य अष्टछाप के भक्त कवि भली भांति जानते थे। इसीलिए कृष्णदास का कथन है—

ज्यों ज्यों राखो त्यों रहूँ जु देहु सु खाऊँ,
तुम ही मेरे पति गति लेउं तेरे नाऊँ।

मेरे जाने तजहु गिरिधरन जो तुमहिं छांडि पिय कौंन पै जाऊँ,
कृष्णदास कहै या त्रिभुवन में तेरे द्वारे बिना हरि नाहीं कहूँ ठाऊँ ॥[3]

१—परमानन्ददास पदसंग्रह—पद नं० २९९।
२—सूरसागर—प्रथम स्कंध—पृष्ठ ४९।
३—कृष्णदास पदसंग्रह—पद सं० ७७।

भक्तों ने नाना प्रकार से शरणागति की महिमा गायी है। जब तक भक्त भगवान की शरण में नहीं जाता तब तक उसकी क्या दशा रहती है उसका वर्णन नन्ददास जी यों करते हैं—

हे सुन्दर वर नन्दकिसोर। रागादिक तबई लगि चोर।
तबई लगि बन्धन आगार। देहगेह अरु नेह विथार।
तबई लगि दिढ जंजर जेरी। मोह-लोह की पाइनि बेरी।
जब लगि जन नहिं भये तुम्हारे। हे ईश्वर ब्रजराज दुलारे।[1]

प्रेमयोगिनी मीरां बाई अपने मन को गिरधर-नागर के चरणों का आश्रय पाने का प्रबोध देती हुई शरणागति की महत्ता समझाती है—

मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग सीतल कंवल कोमल, त्रिविधि ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हें, सखी अपनी शरण।
जिण चरण ब्रह्माण्ड प्रभु परसि लीणो तरी गौतम घरण।
जिण चरण काली नाग नाथ्यो, गोपी लीला करण।
जिण चरण गोबरधन धरयौ, इन्द्र को गर्व हरण।
दासी मीरां लाल गिरधर, अगम तारण तरण ।।३१२।।[2]

मीरां के प्रभु भक्तवत्सल हैं और वे अपने भक्तों की रक्षा के लिए समय समय पर अवतार लेकर प्रकट होते हैं। शरणागति तथा भगवान की भक्त-वत्सलता के सम्बन्ध में मीरां की भी वही धारणा है जो कन्नड के हरिदासों तथा हिन्दी के अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की है।

कृष्ण के अनन्य प्रेमी-भक्त रसखान की भक्ति-साधना में शरणागति का जो भाव है वह अनूठा ही है। निम्नलिखित पद में रसखान की अभिलाषा साकार होकर सर्वार्पण में परिणत होती है।

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुरकौ तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि कौ सुख, नन्द की गाइ चराइ बिसारौं।
आंखिन सौ 'रसखानि' कबों ब्रज के बन-बाग-तडाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत के धाम, करील की कुंजन ऊपर बारौं।[3]

१—नंददास ग्रंथावली—भाषा दशम स्कंध—पृ० २७३।
२—मीरां बृहद् पद संग्रह—पृष्ठ १६३।
३—ब्रजमाधुरी सार—पृष्ठ १४६।

कर्नाटक के हरिदासों की दास्य-भाव की भक्ति-पद्धति में शरणागति तथा भगवान की भक्तवत्सलता का जो रूप है वह भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसी दास के दास्य-भाव से मिलता-जुलता है। हरिदासों के उपास्य-देव कृष्ण हैं और गोस्वामी तुलसीदास के इष्ट-देव राम हैं। ये दोनों अवतारी हैं और पर-ब्रह्म भी। ये भक्त अपने आराध्य के सम्मुख आत्मदोषों का वर्णन करते हुए भगवान की कृपा पाने के लिए कातर हैं। उनके भगवान करुणासागर हैं और भक्तों की रक्षा का सदा ख्याल रखते हैं। इन दोनों प्रदेशों के भक्तों की विचार-धारा में पूरा साम्य है जिसका स्पष्ट परिचय निम्नलिखित उद्धरणों से मिलता है :—

तुलसीदास—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसौ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसौ॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ही ठाकुर, हौं चेरौ।
तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हितू मेरो॥
तोहि मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन सरन पावै॥७९॥[1]

पुरन्दरदास—

गीत का भावार्थ :—

"मैं बुद्धिहीन हूँ, तुम मदन के जनक हो। मेरी त्रुटियों का ख्याल न कर मेरा उद्धार करो। मैं पापकर्मी हूँ तुम पापनाशक हो। कोप, मद, मत्सर आदि मुझ में भरे हैं। तुम दुख दूर करके सब को निर्भय करने वाले हो। मैं रूप छाया से मोहित होता हूँ। तुम शरण रक्षक हो। मैं बड़ा अहंकारी हूँ तुम अगम्य हो। मैं भाग्यहीन हूँ, तुम इंदिरापति हो। आगे पीछे की बात मैं नहीं जानता। तुम सदा भक्तों का पालन करते हो।[2]

१—विनयपत्रिका—(तुलसी ग्रंथावली भाग २) पृष्ठ ५००।
२—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग १, पृष्ठ १६२।

दशम अध्याय

भक्ति-आन्दोलन की देन

हिन्दी और कन्नड का भक्ति-साहित्य

कुछ कारण—विश्लेषण :

ऊपर के अध्यायों में, विशेष रूप से अष्टम और नवम अध्यायों में, हिन्दी और कन्नड के माध्यम से अभिव्यक्त भक्ति के प्रमुख भावों तथा विभिन्न श्रेणियों के भक्तों की विचार-धाराओं का तुलनात्मक परिचय देते हुए इस बात की ओर संकेत किया गया है कि हिन्दी का भक्ति-साहित्य न केवल आकार-प्रकार की दृष्टि से बल्कि विविध भक्ति-भावों की सूक्ष्म कलात्मक व्यंजना की दृष्टि से भी कन्नड के भक्ति-साहित्य से बढ़ा-चढ़ा है। दोनों साहित्यों के इतिहास के अवलोकन से यह विदित होता है कि साहित्य-निर्माण में प्रेरक-शक्ति के रूप में भक्ति का प्रवेश हिन्दी से कुछ पहले ही कन्नड में हो गया था। ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविकतया यह प्रश्न उठता है कि भक्ति-भाव का विकास जितना हिन्दी में हुआ उतना कन्नड में क्यों नहीं हुआ? अब इसके कारणों पर विचार करने के पहले यह देख लेना चाहिए कि कन्नड के भक्ति-साहित्य का कौन सा पहलू हिन्दी के भक्ति-साहित्य से पिछड़ा हुआ है।

(अ) हिन्दी-प्रदेश में जितनी भक्ति-साधना की पद्धतियाँ हैं उतनी कन्नड-प्रदेश में नहीं हैं। हिन्दी-प्रदेश की वे प्रमुख भक्ति-पद्धतियाँ, जिनका हिन्दी-साहित्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, निम्नलिखित प्रकार की हैं—

(१) सगुण राम-भक्ति शाखा
(२) निर्गुण राम-भक्ति-शाखा
(३) अष्ट-छाप की कृष्ण-भक्ति-शाखा
(४) राधावल्लभीय कृष्ण-भक्ति-शाखा
(५) हरिदासी सम्प्रदाय की राधा-कृष्ण की युगल-भक्ति-शाखा
(६) गौडीय सम्प्रदाय की मधुरभाव प्रधान राधा-कृष्ण-भक्ति-शाखा
(७) सूफ़ियों की मधुर-भक्ति-शाखा

कन्नड-प्रदेश की भक्ति-पद्धतियाँ :—

(१) शिवशरणों का षट्स्थल-भक्ति-सिद्धान्त

(२) माध्वमतावलम्बी हरिदासों की कृष्ण-भक्ति

(अ) कन्नड में वात्सल्य, सख्य तथा मधुर-भावों का विशेष विकास नहीं हुआ है।

(इ) कन्नड के प्रबन्ध-काव्यों में भक्ति का वैसा निरूपण तथा वर्णन नहीं हुआ है जैसा तुलसीदास के रामचरित मानस में हुआ है।

(ई) हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों का कन्नड में प्रतिरूप नहीं पाया जाता।

(उ) कन्नड में राधा तथा राधा-कृष्ण की युगल-उपासना का सर्वथा अभाव है।

(ऊ) कन्नड में निर्गुण रामभक्ति-शाखा का प्रचार नही हुआ है।

अब यह विचार करना चाहिये कि किन-किन कारणों से कन्नड में भक्ति का विशेष उत्कर्ष सम्भव नहीं हुआ। सबसे पहले लक्ष्य करने की बात यह है कि यदि हिन्दी के लिए उसका भक्ति-काल स्वर्णयुग सिद्ध हुआ तो कन्नड में भक्ति का प्रवेश उस समय हुआ जिस समय उसका स्वर्ण युग बीत चुका था। हिन्दी का स्वर्णयुग लगभग सन् १३१८ से सन् १७४३ तक (सम्वत् १३७५–१७०० तक) माना जाता है और कन्नड का स्वर्णयुग सन् ईस्वी की नवी शताब्दी से १२ वीं शताब्दी तक बताया जाता है। कन्नड में स्वर्णयुग का प्रादुर्भाव जैन कवियों की महत्त्वपूर्ण कृतियों के कारण हुआ। इस स्वर्णयुग के प्रमुख कवि थे पम्प, रन्न तथा पौन्न जो 'कविरत्नत्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस समय कन्नड-साहित्य में जैन-मतावलम्बी कवियों का सर्वाधिकार था। जैन कवि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के विद्वान् थे और उन्होंने उक्त भाषाओं के रामायण, भारत जैसे महाकाव्यों का कन्नड में प्रतिरूप उपस्थित किया। प्रत्येक जैन कवि ने, साधारणतया, दो प्रकार के काव्य रचे—एक लौकिक काव्य अथवा विशुद्ध काव्य, दूसरा धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक ग्रंथ। प्रथम प्रकार के काव्यों में रामायण, महाभारत के कथानकों का चित्रण किया गया और दूसरे प्रकार के ग्रंथों में जैन-तीर्थंकरों की जीवनियों का वर्णन किया गया। उदाहरण के लिए महाकवि पम्प ने 'विक्रमार्जुन विजय' अथवा 'पम्प भारत' और 'आदिपुराण' : रन्न ने 'साहस भीम विजय' अथवा 'गदायुद्ध' और 'अजित पुराण' : नागचन्द्र अथवा अभिनव

पम्प ने 'रामचन्द्रचरित पुराण' अथवा पम्प रामायण और 'मल्लिनाथ पुराण' नामक दो-दो प्रकार के ग्रंथों का निर्माण किया। प्रथम प्रकार के काव्यों के लिए इन कवियों ने कथावस्तुएँ वैदिक-संस्कृत-महाकाव्यों से ग्रहण कीं, किन्तु उन पर जैन-धर्म का ऐसा रंग चढ़ाया कि उनका मूल रूप ही बहुत कुछ बदल गया। परिणामतः न केवल इन काव्यों के सब के सब पात्र जैन-धर्मावलंबी बना दिये गये बल्कि वस्तु-विधान, घटना-क्रम, वातावरण, आदर्श आदि को भी जैन-धर्म के अनुकूल बना दिया गया। उदाहरण के लिए नागचन्द्र की रामायण में सभी पात्र जैन-मतावलम्बी बना दिये गए हैं। परम जैन होने के कारण रामचन्द्र जी के हाथों से रावण का वध न करा कर लक्ष्मण के हाथों से कराया गया है और इस महान् हिंसात्मक कार्य के लिए लक्ष्मण को नरक भोगने का भी विधान किया गया है। यद्यपि जैनों की ये कृतियाँ काव्य-कला की दृष्टि से उच्च कोटि की सिद्ध हुईं और कन्नड-भाषा-भाषियों को संस्कृत के महाकाव्यों का अपनी ही भाषा के माध्यम से रसास्वादन करने का मौका मिला तो भी इन वैदिक महाकाव्यों में भक्ति-भाव का जो प्रांजल रूप विद्यमान था उसका वे दर्शन नहीं कर सके। क्योंकि इन जैन कवियों का प्रधान उद्देश्य अपने मत का प्रचार करना ही था। चूंकि जैन धर्म में भक्ति के प्रकाशन के लिए कोई स्थान नहीं था, इसलिए इन वैदिक महाकाव्यों के अमर पात्र राम और कृष्ण पहले पहल कन्नड-भाषा-भाषियों को उस रूप में प्राप्त नहीं हुए जिस रूप में वे हिन्दी के काव्यों में प्रकट हुए। बारहवीं शताब्दी के उपरान्त भागवत-मतावलम्बी कवियों ने रामायण, भारत जैसे वैदिक महा-काव्यों का कन्नड में नये सिरे से, प्रधानतया षट्पदि नामक काव्य-शैली में, प्रणयन किया। रुद्रभट्ट (सन् १२००) का 'जगन्नाथ विजय' (कृष्ण काव्य), नार्णप्प अथवा कुमार व्यास (सन् १४००) का 'भारत', नरहरि अथवा कुमार वाल्मीकि (सन् १५००) का 'तोरवे रामायण' आदि अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों द्वारा कन्नड-साहित्य में एक नूतन युग उपस्थित हुआ। ये भागवत कवि अवश्य ही भक्त-हृदय रखते थे और इनकी रचनाओं में भक्ति-भाव अन्तर्धारा के रूप में व्याप्त था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी प्रदेश के भक्त कवियों की भाँति इन कवियों का मुख्य उद्देश्य भक्ति का संदेश देना नहीं रहा। एक प्रकार से इन रचनाओं में 'चरित-काव्य' का रूप ही प्रधान रहा। यद्यपि इस समय कर्नाटक में वीरशैव और वैष्णव-मतों के प्राबल्य के कारण जैनधर्म का पैर उखड़ गया था तो भी जैन कवियों की महान् साहित्यिक कृतियों का प्रभाव कन्नड-साहित्य पर बना रहा। वीरशैव

तथा वैष्णव भक्त-कवियों ने लोक-भाषा को साहित्य-सृजन का माध्यम बनाया तथा जैनियों की संस्कृत-निष्ठ शैली के प्रति विद्रोह किया। वस्तु-निरूपण, चरित्र-चित्रण, छन्दोयोजना इत्यादि में भी इन कवियों ने जैनियों का अन्धानुकरण न करके अपना मार्ग अलग चलाने का प्रयत्न किया। फिर भी पम्प, रन्न, पोन्न जैसे महान् कलाकारों के काव्य-कृतित्व का कुछ न कुछ प्रभाव परवर्ती सभी मतावलम्बी भक्त कवियों की रचनाओं पर पड़े बिना नहीं रहा। वीरशैव क्या, वैष्णव क्या, सभी ने अपनी काव्य-साधना के लिए जैन महाकवियों से स्फूर्ति ग्रहण की। विशेष रूप से प्रबन्ध काव्यों के क्षेत्र में जैन कवि बेजोड़ थे, अतः परवर्ती सभी प्रकार के प्रबन्ध काव्यों पर जैन महाकाव्यों की छाप किसी न किसी रूप में पड़े बिना नहीं रही। इसलिए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कन्नड के भक्ति-काल में जितने आख्यानक काव्य रचे गए उनमें भक्ति तत्व की अपेक्षा चरित-काव्य-तत्व ही प्रधान रहा।

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कर्नाटक में वीरशैव-सम्प्रदाय का पुनः संगठन हुआ। कन्नड-साहित्य में पहले-पहल भक्ति-भाव का प्रवेश कराने का श्रेय बसव तथा उनके अनुयायी वीरशैव भक्तों को दिया जाना चाहिए। वीरशैव सम्प्रदाय का भक्ति-मार्ग षट्स्थल-भक्ति-सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है जिसका परिचय ऊपर के अध्यायों में दिया जा चुका है। इस भक्ति-सिद्धान्त के निरूपण में शैवमत की विभिन्न शाखाओं की साधना-पद्धतियों से प्रेरणा ग्रहण की गई है। विशेष रूप से इसका सम्बन्ध तमिलनाड के शैव-सिद्धान्त के साधना-मार्ग से बताया जाता है। कर्नाटक के विशाल प्रदेश में वीरशैव सम्प्रदाय फैला और उसके द्वारा भक्ति-भावना का भी प्रचार हुआ। यद्यपि साम्प्रदायिक संगठन के बल पर, विशेषतया उसके अति उदार समाजसुधार सम्बन्धी विचारों के कारण वीरशैव-मत का व्यापक प्रचार कर्नाटक में हुआ तो भी उसके द्वारा प्रतिपादित भक्ति-पद्धति का गहरा प्रभाव लोक-जीवन पर नहीं पड़ सका। इसके कई कारण थे। एक यह था कि इस सम्प्रदाय के उपास्य-देव शिव निर्गुण निराकार थे जो साधारण जनता की रागात्मिक वृत्ति को अधिक जगा नहीं सके। आगे चलकर इस सम्प्रदाय में साम्प्रदायिक विधि-नियमों पर इतना जोर दिया गया कि भक्ति का स्थान गौण होता गया। बसव, अक्कमहादेवी जैसे भक्तों के वचनों में भक्ति की जैसी गहरी अनुभूतियों का परिचय मिलता है वैसी परवर्ती भक्तों के वचनों में नहीं मिलती। बसव के परवर्ती काल में हरिहर (सन् १२००) राघवांक (सन् १२२५), चामरस (सन्१४३०) जैसे प्रतिभासम्पन्न वीरशैव कवि हुए जिन्होंने विविध शैलियों

में काव्यों का निर्माण किया। यद्यपि इनके काव्यों में भक्ति ओत-प्रोत है तो भी कवियों की प्रतिभा का परिचय रचना-कौशल में ही मिलता है न कि भक्ति के निरूपण में। और एक बात ध्यान देने की यह है कि षट्स्थल-भक्ति-सिद्धान्त में दास्य-भाव पर ही विशेष जोर दिया गया है। अतः इसमें भक्ति के अन्य भावों की अभिव्यक्ति विशेष रूप से नहीं हो सकी। वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड, वाह्याडम्बर, वेशभूषा, अवतार आदि का खण्डन करने के उत्साह में वीरशैव भक्तों ने अन्य मतावलम्बी लोगों पर कभी-कभी ऐसा आक्रमण किया जो वीर-शैव-मत की अभिवृद्धि में बाधक ही सिद्ध हुआ।

(कर्नाटक में भक्ति-साधना का विशेष उत्कर्ष माध्वमतावलम्बी हरिदासों द्वारा हुआ। हरिदासों की भक्ति-पद्धति का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। भक्ति-भाव की पहली शर्त है—उपासक और उपास्य का पृथक्त्व। माध्व सम्प्रदाय में इस तत्व की पूरी प्रतिष्ठा हुई है। अतः यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी-प्रदेश के वैष्णवमतावलम्बी भक्तों के साहित्य में भक्ति-भाव का जितना विकास हुआ उतना हरिदासों की रचनाओं में क्यों नहीं हुआ? जिस समय वृन्दावन में अष्ट-छाप के भक्तों का आविर्भाव हुआ था लगभग उसी समय में कर्नाटक में पुरन्दर, कनकदास जैसे श्रेष्ठ हरिदासों का अवतार हुआ था। हरिदासों में बहुतों ने देश के प्रमुख तीर्थस्थानों की यात्रा की थी और उत्तर-भारत में भी भ्रमण किया था। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्तों के साथ इन हरिदासों का सम्पर्क क्यों नहीं स्थापित हुआ और परस्पर विचार विनिमय क्यों नहीं हुआ? इन प्रश्नों का सम्यक् उत्तर देना कठिन ही है। क्योंकि इन दोनों के परस्पर सम्पर्क के सम्बन्ध में कन्नड में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। नाभादास के भक्तमाल में नरहरि, व्यासराय, जगन्नाथ आदि नाम पाये जाते हैं, लेकिन यह कहा नहीं जा सकता कि ये ही कर्नाटक के हरिदास नरहरितीर्थ, व्यासराय, जगन्नाथदास थे। इन दोनों प्रदेशों के भक्तों के बीच में किस तरह का सम्बन्ध था और वे परस्पर प्रभावित हुए थे या नहीं यह एक गम्भीर विषय है जिस पर स्वतन्त्र रूप से शोध का कार्य किया जा सकता है। किसी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इस विषय पर कोई निश्चित मत प्रकट करना कठिन है। यह कहा नहीं जा सकता कि हरिदासों ने जान-बूझ कर राधा-कृष्ण के प्रेम का समावेशन अपनी भक्ति-साधना में नहीं किया। क्योंकि हरिदास-साहित्य में ऐसे बहुत से पद मिलते हैं जिनमें गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति प्रेम प्रकट किया गया है और मधुर-भाव के संयोग तथा

वियोग दोनों पहलुओं का थोड़ा-बहुत चित्रण किया गया है। यदि हरिदासों ने राधा-कृष्ण के प्रेम को अनुचित अथवा अपने सम्प्रदाय के विरुद्ध मान लिया होता तो कृष्ण के प्रति गोपिकाओं के प्रेम का चित्रण न किया होता।

कुछ लोगों की यह धारणा है कि हरिदासों की साधना-पद्धति में राधा-भाव का समावेशन इसीलिए नहीं हुआ कि इन भक्तों ने श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत-पुराण में प्रतिपादित भक्ति को ही अपना आदर्श माना था। इन दोनों ग्रंथों में राधा-भाव की कोई चर्चा नहीं पायी जाती यद्यपि हिन्दी के कृष्णोपासक कवियों ने श्रीमद्भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण-लीला को अपनाया था। किन्तु, फिर भी, उनकी-उपासना-पद्धति में राधा-भाव का प्रवेश हो गया था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है "भागवत-पुराण में श्रीकृष्ण-लीला की जो परम्परा अभिव्यक्त हुई है उससे भिन्न एक और परम्परा थी जिसका प्रकाशन जयदेव के गीतगोविन्द में हुआ है। भागवत परम्परा की रास-लीला शरत्-पूर्णिमा को हुई थी, गीत-गोविद-परम्परा का रास वसन्त काल में। प्रथम में राधा का नाम भी नही है, दूसरी में राधिका ही प्रमुख गोपिका है। सूरदास आदि परवर्ती भक्त-कवियों में ये दोनों परम्पराएँ एक दूसरे से गुंथ कर एक हो गई हैं।"[१]

वैसे तो मध्यकालीन समस्त भक्त कवियों ने भगवान की लीला का विस्तार करते हुए अपनी-अपनी भक्ति-साधना को प्रशस्त किया था। लेकिन हिन्दी का यह परम सौभाग्य रहा कि उसके माध्यम से भागवत तथा गीत गोविन्द की परम्पराओं का एक सम्मिलित रूप प्रकट हुआ। फलतः हिन्दी की सगुण धारा के कवियों ने हरि-लीला के प्रकट रूप का और निर्गुणधारा के साधकों ने भगवान की अप्रकट नित्य-लीला का ऐसा मधुर गान गाया कि उसकी रस-धारा से सारा हिन्दी-प्रदेश ही नहीं अपितु भारतवर्ष का अति विशाल भूभाग सिंच गया। इस लीला का सार-सर्वस्व भगवान का प्रेम ही था और इस प्रेम के आलम्बन थे निखिलानन्दसंदोह भगवान ही। जहाँ कबीरदास, दादू आदि सन्तों ने इस परम प्रेम की लीला का क्षेत्र अपने अपने हृदय के मध्य में स्थापित किया था वहाँ कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने वृन्दावन में कृष्ण तथा राधा एवं अन्य गोपिकाओं की केलि-क्रीड़ा द्वारा इसका विस्तार किया था। निर्गुणिया सन्त अपने सीमित दायरे में गहरे उतरे। कृष्ण-भक्त कवियों ने मानवीय सम्बन्ध के सभी भावों के आश्रय से अपने प्रेम की अमृत-धारा

१—मध्यकालीन धर्म साधना—पृ० १३५।

बहायी। यही कारण है कि ब्रजभाषा के साहित्य में वात्सल्य, सख्य, माधुर्य-भावों का विशेष परिपाक हुआ। कर्नाटक के भक्ति सम्प्रदायों में इस प्रेम-भक्ति की अधिक पुष्टि नहीं हुई। कर्नाटक के भक्त विशेष रूप से भगवान के अनन्त-गुण और सामर्थ्य की महिमा का वर्णन करने में ही तल्लीन रहे। यही कारण है कि कर्नाटक के भक्ति-साहित्य में भावाभिव्यंजना का वैसा विकास नहीं हुआ जैसा हिन्दी में हुआ।

सूफ़ी साधकों का प्रेमाख्यानक काव्य हिन्दी का एक विशिष्ट भक्ति-साहित्य है। जिन राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के कारण इस साहित्य का निर्माण हुआ वे परिस्थितियाँ कर्नाटक में पैदा नहीं हुई। विजयनगर साम्राज्य के पतन के उपरान्त कर्नाटक में मुसलमानों का प्रवेश हुआ, किन्तु, बहुत लम्बे अर्से तक उनका कर्नाटक में बस जाना और कर्नाटक की जनता के निकट सम्पर्क में आना सम्भव नहीं हुआ।

हिन्दी-प्रदेश की भाँति कर्नाटक में राम-भक्ति-शाखा का कोई स्वतन्त्र संगठन नहीं हुआ। कर्नाटक के हरिदासों ने रामनाम का जप किया है और राम की स्तुति विष्णु के एक अवतार के रूप में की है। लेकिन उनकी भक्ति-पद्धति में विष्णु या हरि और उनको अवतार कृष्ण का ही प्रधान स्थान था। राम-कथा पर कन्नड में अनेक आख्यानक काव्य लिखे गये हैं लेकिन इन काव्यों द्वारा रामोपासना के लिए विशेष उत्तेजना नहीं मिली। इसका एक प्रबल कारण यह है कि कन्नड-साहित्य के आरम्भिक काल में राम-काव्यों का प्रणयन जैन कवियों ने किया था जिनमें भक्ति-भाव के लिए कोई स्थान नहीं था। नागचन्द्र अथवा अभिनव पम्प (सन् ११००) का 'रामचन्द्र चरित पुराण' अथवा 'पम्प रामायण' कुमुदेंदुमुनि की (सन् १२२५) 'कुमुदेन्दु रामायण' जैन रामायणों में मुख्य हैं। पंद्रहवीं शताब्दी में नरहरि अथवा कुमार वाल्मीकि ने वाल्मीकि रामायण के आधार पर 'तोरवे रामायण' की रचना की। यद्यपि नरहरि भागवत सम्प्रदाय के भक्त थे तो भी उनके काव्य में भक्ति-भाव का परिपाक नहीं हुआ। यह एक सरस चरित-काव्य ही रहा और राम-भक्ति के प्रचार में यह काव्य विशेष सहायक सिद्ध नहीं हुआ। कर्नाटक में गोस्वामी तुलसीदास जैसा न कोई भक्त कवि उत्पन्न हुआ जिसने 'रामचरित-मानस' जैसा अमर काव्य रचा, न कबीर जैसा निर्गुणिया सन्त हुआ जिसने राम-नाम का अद्भुत रसायन तैयार किया।

कन्नड के भक्ति-साहित्य के सम्बन्ध में और एक बात ध्यान देने की यह है कि कर्नाटक में सगुण मतावलम्बी हरिदासों का आविर्भाव वीरशैव-मत

की स्थापना के करीब डेढ़ सौ सालों के बाद हुआ। उस समय वीरशैव-मत एक सुसंगठित सम्प्रदाय के रूप में कर्नाटक के विशाल प्रदेश में फैल चुका था। निर्गुण-मतावलम्बी वीरशैवों का मुकाबला करने के लिए हरिदासों को अपने मत का संगठन भी सुदृढ़ बनाना आवश्यक था। अतः जिस प्रकार वीरशैव भक्त अपने मत के साम्प्रदायिक संगठन की ओर ध्यान दिया करते थे उसी प्रकार हरिदास भी माध्वमत के दार्शनिक तत्वों के निरूपण तथा प्रतिपाद की ओर ध्यान देते थे। श्री व्यासराय, श्री पादराय, राघवेन्द्र तीर्थ, जगन्नाथ-दास जैसे हरिदास जितने बड़े भक्त थे उतने बड़े आचार्य भी थे और समय समय पर शास्त्रार्थ भी करते थे। इनमें से बहुतों ने माध्वमत के दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण करने के लिए संस्कृत में साम्प्रदायिक ग्रन्थों का निर्माण भी किया था। भक्ति आन्दोलन के इतिहास का अवलोकन करने पर यह विदित होता है कि जिस किसी भक्ति-सम्प्रदाय में जब जब [illegible] का प्रवेश हुआ तब तब उसका विशुद्ध भक्ति-रूप मन्द पड़ने लगा। वीर शैव तथा हरिदासों के बारे में भी यह कथन सच निकला। हिन्दी का यह सौभाग्य रहा कि उसमें कबीर, तुलसी, सूर, मीरा जैसे भक्तों का अवतार हुआ। ये भक्त कभी अपने एक अलग सम्प्रदाय की स्थापना करने के झमेले में नहीं पड़े। बसव, अल्लम, महादेवियक्क, पुरन्दरदास, कनकदास जैसे कर्नाटक के महान भक्त भी मौका मिलने पर अपने अपने सम्प्रदाय के दार्शनिक तत्वों का निरूपण तथा प्रचार करने में लग जाते थे।

हिन्दी के भक्ति-साहित्य के सर्वतोमुखी विकास में दक्षिण भारत की विभिन्न आध्यात्मिक साधनाओं का योग-दान महत्त्वपूर्ण था। इसके अतिरिक्त मध्यभारत तथा पूर्वीभारत की अनेक भक्तिप्रधान साधनाओं के सम्पर्क के कारण यहाँ की भक्ति पद्धतियों में ऐसे कुछ तत्वों का समावेश हुआ जो उन्हें परिपुष्ट तथा आकर्षक बनाने में सहायक सिद्ध हुए। उदाहरण के लिये बौद्ध सहजयान, वज्रयान, निरंजनमत तथा नाथमत की विचार-धाराओं ने हिन्दी के निर्गुणिया सन्तों की वाणियों में नयी जान फूँक दी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक उथल-पुथल तथा सामाजिक विषमता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यहाँ की साधनायें शक्तिशाली बनीं। और एक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि हिन्दी-प्रदेश में भक्ति आन्दोलन के साथ-साथ शैवमत की रही सही शक्ति भी लुप्त होने लगी। इस प्रकार नाना कारणों से हिन्दी का भक्ति-साहित्य समृद्ध हुआ।

भाषा और साहित्य को नयी प्रेरणा देने के रूप में

हिन्दी और कन्नड-प्रदेशों के लोक-जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं है जिस पर भक्ति-आन्दोलन का गहरा और व्यापक प्रभाव न पड़ा हो। दोनों प्रदेशों की भाषाओं के लिए भक्ति आन्दोलन वरदान सिद्ध हुआ। जिस समय कर्नाटक में बसव तथा अन्य शिवशरणों का आविर्भाव हुआ उस समय कन्नड के साहित्य-क्षेत्र में जैनियों का सर्वाधिकार था। इन जैनियों ने यद्यपि कन्नड में विविध विषयों पर उच्च-कोटि के ग्रन्थों का निर्माण करके कन्नड-साहित्य को सर्वांग-सुन्दर और समृद्ध बनाया था तो भी कन्नड भाषा में संस्कृत शब्दों की ऐसी भरमार कर दी थी कि उसका सम्बन्ध लोक जीवन के साथ नहीं रह गया था और इस कारण से कन्नड का साहित्य राजदरबारों के पण्डितों तथा समाज की उच्च श्रेणी के इने गिने लोगों के मनोरंजन की वस्तु बन गया था। शिवशरणों ने कन्नड भाषा के क्षेत्र में एक नूतन क्रांति उपस्थित की। उन्होंने विशुद्ध बोलचाल की भाषा में बड़े ही सरल ढङ्ग से भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, नीति तथा सदाचार की बातें सुनायीं। यद्यपि साहित्य का निर्माण करना इन शिवशरणों का उद्देश्य नहीं था तो भी उनकी वाणियाँ विचारों की उच्चता, अभिव्यक्ति की सरलता एवं सरसता के कारण उत्तम साहित्य का रूप ग्रहण करने लगीं जो आगे चलकर 'वचन साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। शिवशरणों ने अपने वचनों में किसी निश्चित छन्द, अलंकार का उपयोग नहीं किया। किन्तु उनमें सहज गति, लय और संगीत का समावेश था और गीत-काव्य का सौन्दर्य अपने आप आ गया था। जैसे जैसे वीरशैव सम्प्रदाय का प्रचार और प्रसार हुआ वैसे ही वैसे वचनकारों की संख्या बढ़ी और उनके द्वारा कन्नड में विशाल वचन साहित्य का निर्माण हुआ। वचनकारों के असाधारण व्यक्तित्व के कारण ये वचन कन्नड के उपनिषद् के रूप में प्रख्यात हुए। यह वचन-शैली कन्नड में शताब्दियों तक चलती रही। इस प्रकार शिवशरणों के इन वचनों के द्वारा बोलचाल की कन्नड भाषा का गौरव बढ़ा तथा सब प्रकार के काव्यों के लिए वह व्यवहृत होने लगी।

शिवशरणों का अनुकरण करते हुए माध्वमतावलम्बी हरिदासों ने भी लोक भाषा के माध्यम से अपनी भक्ति का सन्देश दिया। कहा जाता है कि माध्वमतावलम्बी मठों और मन्दिरों में श्रीकृष्ण की पूजा-सेवा संस्कृत के माध्यम से हुआ करती थी। श्रीपादराय ने पहले पहल संस्कृत के साथ साथ कन्नड में भजन-कीर्तन का क्रम चलाया। यद्यपि कुछ कट्टर माध्वों ने कुछ

समय तक इसका विरोध किया तो भी आगे चलकर कन्नड के भजनों की लोकप्रियता दिनों दिन बढ़ने लगी। तेरहवीं शताब्दी से लगभग अठारहवीं शताब्दी तक एक बड़ी परम्परा चली जिसमें पुरन्दरदास, कनकदास जैसे प्रतिभा-सम्पन्न भक्त-गायक हुए। अधिकांश हरिदासों ने इसी लोक-भाषा में भक्ति-परक मधुर भजन बनाये जिनका कीर्तन-मण्डलियों द्वारा कर्नाटक के घर घर में प्रचार हुआ। चूँकि हरिदासों की साधना-पद्धति का निरूपण वैदिक शास्त्र-ग्रन्थों के आधार पर हुआ था इसलिए हरिदासों के साहित्य पर संस्कृत की गहरी छाप पड़ी और बोलचाल की भाषा में संस्कृत की कोमल-कांत-पदावली का सुन्दर पुट मिला। इसके अतिरिक्त और एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि हरिदासों ने जितने गीत रचे विभिन्न राग-रागिनियों के अनुसार रचे, अतः उनकी वाणी में विशेष सरसता का संचार हुआ। भक्त-शिरोमणि पुरन्दरदास संगीतशास्त्र के मर्मज्ञ थे और वे नारद के अवतार भी माने जाते हैं। पुरन्दरदास के मधुर गीतों के कारण आगे चल कर दक्षिणा-पथ का संगीत 'कर्नाटक संगीत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार कर्नाटक के भक्तों की वाणियों का सहारा पाकर कन्नड भाषा समृद्ध हुई।

जिस समय कर्नाटक में भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ उस समय कन्नड में उच्च कोटि के काव्य रचे जा चुके थे और कन्नड भाषा की साहित्यिक शैली प्रौढ़ बन चुकी थी जिस पर संस्कृत भाषा की गहरी छाप पड़ी थी। कर्नाटक के भक्तों ने इस संस्कृतनिष्ठ शैली के प्रति विद्रोह किया और अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिये साधारण बोलचाल की कन्नड को अपनाया। किन्तु हिन्दी प्रदेश की परिस्थिति कुछ भिन्न ही थी। वस्तुतः, वहाँ पर भक्ति-आन्दोलन के सूत्रपात के साथ साथ हिन्दी की विभिन्न साहित्यिक शैलियाँ गठित होने लगीं। हिन्दी के विशाल भूप्रदेश में समय-समय पर भिन्न-भिन्न मार्गों के अन्तर्गत नाना श्रेणियों के भक्त हुए और प्रत्येक भक्त-समुदाय ने अपने-अपने प्रदेश की जनभाषा को ऊपर उठाया। वहाँ के भक्ति-आन्दोलन के सर्वप्रथम उन्नायक स्वामी रामानन्द जी हुए। यद्यपि स्वामी रामानन्द संस्कृत के विद्वान थे तो भी उन्होंने स्वयं हिन्दी में भजन रच कर अपने शिष्य वर्ग के सामने भाषा के सम्बन्ध में एक नया आदर्श उपस्थित किया। स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में सैकड़ों भक्त हुए जो प्रधानतया दो श्रेणियों में विभक्त थे। एक निर्गुण-भक्ति-शाखा थी और दूसरी सगुण-भक्ति-शाखा। निर्गुण-भक्ति-शाखा के सर्वप्रथम और सर्व श्रेष्ठ सन्त कबीर थे। कबीर न भाषा के पण्डित थे, न साहित्य का निर्माण करना उनका उद्देश्य ही था।

लेकिन उनका व्यक्तित्व ऐसा असाधारण था कि भाषा पर उन्होंने पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। उन्होंने स्वयं अपनी शिक्षा तथा भाषा के बारे में यों कहा था—

मसि कागद तो छुयो नहि, कलम गही नहिं हाथ।
चारिहु जुग महात्म्य तेहि, कहिकै जनायौ नाथ॥
बोली हमारी पूरबी, हमें लखा नहिं कोई।
हमको तो सोइ लखै, धर पूरब का होई॥[1]

कबीर की भाषा बनारसी या पूरबी बोली थी, लेकिन उसमें अवधी, ब्रज, भोजपुरी, खड़ी बोली, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी, फारसी आदि कई भाषाओं के शब्द मिले जुले थे। यद्यपि कबीर की भाषा का कोई निश्चित रूप नहीं था तथापि उसमें अद्‌भुत शक्ति थी और अपूर्व ओज था। भाषा के बारे में कबीर का निश्चित मत था, इसीलिए उन्होंने कहा था "कबिरा संस्कृत कूपजल भाषा बहता नीर"। उनकी भाषा के बारे में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है "भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नज़र आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत नही है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह-कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताक़त कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत हो कर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीर' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्व को मूर्तिमान कर दिया गया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।"[2]

कबीर की भाषा सरल, सीधी-सादी, स्वाभाविक, प्रभावोत्पादक तथा प्रसादगुणयुक्त है। कबीर के उपरान्त जितने सन्त हुए उन सभी ने

१—कबीर बीजक, साखी १८१, १७७।
२—कबीर—पृष्ठ २१८।

लगभग इसी सामान्य मिली-जुली भाषा का प्रयोग किया। सुन्दरदास जैसे कतिपय संत भाषा के पण्डित भी थे और उनकी भाषा सुगठित तथा प्रवाह-मयी है। संतों के विशाल साहित्य द्वारा हिन्दी-साहित्य का भण्डार समृद्ध हुआ। इन संतों की भाषा की एक बड़ी विशेषाता यह है कि आज जिस खड़ी बोली को सारे भारतवर्ष की राज-भाषा बनने का गौरव प्राप्त हुआ है उसका मूल रूप संत साहित्य की मिली-जुली भाषा में विकसित होता आया है।

सगुण-राम-भक्ति शाखा के महाकवि भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी थे जिनका 'अवधी' और 'ब्रज' काव्य-भाषा की दोनों शाखाओं पर समान और पूर्ण अधिकार था। उन्होंने अपने प्रसिद्ध 'रामचरित मानस' को अवधी में लिखा है जिसमें पूरबी और पछांही (अवधी) दोनों का मेल है। उनकी रचनाओं में 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' और गीतावली की भाषा ब्रज है तथा पार्वतीमंगल, जानकी मंगल, रामलला नहछू—तीनों की भाषा अवधी है।

तुलसीदास के पूर्व अवधी में जायसी तथा अन्य सूफी कवियों ने अपने आख्यानक काव्यों की रचना की थी। लेकिन उनकी भाषा ग्रामीण रूप लिए हुए थी और उसमें पर्याप्त मात्रा में साहित्यिक परिष्करण नहीं हुआ था। तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' जैसे अमर काव्य लिखकर अवधी को सुसंस्कृत और मधुर बनाया। तुलसीदास जी संस्कृत के पण्डित थे और साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ भी। साथ ही, अनन्य भक्त और सिद्ध कवि थे। इसलिए उनकी वाणी में ऐसी सफाई और क्षमता आयी जो इसके पहले किसी हिन्दी के कवि की भाषा में नहीं आयी थी। प्रसिद्ध है कि जिस समय तुलसीदास ने 'भाषा' में काव्य रचना करना शुरू किया उस समय संस्कृत को छोड़कर दूसरी कोई भाषा ग्रंथ रचना करने योग्य नहीं समझी जाती थी। तुलसीदास जी राम-भक्ति तथा राम-कथा का घर-घर में प्रचार करना चाहते थे। यदि वे अपने काव्य संस्कृत में लिखते तो वे पण्डितों तक ही सीमित रहते। वे तो समकालीन राजनीतिक प्रभाव की प्रतिद्वन्द्विता में जनता के हृदय में धार्मिक भावना जाग्रत करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने साहस के साथ पण्डितों के विरोध का सामना किया और जन-भाषा का समादर किया। तुलसीदास ने न केवल संस्कृत के तत्सम शब्दों को सरल बना कर तद्भव कर दिया और कोमलकांत पदावली का समावेश किया बल्कि भोजपुरी, बुन्देलखण्डी जैसी हिन्दी की अन्य बोलियों का भी स्वाभाविकता के साथ प्रयोग किया और मुगलकालीन अरबी, फारसी के प्रचलित शब्दों को अपनी भाषा में स्थान दिया। वास्तव में अवधी

को एक समुन्नत साहित्यिक भाषा बनने का जो गौरव मिला उसका अधिकांश श्रय गोस्वामी तुलसीदास को ही मिलना चाहिए।

हिन्दी की अन्यान्य प्रादेशिक बोलियों में ब्रजभाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसका साहित्यिक भाषा के रूप में समुत्थान भक्ति-आन्दोलन के काल में ही हुआ। महाकवि सूरदास के पहले ब्रजभाषा केवल बोलचाल की भाषा थी और वह कुछ गाने वालों के स्वरों में पायी जाती थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य के पौत्र गोकुल नाथ ने अपनी 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता, और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' नामक ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे थे। उनमें ब्रजभाषा का साधारण ग्रामीण रूप ही प्रयुक्त हुआ था। किंतु, ध्यान देने की बात यह है कि पुष्टि-मार्ग की भक्ति को सर्व साधारण के लिए सुलभ बनाने के उद्देश्य से गोकुलनाथ ने गंवारू भाषा को अपनाया था। फलतः सूरदास तथा अन्य अष्टछाप के भक्त-कवियों का सहयोग पाकर ब्रज-भाषा हिन्दी प्रदेश की सर्वोत्तम साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुई। सूरदास जी में भाषा का वैसा पाण्डित्य नहीं था जैसा तुलसीदास जी में था। पर, सूरदास जी भाषा के सुयोग्य पारखी अवश्य थे। उनकी भाषा उनकी काव्यवस्तु के अनुरूप थी। यद्यपि ब्रज-भाषा-व्याकरण की कसौटी पर सूरदास की भाषा पूरी खरी नहीं उतरती तथापि उसमें भावाभिव्यंजन की आसाधारण शक्ति थी। ब्रजभाषा की संगीतात्मकता तथा मधुर-स्वर-लहरी की अद्भुत छटा देखनी हो तो सूरदास के गीतों का अवलोकन करना चाहिए। उन्होंने अपनी भाषा का ढांचा संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों से बनाने का सफल उद्योग किया है, साथ ही खड़ी बोली, अवधी, बुन्देलखण्डी, पंजाबी जैसी देशी भाषाओं के शब्दों को बड़े ही सहज ढंग से अपनाया है। इसके अतिरिक्त अरबी फ़ारसी के प्रचलित शब्दों को भी उन्होंने प्रयुक्त किया। मुहावरों तथा लोकोक्तियों का उन्होंने ऐसा सुन्दर प्रयोग किया है कि उनकी अनोखी सूझ और उक्ति वैचित्र्य के सौन्दर्य की सर्वत्र वृद्धि हुई है। वात्सल्य एवं माधुर्य-भावों की व्यंजना में सूर की भाषा में जैसी सजीवता तथा रोचकता के दर्शन होते हैं वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है। अष्टछाप के अन्य कवियों में परमानन्ददास और नन्ददास की भाषा भी परिपुष्ट और साहित्यिक है जो सूरदास की भाषा के साथ बहुत कुछ साम्य रखती है।

ब्रजभाषा की समृद्धि में बहुतेरे भक्तों का सहयोग मिला है जिनमें मीरांबाई, श्री व्यास जी, हितहरिवंश, रसखान, सूरदास, मदनमोहन इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। मीरांबाई के अधिकांश पद ब्रजभाषा में

पाये जाते हैं। नाना प्रकार के भक्तों के संसर्ग में आने के कारण उन्होंने ऐसे बहुत से पद बनाये हैं जिन पर गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा की विभिन्न साहित्यिक शैलियों के विकास में भक्ति-आन्दोलन का योग महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी और कन्नड दोनों के साहित्यों का अवलोकन करने पर यह विदित होता है कि साहित्य के निर्माण में भक्ति-आन्दोलन का कितना प्रबल हाथ रहा है। नवीं और दसवीं शताब्दियों के बीच में भारतीय प्रादेशिक भाषाओं का नवोदय हुआ और उनमें साहित्य-सृजन का सूत्रपात हुआ। हिन्दी और कन्नड में भी लगभग इसी समय में साहित्य रचा जाने लगा। दोनों प्रदेशों की इस समय धार्मिक परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थी कि भक्ति-आन्दोलन की गति मन्द हो गई थी। कर्नाटक में जैन धर्म का बोलबाला था जिसका गहरा प्रभाव कन्नड साहित्य पर भी पड़ा था। हिन्दी-प्रदेश में बौद्ध और शैवमतों की विभिन्न शाखाओं की शुष्क ज्ञानप्रधान साधनाओं का प्रबल प्रचार हो चला था। यदि कर्नाटक में बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भक्ति-भाव का प्रवेश हुआ तो हिन्दी-प्रदेश में तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भक्ति-आन्दोलन का बीजारोपण हुआ। कर्नाटक में वीरशैव भक्तों के हाथ में इस आन्दोलन की बागडोर थी और हिन्दी-प्रदेश में भक्ति-भावना फैलाने वाले ये वैष्णव धर्मावलम्बी भक्त थे। दोनों प्रदेशों में जितने भक्त हुए उन्हें प्रधानतया तीन समूहों में रखा जा सकता है। पहला समूह वह था जिसके भक्त संस्कृत भाषा और साहित्य के विद्वान और दर्शन शास्त्रवेत्ता थे। दूसरे समूह के भक्त अधिकांश समाज की तथाकथित निचली श्रेणी के थे और भाषा, साहित्य, दर्शन आदि से अनभिज्ञ भी। पहले वर्ग के भक्त आचार्य कहलाये और दूसरे वर्ग के भक्त अथवा संत के नाम से प्रसिद्ध हुए। पहले में भक्त-तत्त्व कम, शास्त्र-ज्ञान-तत्त्व अधिक था। प्रथम दल के भक्तों ने भक्ति का प्रचार करने के हेतु संस्कृत में शास्त्र ग्रंथों का प्रणयन किया। भक्ति की कुछ ऐसी अद्भुत महिमा थी कि दूसरे दल के भक्त भी देशाटन, सत्संग और विचार-विनिमय के कारण ज्ञानी, महात्मा हो गये। भाषा का अध्ययन किये बिना ही भाषा के मर्मज्ञ हुए, साहित्य तथा दर्शन की शिक्षा पाये बिना ही उनके सच्चे पारखी हो गये। यदि आचार्य-श्रेणी के भक्तों ने भक्ति की सम्यक् व्याख्या और निरूपण करने के लिए शास्त्र-ग्रंथों की रचना की तो इन भक्तों ने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, नीति की बातें सुनायीं और प्रेम के गीत गाये। इनकी

वाणी ऐसी सुलभी हुई पाई गई कि उसमें साहित्य के लक्षणों का अभाव होते हुए भी साहित्य का सौंदर्य आपसे आप आगया। इन भक्तों ने साहित्य के लिये साहित्य का निर्माण नहीं किया, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति में सत्यान्वेषण की ऐसी प्रबल जिज्ञासा थी कि वह स्वयं ही साहित्य का शृङ्गार बन गई। एक दूसरे दल के साधकों में कुछ ऐसे भी थे जो श्रेष्ठ भक्त ही नहीं वरन् भाषा तथा साहित्य के अच्छे ज्ञाता और सफल कवि भी थे। हिन्दी और कन्नड दोनों प्रदेशों में उपर्युक्त सभी प्रकार के भक्त-कवि हुए जिनके द्वारा दोनों भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य की सृष्टि हुई। कर्नाटक के शिवशरणों ने प्रधानतया 'वचन' तथा 'रगळे' शैलियों में अपने भावों की व्यंजना की। परवर्ती शिवशरणों ने 'षट्पदि', 'त्रिपदि' आदि काव्य रूपों को अपनाया और गीतों के अतिरिक्त चरितकाव्य भी लिखे। हरिदासों ने नाना राग-रागिनियों में सरस भजन-कीर्तन बनाये जिनमें पद, सुळादि, उगाभोग, वृत्तनाम, रगळे, षट्पदि, त्रिपदि, सांगत्य, सुव्वालि, गुण्ड क्रिये, दण्डक आदि कई प्रकार के छन्दों का विकास हुआ। नारणप्प, नरहरि, लक्ष्मीश, आदि भागवत-सम्प्रदाय के कवियों ने विशेष रूप से विविध 'षट्पदि' छंदों में अपने महाकाव्यों की रचना की। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने हरिदासों की भांति अनेक राग-रागिनियों में गीत रचे। रामभक्ति-शाखा के प्रधान कवि तुलसीदास ने अपने समय की सभी प्रचलित काव्य-शैलियों में अपने विविध प्रकार के ग्रंथ लिखे जिनमें मुख्य शैलियाँ थीं—वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति, कबीरदास की दोहा-पद्धति तथा जायसी की दोहा-चौपाई वाली प्रबन्ध-पद्धति। कबीर, दादू, प्रभृति संतों ने जितने पद रचे वे वाणी के नाम से प्रसिद्ध हुए, जो प्रधानतया साखी, पद, रमैनी नामक भागों में विभक्त हैं। जायसी तथा अन्य सूफ़ी कवियों ने दोहा-चौपाई शैली में अपने आख्यानक काव्यों का निर्माण किया।

सामाजिक-नैतिक स्तर को उच्चता देने के रूप में

व्यक्ति समाज का अविभाज्य अंग है। अतः व्यक्ति और समाज का विकास अन्योन्याश्रित है। भक्ति-आन्दोलन में इस तथ्य की पूरी प्रतिष्ठा हुई है। चाहे वैष्णव भक्त हों, चाहे शैव भक्त, चाहे निर्गुणिया संत हों, चाहे सूफ़ी साधक, सभी ने व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता पर जोर दिया है। व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता की कल्पना सामाजिक मंगल के विधायक आचरणों के

आधार पर ही हुई है। सत्य-भाषण, अहिंसा, ब्रह्मचर्य-पालन, अस्तेय, परनिंदा-त्याग, परोपकार, सहनशीलता, सत्संग, दया, संतोष, शील आदि की व्याख्या करते हुए भक्तों ने उनकी महिमा का नाना प्रकार से वर्णन किया है। भक्तों के साहित्य में इन उपदेशों का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि एक तो भक्तों ने उपदेश के लिए उपदेश नहीं दिया है, उसे भक्ति-साधना का सहायक माना है, दूसरे, उन्होंने जो कुछ दूसरों को सुनाया है उसका स्वयं आचरण कर के दूसरों का मार्ग-दर्शन किया है।

भक्तवर बसव ने कहा है 'सत्य बोलना ही देवलोक है और असत्य बोलना ही मर्त्यलोक है, आचार ही स्वर्ग है और अनाचार ही नरक है।'[१] गोस्वामी जी तुलसीदास के मत में 'धरमु न दूसर सत्य समाना।'[२] जायसी ने समझाया है 'सत्य धर्म मूल है, वह सृष्टि का आधार है। लक्ष्मी उसकी दासी है। उसमें साहस और सिद्धि का निवास रहता है। उसी के बल से सती नारी अग्नि पर शयन करके भस्म हो जाती है। जिसने सत्य का पालन किया है वह दोनों जग से तर जाता है। सत्य-भाषण परमात्मा को परम प्रिय है। सत्य के त्याग से धर्म का नाश होता है और बुद्धि भ्रष्ट होती है।[३] प्रसिद्ध हरिदास पुरन्दर ने यह घोषित किया है कि 'सत्य ही तीर्थस्थान है, जप-तप है और असत्य का सब कार्य व्यर्थ है।'[४] कबीर के अनुसार 'सत्य के समान कोई तप नहीं है और झूठ के समान पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य है उसके हृदय में परमात्मा वास करते हैं।'[५]

जिस प्रकार सत्य भाषण आवश्यक है उसी प्रकार अहिंसा भी आवश्यक है। बसव ने दया को धर्म का मूल माना है और यह कहा है कि सब प्राणियों के प्रति दया दिखानी चाहिए। जिस धर्म में दया नहीं है वह कैसा धर्म है ?[६] कबीर ने दुर्बल को सताना हिंसा बताया है। 'दुर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय। मुई खाल की सांस सों, सार भसम ह्वै जाय।' स्वामी दादूदयाल यह समझते हैं किसी को भी दुख नहीं देना चाहिए, क्योंकि सब

१—बसवण्णनवर षट्स्थलद् वचनगळु—पृष्ठ ६३।
२—रामचरित मानस—पृष्ठ ४३५।
३—जायसी ग्रंथावली—पृष्ठ ४४।
४—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग २, पृष्ठ १२६।
५—कबीर वचनावली—पृष्ठ १४५।
६—वचनशास्त्र सार—भाग २, पृष्ठ १३१।

जीवों में प्रभु वास करते हैं, सब की आत्मा एक ही है और दूसरा कोई नहीं है।'[१] मलूकदास हिंसा को अज्ञान-जन्य मानते हैं। उनका कहना है कि 'पीड़ा सबको समान होती है, किंतु अज्ञानी उसे नहीं देखता। जब काँटे की नोंक बड़ा कष्ट देती है तब उस गले के कटने पर जिसे काटने वाला बड़े स्वाद से खाता है, न जाने जीव को कितना भारी दुख होता होगा।'

धर्म-ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप बताया गया है। समस्त भक्तों ने ब्रह्मचर्य की महिमा नाना प्रकार से गायी है। कबीरदास ने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में बड़ा ही कठिन आदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि 'जो जन्म-मरण से मुक्त होना चाहता है वह स्वप्न में भी वीर्यपात न होने दे।' इस पर नानक प्रबोध देते हैं 'वीर्यपात के कारण अनुताप करना पड़ता है अतः इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए।'

हिन्दी और कन्नड के समस्त भक्तों ने सन्तों के गुणों का निरूपण करते हुए सत्संगति, सन्तसमागम का वर्णन किया है। तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' में सन्त-समाज की तुलना तीर्थराज प्रयाग से की है और कहा है कि सन्त-समाज रूपी तीर्थराज में सुरसरि रूपी रामभक्ति की धारा सदा बहती रहती है।[२] फिर उन्होंने कहा है कि सत्संगति सब आनन्द और मंगल का मूल है और वह सब साधनों की सिद्धि है। जिस प्रकार कुधातु भी पारस मणि के स्पर्श से चमकने लगती है उसी प्रकार सत्संगति से शठ भी सुधर जाते हैं।"[३] वे उसी तरह गुण को ग्रहण करते हैं और दुर्गुण को तज देते हैं जिस तरह हंस दूध को पानी से अलग करके स्वीकार करता है। भक्तियोग का उपदेश देते हुए रामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहते हैं—"भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो सत होइ अनुकूला॥"[४] पुरन्दरदास ने यह निर्णय दे दिया है "चाहे षड्दर्शन पढ़ो, चाहे अठारह पुराण बांच कर समाप्त करो, जब तक सज्जनों की संगति नहीं करोगे तब तक मुक्ति नहीं मिल सकती।"[५] बसव दुर्जनों की तुलना साँप से करते हैं और कहते हैं कि साधु-सज्जनों की संगति करनी चाहिए और दुर्जनों की संगति छोड़नी चाहिए। साँप चाहे किसी भी

१—संत-सुधा-सार—भाग १, पृष्ठ ४६५।
२—रामचरितमानस—बालकाण्ड, दोहा २।
३—वही —बालकाण्ड, दोहा ३।
४—वही अरण्य काण्ड दोहा १६।
५—हरिभक्तिसुधे—पृ० ६।

प्रकार का क्यों न हो, उसका विष तो एक ही है। ऐसे दुर्जनों का संग नहीं करना चाहिए जिनमें आत्म-बुद्धि नहीं है। उनका संग कालकूट ही है।[1] अनेक भक्तों ने सत्संग से होने वाले लाभ का वर्णन किया है।

यदि तुलसीदास ने परनिन्दा को बड़ा पाप बताया है तो कबीरदास ने यह माना है कि अज्ञानी पुरुष ही दूसरों की निन्दा करते हैं किन्तु जो राम में लीन रहते हैं उन्हें और कुछ अच्छा नहीं लगता। जो निन्दा करता है वह नरक में जाता है। जो मनुष्य दूसरों की निन्दा करके अपना यश चाहता है उसके मुख पर अमिट कालिमा लग जाती है—

"तुलसी जे कीरति चहहिं, पर कीरति को खोय।
तिनके मुँह मसि लागि है, मिटे न मरिहैं धोय॥"

कबीरदास के उपदेश की एक विशेषता यह है कि परनिन्दा करने वालों को उन्होंने नरक का विधान किया है, किन्तु अपनी निन्दा करने वालों को अपने ही आँगन में कुटी छवाकर रखने की सलाह दी है :—

निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करै सुभाय॥[2]

यह एक बड़ा ही मनोरंजक तथ्य है कि भक्तों की वाणी देश-काल की सीमा को पार कर सर्वत्र समान रूप से प्रकट हुई है। महात्मा पुरन्दरदास ने निन्दकों का होना बड़ा ही लाभकारी बताया है। उनके एक सुन्दर पद का भावार्थ इस प्रकार है—

> निदकों का होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार सूअर के होने से मुहल्ला साफ रहता है उसी प्रकार हमारे रोज के पाप रूपी मल को निन्दक साफ करते जाते हैं और जो लोग हमारी स्तुति करते हैं वे हमारे पुण्य को लेकर चले जाते हैं। यदि दुष्ट लोग जगत में हो तो शिष्टों को कीर्ति प्राप्त होती है। इष्ट को प्रदान करने वाले हे कृष्ण, मैं हाथ जोड़ कर यही वर माँगता हूँ कि दुष्ट लोग चिरकाल तक जीवित रहें।"

इन्द्रिय-निग्रह तथा वैराग्य-वृत्ति पर ज़ोर देते हुए सब भक्तों ने काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह इन पाँचों को मनुष्य के भयंकर शत्रु माना है।

१—वचनशास्त्रसार—भाग २—पृ० १७२।
२—कबीर वचनावली—पृ० ११६।

सूरदास ने इन पाँचों को पाप-कलाप का कारण बताया है। कबीर के शब्दों में ये पाँच मृग जीवन रूपी हरित खेत को चरते रहते हैं। तुलसीदास की दृष्टि में ये कुछ कम भयंकर नहीं है। कर्नाटक के भक्तों ने भी इनकी भूरि-भूरि निन्दा की है। इन्द्रिय-निग्रह, निर्मल-चरित्र की चर्चा करते हुए हिन्दी और कन्नड के बहुतेरे भक्तों ने नारी की निन्दा और कटु आलोचना की है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें नारी-निन्दा करने में किसी सीमा पर भी सन्तोष नहीं होता। विशेष रूप से हिन्दी के सन्तों ने नारी के भोग-प्रधान रूप की खूब निन्दा की है। लेकिन भक्ति-साहित्य में नारी-निन्दा का वर्णन पढ़ कर यह नहीं समझना चाहिए कि भक्तों के मन में नारी-जाति के प्रति घृणा के भाव थे। क्योंकि अधिकांश भक्त गृहस्थ थे और उन्होंने पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए भक्ति की साधना की थी। सम्भवतः इन भक्तों ने सांसारिक जीवन में संयम, सदाचार, शील की महत्ता को बताने और विषय-लोलुपता से होने वाली बुराइयों को समझाने के लिए स्त्री-निन्दा की थी। अतः इन भगवद्प्रेम के सच्चे आराधकों को स्त्री-जाति के निन्दक सिद्ध करना उनके प्रति अन्याय करना ही होगा। कर्नाटक के शिवशरणों ने कभी नारी की निन्दा नहीं की है। उनकी समाज-व्यवस्था में नारी को पुरुष के समान स्थान-मान दिया गया है। यद्यपि उन्होंने पर-स्त्रीगमन, व्यभिचार आदि की खूब निन्दा की है तथापि स्त्री के प्रति आदर दिखाने का आदेश दिया है। शिव-शरणों की भक्ति-पद्धति में वह भक्ति श्रेष्ठ बतायी गयी है जो पति-पत्नी मिलकर एक साथ करते हैं। अल्लम प्रभु ने कहा है "शिव को वही भक्ति अत्यन्त प्रिय है जिसकी साधना पति-पत्नी मिल कर करते हैं। जिस भक्ति में सती और पति दोनों का योग नहीं है वह भक्ति ऐसी है जैसे विष से मिला हुआ अमृत है।"[१] भक्त बसव के अनुसार "उस पति की शिव-भक्ति जिसकी पत्नी सुरा और माँस का सेवन करती है, उसी तरह है जिस तरह ताड़ी का घड़ा बाहर धुला हुआ है, पर उसके अन्दर का भाग कभी धुला ही नहीं है।"[२] शिवशरणों के बहुत-से ऐसे वचन मिलते हैं जिनमें स्त्री के प्रति आदर दिखाने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। हिन्दी और कन्नड-प्रदेशों के सभी भक्त-सम्प्रदायों में इस विषय में वीरशैव-मत का स्थान सर्वश्रेष्ठ ही कहा जायेगा।

१—वचनशास्त्रसार—भाग २, पृ० १६६।

२—वही पृ० १६७।

इस प्रकार भक्तों ने सामाजिक-नैतिक स्तर को ऊँचा करने का निरन्तर प्रयत्न किया है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने कई प्रकार के साधनों का उपयोग किया है। यदि कभी अपने मन को लक्ष्य करके उपदेश दिया है तो और कभी सन्तों तथा भक्तों को संबोधन करके कहा है। निर्गुणिया संतों ने समाज में वैदिक कर्मकाण्ड के कारण जितनी बुराइयाँ तथा अन्ध-श्रद्धायें फैली थीं उनको दूर करने के लिए वेश-भूषा, जात-पाँति, ऊँच-नीच, बाह्याडम्बर आदि का खण्डन किया है और ज्ञान भक्ति की महत्ता बतायी है। शास्त्रग्रंथ मठ-मन्दिर, तीर्थस्थान, अवतार आदि को व्यर्थ का जंजाल कहा है। वैष्णव भक्तों का मार्ग ही अलग था। वे वर्णाश्रम-धर्म सम्बन्धी समाज-व्यवस्था के पक्षपाती थे। मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, अवतारवाद, व्रत नियम, पुराणों का पठन-पाठन आदि को उन्होंने भक्ति का सहायक माना है। इसका यह मतलब नहीं है कि इन वैष्णव भक्तों ने वेश, बाह्याडम्बर, पाखण्ड का समर्थन किया है। इन बातों का उन्होंने भी तीव्र शब्दों में खण्डन किया है। पुरन्दरदास, कनकदास जैसे कर्नाटक के हरिदासों ने उन लोगों के ऊपर व्यंग्य वाणों की वर्षा की है जिनका मन शुद्ध नहीं है, जो पेट भरने के लिए भक्ति का बहाना करते हैं तथा तीर्थस्नान का ढोंग रचते हैं। पुरन्दरदास कहते हैं कि जिस में चित्त-शुद्धि नहीं है वह कैसा भक्त है? क्या उस बाघ को तपस्वी कह सकते हैं जो कटघरे के अन्दर बन्द है? जब अंधा आदमी आँखें बन्द करता है तब उसे क्या ध्यान कहा जा सकता है? जब कुत्ता राख में लोटता है तब उसे क्या शिव भक्त कहा जा सकता है? जंगल के कौए को क्या बनवासी कहा जा सकता है?"[१] जिनके मन में ज़रा भी भक्ति नहीं है, लेकिन पेट भरने के लिए वैराग्य-वृत्ति का ढोंग रचते हैं, उनकी पुरन्दरदास ने कटु आलोचना की है।[२]

वैष्णव भक्तों ने न केवल अपने फुटकल पदों में सदाचार, शील, समाज-नीति की अनमोल बातें सुनायी हैं बल्कि रामायण, भारत, भागवत आदि की नाना घटनाओं तथा कहानियों पर उच्च कोटि के काव्य रच कर ऐसे आदर्श पात्रों का चित्रण किया है जिनके द्वारा सामाजिक जीवन को समुन्नत करने में योग मिला है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' कुमार व्यास का 'भारत', लक्ष्मीश का 'जैमिनि भारत', कुमार वाल्मीकि

१—श्री हरिदास कीर्तन तरंगिणी—भाग १, पृष्ठ ११५।
२—वही पृष्ठ १०१।

की 'तोरवे रामायण' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कर्नाटक के शिवशरणों ने भी शैव भक्तों के जीवन-चरित पर सुन्दर आख्यानक काव्य रचे हैं जिनमें भक्ति, ज्ञान, शील, सात्विक जीवन की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। ऐसे काव्यों में मुख्य हैं—हरिहर का 'गिरजा कल्याण', राघवांक का 'सिद्धराम पुराण', भीम कवि का 'बसव पुराण', चामरस का 'प्रभुलिंग लीले', निजगुण शिवयोगी का 'अरुवत्तुमूवर त्रिपदि' (तमिलनाड के तिरसठ शैव भक्तों का जीवन-चरित)।

इस प्रकार हिन्दी और कन्नड प्रदेशों के सामाजिक जीवन पर भक्ति आन्दोलन का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा है।

धार्मिक उदारता लाने तथा मानवीय मूल्यों की स्थापना के रूप में

आधुनिक भारतीय विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन वैदिक मन्त्रों में भक्ति-भाव बीज रूप में विद्यमान था और आगे चल कर उस का क्रमिक विकास हुआ है। उत्तर-मध्यकालीन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस काल तक पहुँचते-पहुँचते भक्ति-भाव अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है। इस काल के इतिहास का कोई ऐसा अङ्ग नहीं रह जाता है जिस पर भक्ति-भाव का गहरा प्रभाव न पड़ा हो। प्रादेशिक भाषाओं के विकास में क्या, साहित्य की समृद्धि में क्या, सामाजिक जीवन के नैतिक स्तर को ऊँचा करने में क्या, धार्मिक सङ्गठन में उदारता लाने में क्या, ललित कलाओं को बढ़ावा देने में क्या, भक्ति-भाव एक प्रबल प्रेरक-शक्ति के रूप में प्रगट होता है। हमारे आलोच्यकाल में हिन्दी और कन्नड दोनों प्रदेशों के विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों की विचार-धाराओं से वहाँ का धार्मिक जीवन किस तरह प्रभावित हुआ है यह एक बड़ा ही रोचक विषय है।

जिस समय हिन्दी प्रदेश में निर्गुणिया सन्तों का आविर्भाव हुआ उस समय वहाँ की धार्मिक परिस्थिति बड़ी शोचनीय थी। एक ओर हिन्दू और मुसलमान-धर्मों के बीच में प्रबल संघर्ष चल रहा था दूसरी ओर दोनों धर्मों के अन्दर धर्म और ईश्वर के नाम पर पाखण्ड बढ़ रहा था। दोनों धर्मावलम्बी धर्म के वास्तविक तत्व को भुला कर बाहरी वेश, आचार-विचार को धर्म समझ बैठे थे। सन्तों ने सरल और सीधी भाषा में ईश्वर और सत्य की व्याख्या की और मर्म की बातें सुनायीं। कबीर ने कहा कि "कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरक कहै रहमाना। आपस में दोउ लरि लरि मूये मरम न

काहू जाना।" आदमी आदमी सब समान है, पर नाम अलग अलग है "कोइ हिन्दू कोइ तुरुक कहावै एक जमी पर रहिये।" उन्होंने कहा कि सब परमात्मा की सन्तान हैं। इस सीधी-सी बात को समझने में जिन बातों से बाधायें उपस्थित होती थीं उनका उन्होंने तीव्र शब्दों में खण्डन किया। उन्होंने सब धर्मों का त्याग करके निष्काम-भक्ति-धर्म का उपदेश दिया—"और कर्म सब कर्म है भक्ति कर्म निष्कर्म। कहै कबीर पुकारि के भक्ति करो तजि धर्म।" उनका भक्ति-धर्म और कुछ नहीं था, वह प्रेम-धर्म था। इस प्रेम के प्रतीक थे राम जो निर्गुण निराकार परब्रह्म थे। कबीर तथा अन्य सन्तों ने इसी राम की उपासना द्वारा अपने समय की सामाजिक विषमता को दूर करने तथा धर्मान्धता को हटा कर असली धर्म का रहस्य समझाने का प्रयत्न किया।

हिन्दी के वैष्णव भक्तों में गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्व असाधारण था। उनमें अत्यन्त विनम्र-भाव था, सच्ची अनुभूति के साथ अपने आराध्य पर अटूट विश्वास था। वे एक उच्चकोटि के कवि ही नहीं नाना-पुराण-निगमागम-पारंगत तथा संस्कृत एवं भाषा के प्रकाण्ड विद्वान भी थे। जिस प्रकार कबीर तथा अन्य संत निर्गुण राम के उपासक थे उसी प्रकार तुलसीदास जी सगुण राम के अनन्य भक्त थे। तुलसीदास ने अपने समय की हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को सुलझाने की ओर ध्यान नहीं दिया, लेकिन हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत जितनी बुराइयाँ घुस आई थीं उनकी ओर उनका ध्यान अवश्य गया था। क्योंकि वे नाना प्रकार के स्तरों में रहकर पर्याप्त मात्रा में आघात भोग चुके थे। अतः उन्होंने कहा था—

आश्रम वरन धरम विरहित जग, लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखण्ड पाप रत, अपने अपने रंग रई है।
सांति सत्य सुभरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल विलसत, हुलसति खलई है॥

तुलसीदास जी का यह दृढ़ विश्वास था कि वर्णाश्रम-व्यवस्था द्वारा समाज का कल्याण संभव है। उनका विचार था कि—"बरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय शोक न रोग।"

तुलसीदास ने अपने अमर काव्य 'रामचरित मानस' में वर्णाश्रम-धर्म की पूरी प्रतिष्ठा की है। इस काव्य में पात्र-चित्रण सबसे प्रधान है। प्रत्येक पात्र का चित्रण अपनी श्रेणी के लोगों के लिए आदर्श स्वरूप है। तुलसीदास ने पात्र चित्रण द्वारा लोकमर्यादा की शिक्षा देते हुए लोक-कल्याण की कामना की है। इसी लोक-कल्याण की सिद्धि के लिए तुलसीदास ने यह आवश्यक माना है

कि हिन्दू-धर्म और समाज के अन्तर्गत जितनी साधना पद्धतियाँ हैं और विचार-धाराएँ हैं उनका परिष्करण हो और उनमें पूरा सामंजस्य स्थापित हो। उनके समय में गोरखपंथी योग की रहस्यमयी बातों का जो प्रचार कर रहे थे उसके कारण उन्हें जनता के हृदय से भक्ति-भावना भागती दिखाई पड़ी। इसलिए उन्हें कहना पड़ा :—

'गौरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है ॥'

योगियों के 'ईश्वर को मन के भीतर ढूँढो' कथन से समाज में बहुत पाखण्ड बढ़ गया था। इसलिए तुलसीदास ने ईश्वर के सगुण और निर्गुण का विस्तार के साथ निरूपण करके घोषित किया—

'ग्यान कहै अग्यान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥'

जिस प्रकार तुलसीदास ने सगुण और निर्गुण में सामंजस्य स्थापित किया उसी प्रकार ज्ञान और भक्ति को एक ही सिद्ध किया। उनका यह निश्चित मत था—'ज्ञानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संभव खेदा।'

तुलसी के समय में शैवों और वैष्णवों के बीच में भयङ्कर संघर्ष चल रहा था। शिव को राम का सबसे बड़ा अधिकारी भक्त बना कर तुलसीदास ने बड़ी चतुराई के साथ इन दोनों में सरसता लाने का प्रयत्न किया। राम के मुँह से उन्होंने कहला दिया है—'शिव द्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहु मोहि न भावै।' इस प्रकार तुलसीदास ने राम-भक्ति का ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से हिन्दू-मतावलम्बियों के शरीर में नूतन शक्ति का संचार हुआ और उनका धर्मपथ प्रशस्त हुआ।

यद्यपि सूरदास तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के साहित्य में तुलसीदास की भांति लोकमर्यादा तथा लोककल्याण की भावना का समावेश नहीं हुआ तथापि कृष्ण की प्रेम-मूर्ति को लेकर प्रेमतत्व की ऐसी रस-धारा बहायी गई जिसमें गोता लगाकर क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, सब के सब अपने को धन्य समझने लगे। रसखान जैसे सहृदय मुसलमान कृष्ण के प्रेम में उन्मत्त होकर गा उठे और कन्हैया की 'लकुटी' और 'कामरिया' पर तीनों लोक न्यौछावर करने के लिए उद्यत हुए। सूफ़ी साधकों ने अपने प्रेमाख्यानक काव्यों द्वारा हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई को भर कर दोनों जातियों को मिलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया।

हिन्दी-प्रदेश के भक्तों को जैसी विकट धार्मिक परिस्थिति का सामना करना पड़ा था वैसी परिस्थिति का सामना कर्नाटक के भक्तों को नहीं करना पड़ा था। लेकिन, फिर भी वहाँ भी धार्मिक उथल-पुथल का सिलसिला बराबर चलता रहा। जिस समय वीरशैव-भक्तों का आविर्भाव हुआ उस समय कर्नाटक में एक ओर वैदिक-मतावलम्बी लोगों के साथ वीरशैवों का संघर्ष चल रहा था दूसरी ओर जैन और वीरशैवों के बीच में मुठभेड़ होने लगी थी। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि कल्याण के जैन राजा बिज्जळ को भी धर्मान्धता का शिकार होना पड़ा था। हमारे आलोच्यकाल में कर्नाटक में वीरशैव और माध्वमत दोनों का लोकधर्म के रूप में प्रचार हो चला था। इन दोनों की लोकप्रियता का मुख्य कारण उनके द्वारा प्रचारित भक्ति-भाव ही था। दोनों मतावलम्बी भक्त शिवशरण और हरिदास अपने-अपने मत के प्रबल समर्थक थे और बसव तथा पुरन्दरदास जैसे दोनों मतों के सर्वश्रेष्ठ भक्तों ने अक्सर अपने अपने मत की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया था। किन्तु किसी में भी संकुचित भावना या धर्मान्धता नहीं थी। शिवशरणों का आक्रमण ब्राह्मण-धर्म के उस पहलू पर था जिसके कारण समाज में अंधश्रद्धा, पाखण्ड, तथा अनाचार की वृद्धि हो रही थी। शिवशरणों ने जात-पाँति, उच्चनीच, छुआछूत का भेद-भाव दूर करके वर्णरहित, जातिरहित, वर्गरहित समाज का निर्माण करना चाहा था। इस उद्देश्य की साधना में उन्होंने अक्सर ब्राह्मणों की निन्दा की है, विष्णु हरि से शिव की श्रेष्ठता बताई है और मूर्ति-पूजा का खण्डन कर के निर्गुण परब्रह्म शिव की उपासना का विधान किया है। भक्ति, ज्ञान, कर्म और ध्यान का समन्वय स्थापित करके शिवशरणों ने ऐसे एक धर्म की कल्पना की थी जिसका मूल आधार दया है। शिवशरणों के अनुसार धर्मसाधना के लिए संसार का त्याग करके जंगल जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को शील और सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए अपनी-अपनी वृत्ति में लगे रहना चाहिए। अतः शिवशरणों ने 'कायक' अर्थात् कार्य को ही कैलाश अथवा स्वर्ग बताया है।

शिव-शरणों ने अपनी भक्ति-साधना द्वारा जिस धार्मिक जीवन का आदर्श उपस्थित किया था उसमें और हरिदासों द्वारा प्रतिपादित धर्म में कोई अन्तर नहीं था। अन्तर उनके साधना मार्ग में था। हरिदास वैदिक धर्म के प्रबल समर्थक थे। ईश्वर के सगुण और निर्गुण रूप को स्वीकार करते हुए उन्होंने अपनी उपासना के लिए सगुण-पक्ष को ग्रहण किया था। उन्होंने जप तप,

तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि पर विश्वास रखना भक्ति-साधना में आवश्यक माना था। शिवशरणों की भाँति हरिदासों ने भी वेश, बाह्याडम्बर, धर्मान्धता का खण्डन किया था और आत्मशुद्धि, सदाचार, दान, परोपकार की आवश्यकता बतायी थी। उन्होंने भक्ति, ज्ञान और वैराग्य पर विशेष ज़ोर दिया था। वैराग्य से उनका मतलब यह नहीं था कि जगत का त्याग करना चाहिए। यद्यपि उन्होंने 'इस मनुष्य-शरीर से क्या सुख है' कह कर भोग-वृत्ति से बचने का उपदेश दिया था तथापि धर्मसाधना में 'मानव शरीर' की महानता का वर्णन किया है। पुरन्दरदास ने कहा है "यह मानव जन्म बड़ा है, हे पगलो, इसे नष्ट न करो।" हरिदासों ने कहा है, "इस जगत में उसी तरह रहना चाहिए जिस तरह कीचड़ में पैदा होकर भी कमल उसके ऊपर रहता है।" पुरुषार्थ का महत्त्व बताते हुए इन भक्तों ने कहा है "तैरना चाहिए, तैर कर जीतना चाहिए" (ईस बेकु इद्दु जैस बेकु)

जैसा कि ऊपर कहा गया है हरिदासों ने माध्वमत को और मतों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु हरिदासों के साहित्य में इस बात का उल्लेख नहीं मिलता जिसमें वीरशैव मत का खण्डन किया गया हो। वस्तुतः प्रत्यक्ष रूप से न वीरशैव मत ने माध्वमत का विरोध किया है न हरिदासों ने वीरशैव-मत की निन्दा की है। हरिदासों के भक्ति-सम्प्रदाय में समाज की सभी श्रेणियों के लोग उसी तरह सम्मिलित थे जिस तरह वीरशैव सम्प्रदाय में सम्मिलित थे। अतः यह कहा जा सकता है कि कर्नाटक के धार्मिक जीवन में समरसता लाने में इन दोनों प्रदेशों के भक्ति-सम्प्रदायों का योग महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी और कन्नड के भक्ति-साहित्यों में चाहे बाह्य तथा आभ्यंतरिक आकार-प्रकार की दृष्टि से थोड़ा-बहुत अन्तर दिखाई पड़े, तो भी दोनों साहित्यों के केन्द्र-बिन्दु में जिस भक्ति-भाव का दर्शन होता है वह दीर्घकालीन भारतीय-साधना की चरम परिणति ही है। यह भक्ति-भाव साहित्य के माध्यम से अपना अपार वैभव लेकर प्रकट हुआ है। ईश्वर, जीव, जगत, माया आदि जटिल से जटिल दार्शनिक तत्वों का भक्ति-भाव द्वारा इस सरलता तथा सुगमता के साथ निरूपण और स्पष्टीकरण हुआ है कि क्या पण्डित, क्या अपण्डित, सबके सब उनके रहस्य को समझने में समर्थ हुए। ईश्वर के सगुण और निर्गुण तत्वों का साक्षात्कार सहज और सुलभ हुआ। हृदय और बुद्धि का, ज्ञान और भक्ति का पूरा समन्वय उपस्थित हुआ जिससे मनुष्य की रागा-

त्मक वृत्ति का इतना विस्तार हुआ कि सांसारिक जीवन के बीच जितने बन्धन थे, वे ढीले पड़े, जितनी ग्रुत्थियाँ थीं, सुलझ गईं और धर्म का विशुद्ध रूप प्रकट हुआ। मानवता अपने असली रूप में दिखाई पड़ी। परम-प्रेमरूपा भक्ति का ऐसा समां बंध गया कि असंस्कृत भाषायें सुसंस्कृत हुई, साहित्य की समृद्धि हुई और विविध ललित-कलाएँ नूतन प्रकाश पाकर चमक उठीं।

परिशिष्ट (१)

हिन्दी और कन्नड के भक्त-कवि तथा काव्य

हिन्दी

कवि	काल	काव्य
शैवभक्त		
१—विद्यापति	सन् १४०३	कीर्तिलता, पदावली
निर्गुणिया संत		
२—धना	सन् १४१५	बानी
३—कबीर	सन् १३९८-१४९४	रमैनी, सबद, साखी (बीजक)
४—पीपा	सन् १४२५	बानी
५—सेन	सन् १४५०	सूक्तियाँ
६—रैदास	सन् १४२८	रैदासी ग्रंथ
प्रेममार्गी-कवि		
७—कुतुबन	सन् १४९३	मृगावती
८—मंझन	सन् १४८८	मधुमालती
९—मलिक मुहम्मद जायसी	सन् १५४०	पद्मावत, अखरावट
१०—उसमान	सन् १५५०	चित्रावली
निर्गुणिया संत		
११—धरमदास	सन् १४१८-१५४३	सुख निधान
१२—गुरु नानक	सन् १४६९-१४३८	बानी
कृष्ण-भक्ति-शाखा		
१३—सूरदास	सन् १४८३-१५८५	सूरसागर
१४—नंददास	सन् १५३३	रास पंचाध्यायी

		भंवरगीत
		भागवत दशमस्कंध
		रुक्मिणी मंगल
		रूपमंजरी
		रसमंजरी
		नामचिंतामणिमाला
		अनेकार्थ नाममाला
		दानलीला
		मानलीला
		अनेकार्थमंजरी
		ज्ञानमंजरी
		श्याम सगाई
१५—कृष्णदास	सन् १५४३	भंवर गीत
		प्रेमतत्व निरूपण
१६—परमानन्ददास	सन् १५५०	ध्रुवचरित
		दानलीला
१७—कुम्भनदास	सन् १५५०	फुटकर पद
१८—चतुर्भुजदास	सन् १५५०	द्वादश यश
		भक्ति प्रताप
		हितजू को मंगल
१९—छीतस्वामी	सन् १५५५	फुटकर पद
२०—गोविन्दस्वामी	सन् १५४४	हित चौरासी
२१—मीराबाई	सन् १४९८-१५७३	नरसी जी का माहरा
		गीतगोविन्द टीका
		राग गोविन्द
		राग सोरठ का पद
		फुटकर पद
२२—छीहल	सन् १५१८	पंच सहेली
२३—लालदास	सन् १५३३	हरिचरित्र
		भागवत दशमस्कंध भाषा
२४—गदाधर भट्ट	सन् १५२३	फुटकर पद
२५—कृपाराम	सन् १५४१	हिततरंगिणी

२६—सूरदास मदनमोहन	सन् १५४३	फुटकर पद
२७—नरोत्तमदास	सन् १५४५	सुदामा चरित्र
		ध्रुवचरित्र
२८—हरिराय	सन् १५५०	श्रीयमुना जी के नाम
		श्री आचार्य महाप्रभु
		को स्वरूप
		श्री आचार्य जी महाप्रभु
		को द्वादश निजवार्ता
		वर्षोत्सव
२९—गोविन्ददास	सन् १५५४	एकान्तपद
३०—स्वामी हरिदास	सन् १५६०	हरिदास जी की वाणी
सगुण-राम-भक्तिशाखा		
३१—गोस्वामी तुलसीदास	सन् १५३२-१६२३	रामचरित मानस
		रामलला नहछू
		वैराग्य संदीपिनी
		बरवैरामायण
		पार्वती मंगल
		जानकी मंगल
		रामाज्ञा प्रश्न
		दोहावली
		गीतावली
		श्रीकृष्ण गीतावली
		विनय पत्रिका
३२—केशवदास	सन् १५५५	राम चन्द्रिका
कृष्ण-भक्ति-शाखा		
३३—श्री भट्ट	सन् १५३८	युगल शतक
३४—श्री व्यास जी	सन् १५६३	फुटकर पद
सगुण-राम-भक्तिशाखा		
३५—स्वामी अग्रदास	सन् १५७५	हितोपदेश उपखाणां
		बावनी
		ध्यान मंजरी

		रामध्यान मंजरी
		कुंडलिया
३६—नाभादास	सन् १६००	भक्तमाल
३७—प्राणचन्द चौहान	सन् १६१०	रामायण महानाटक
३८—हृदयराम	सन् १६२३	हनुमान्नाटक

कृष्ण-भक्ति-शाखा

३९—लक्ष्मीनारायण	सन् १५८०	प्रेम तरंगिणी
४०—रसखान	सन् १६१४	प्रेमवाटिका
		सुजान रसखान
४१—ध्रुवदास	सन् १६२५	ध्रुवदासकृत बानी
		सिद्धान्त विचार
		भक्त नामावली

निर्गुणिया संत

४२—मलूकदास	सन् १५७४-१६८२	ज्ञानबोध
		रत्नखान
४३—दादू दयाल	सन् १६५१	बानी
		ज्ञानसमुद्र
४४—सुन्दरदास	सन् १५९६	सुन्दर विलास
		बानी
४५—यारी साहब	सन् १६६८	बानी
४६—धरनीदास	सन् १६१६	प्रेम प्रगास
४७—रज्जब	सन् १६५३	बानी
४८—दरिया साहब	सन् १६८०	दरियासागर
		ज्ञानदीपक
४९—बुल्ला साहब	सन् १६९६	बानी
५०—गुलाब साहब	सन् १६९६	बानी
५१—चरनदास	सन् १७०३	अमरलोक
		अखण्डधाम
		भक्तिपदारथ
		ज्ञानोदय
५२—भीखा साहब	सन् १७१३	राम जहाज

५३—गरीबदास	सन् १७६७	बानी
५४—जगजीवनदास	सन् १७१८	ज्ञानप्रकाश
		महाप्रलय
		प्रथम ग्रंथ
५५—दयाबाई	सत् १७४३	दयाबोध
		विनय मालिका

कन्नड

वीरशैव भक्त

१—प्रभुदेव	लगभग सन् ११५०	वचन
		मंत्रगोप्य
२—सकलेशमादरस	सन् ११५०	वचन
३—बसव अथवा बसवेश्वर	सन् ११५०	वचन
		काल ज्ञान वचन
		मन्त्रगोप्य
४—चेन्नबसव	सन् ११५०	वचन
		करणहसुगे
		मित्रार्पण
		मंत्रगोप्य
		काल ज्ञान
५—सिद्धराम	सन् ११५०	वचन
		मिश्रस्तोत्रद त्रिविधि
		बसवस्तोत्रद त्रिविधि
		अष्टावरण स्तोत्र त्रिविधि
		काल ज्ञान
		मंत्रगोप्य
६—महादेवियक्क	सन् ११५०	वचन
		योगांग त्रिविध
		स्तृष्टियवचन
		अक्कगळपीठिके
७—मल्लिकार्जुन पडिण्ता राध्य	सन् ११६०	वचन
		गणसहस्रनाम

		इष्टलिंग स्तोत्र
		बसवगीत
८—हरिहर	सन् १२००	गिरिजाकल्याण
		पम्पा शतक
		रक्षा शतक
		मुडिगेय अष्टक
		शिवगणद रगळेगळ्तु
९—केरेय पद्मरस	सन् १२००	दीक्षाबोधे
१०—राघवांक	सन् १२२५	हरिश्चन्द्र काव्य
		सिद्धराम पुराण
		वीरेश्वर चरिते
		शरभ चारित्र
		हरिहर महत्व

वैष्णव कवि

११—रुद्र भट्ट	सन् १२००	जगन्नाथ विजय

वीरशैव कवि

१२—पाल्कुरिके सोमनाथ	सन् १२००	शीलसंपादने
		सोमेश्वर शतक
		सहस्रगणनाम
		पंचरत्न
		रद्गुरु रगळे
		चेन्नबसव स्तोत्र
		शरण बसव रगळे

हरिदास

१३—नरहरि तीर्थ	सन् १२७५	गेय पद

वीरशैव कवि

१४—भीम कवि	सन् १४००	बसव पुराण
१५—पद्मणांक	सन् १४००	पद्मराज पुराण

वैष्णव कवि

१६—कुमार व्यास	सन् १४००	कन्नड भारत (केवल दस पर्व)

वीरशैव कवि

१७—लक्कण्ण दण्डेश	सन् १४२५	शिवतत्व चिंतामणि
१८—मग्गेयमायिदेव	सन् १४३०	अनुभव सूत्र
		शतकत्रय
		प्रभुगीते
		एकोत्तर शतस्थलद षट्पदि
		मग्गेयमायिदेवन वचन
		षट्स्थल गद्य
१९—चामरस	सन् १४३०	प्रभुलिंग लीले
२०—गुरु बसव	सन् १४३०	शिवयोगांग भूषण
		सद्गुरु रहस्य
		कल्याणेश्वर
२१—चन्द्र कवि	सन् १४३०	विरूपाक्षास्थान
		गुरुमूर्ति शंकर शतक

जैन कवि

२२—मधुर	सन् १४३०	गोम्मटस्तुतियष्टक
२३—कल्याण कीर्ति	सन् १४४०	जिन स्तुति

वीरशैव कवि

२४—बोम्मरस	सन् १४५०	सौंदरपुराण
२५—तोंटद सिद्धेश्वर	सन् १४७०	षटस्थलज्ञानसारामृत
२६—गुब्बिय मल्लण्ण	सन् १४७५	गुणभाष्य रत्नमाले
		वातुलतन्त्र टीके
२७—स्वतन्त्र सिद्धलिंगेश्वर	सन् १४८०	स्वतन्त्र सिद्धलिंगेश्वर वचन
२८—चतुर्मुख बोम्मरस	सन् १५००	रेवण सिद्धेश्वर पुराण
२९—सिंगिराज	सन् १५००	मलबसवराज चारित्र
३०—निजगुण शिवयोगि	सन् १५००	अनुभवसार
		अरुवत्तुमूवर त्रिपदि
		कैवल्य पद्धति
		परमानुभव बोधे
		परमार्थगीते

		परमार्थ प्रकाशिके
		विवेक चिंतामणि
३१—सुरंग कवि	सन् १५००	त्रिषष्ठि पुरातनर चरित्रे
वैष्णव कवि		
३२—कुमारवाल्मीकि	सन् १५००	तोरवेरामायण
		मैरावणकाव्ठग
हरिदास		
३३—श्रीपादराय	सन् १५००	गेयपद
वैष्णव कवि		
३४—तिम्मण्ण कवि	सन् १५१०	कृष्णराज भारत
वीरशैव कवि		
३५—गुब्बिय मल्लणार्य	सन् १५२०	भावचिंतारत्न
		वीरशैवामृतपुराण
हरिदास		
३६—व्यास राय	सन् १५२५	गेयपद
३७—चाटुविट्ठलनाथ	सन् १५३०	भागवत
		भारत (अपूर्ण)
३८—पुरन्दरदास	सन् १५५०	गेयपद
३९—कनकदास	सन् १५५०	गेयपद
		मोहनतरंगिणी
		रामधान्य चरित्रे
		नव्ठचरित्रे
		हरिभक्तिसार
४०—लक्ष्मीश	सन् १५५०	जैमिनि भारत
४१—वादिराज	सन् १५७०	गेयपद
		वैकुण्ठवर्णन
		स्वप्नगद्य
		लक्ष्मियशोभाने
वीरशैव कवि		
४२—विरूपाक्ष पण्डित	सन् १५८५	चेन्नबसवपुराण
४३—गोपकवि	सन् १६००	नन्दि महात्म्य

		चित्र भारत
४४—नागरस	सन् १६५०	कन्नड भगवद्गीते
४५—षडक्षर देव	सन् १६५०	राजशेखर विलास
		बसवराज विजय
		शबर शंकर विलास
		वीरभद्र दण्डक
वैष्णव कवि		
४६—चिक देवराज	सन् १७००	चिकदेवराज बिन्नह
		गीतगोपाल
		भागवत
		शेषधर्म
		भारत
४७—तिरुमलार्य	सन् १७००	अप्रतिमवीर चरित
		चिकदेवराज विजय
		चिकदेवरायवंशावळि
		चिकदेवराज शतक
४८—चिकुपाध्याय	सन् १७००	दिव्यसूरि चरिते
४९—रंगनाथ	सन् १६७५	अनुभवामृत
५०—सिंगरार्य	सन् १७००	मित्रविंदागोविन्द
५१—होन्नम्म	सन् १७००	हदिबदेय धर्म
वीरशैव कवि		
५२—सर्वज्ञ	सन् १७००	वचन
५३—निरालम्ब शरण	सन् १७००	अखण्डेश्वर
हरिदास		
५४—हेळ्वन कट्टे गिरियम्म	सन् १७५०	चन्द्रहास कथे
		सीताकल्याण
		गेयपद
		ब्रह्मकोरवंजि
५५—जगन्नाथदास	सन् १७७५	हरिकथामृतसार
		गेयपद
		तत्वसुव्वालि ।

परिशिष्ट (२)

सहायक ग्रंथों की सूची

१.	अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डा० दीनदयाल गुप्त
२.	उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी
३.	कबीर	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
४.	कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
५.	कबीर ग्रंथावली	प्रकाशक: काशी नागरी प्रचारिणी सभा
६.	कबीर वचनावली	प्रकाशक: काशी नागरी प्रचारिणी सभा
७.	कबीर साहित्य का अध्ययन	पुरुषोत्तमलाल
८.	कुंभनदास	प्रकाशक: विद्या विभाग, कांकरोली
९.	गरीबदास की बानी	बेलवेडियर प्रेस
१०.	गुलाबसाहब की बानी	बेलवेडियर प्रेस
११.	गोरख बानी	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
१२.	जायसी ग्रंथावली	प्रकाशक: काशी नागरी प्रचारिणी सभा
१३.	तसव्वुफ़ अथवा सूफी मत	आचार्य चन्द्रबली पांडेय
१४.	तुलसी ग्रंथावली–दूसरा खण्ड	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
१५.	तुलसीदास	डा० माताप्रसाद गुप्त
१६.	तुलसीदास	पं० रामचन्द्र शुक्ल
१७.	तुलसीदास और उनका युग	डा० राजपति दीक्षित
१८.	तुलसी साहब की बानी	बेलवेडियर प्रेस
१९.	दयाबाई की बानी	बेलवेडियर प्रेस
२०.	दरिया साहब की बानी	बेलवेडियर प्रेस
२१.	धरनीदास की बानी	बेलवेडियर प्रेस
२२.	नाथ-सम्प्रदाय	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

२३. पलटू साहब भाग १–३	बेलवेडियर प्रेस
२४. भक्तमाल	नाभादास
२५. भागवत धर्म	हरिभाऊ उपाध्याय
२६. भागवत सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्याय
२७. भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय
२८. भारतीय मूर्तिकला	बाबूराय कृष्णदास
२९. भारतीय संस्कृति	प्रो० देवदत्त ज्ञानी
३०. भारतीय साधना और सूर साहित्य	डा० मुन्शीराम शर्मा
३१. मध्यकालीन धर्म साधना	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
३२. मध्यकालीन प्रेम साधना	परशुराम चतुर्वेदी
३३. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां	डा० सावित्री सिन्हा
३४. मलूकदास की बानी	बेलवेडियर प्रेस
३५. महाकवि सूरदास	नन्ददुलारे वाजपेयी
३६. मानसदर्शन	डा० श्रीकृष्णलाल
३७. मीरांबाई	डा० श्रीकृष्णलाल
३८. मीरां बृहद् पदसंग्रह	पद्मावती 'शबनम'
३९. यारी साहब की बानी	बेलवेडियर प्रेस
४०. योग प्रवाह	डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
४१. राम कथा	रेवरेंड कामिलबुल्के
४२. रामचरित मानस	गोस्वामी तुलसीदास–काशी नागरी प्रचारिणी सभा
४३. वैष्णव धर्म	परशुराम चतुर्वेदी
४४. शंकराचार्य	बलदेव उपाध्याय
४५. संत काव्य	परशुराम चतुर्वेदी
४६. संत काव्य अध्ययन	परशुराम चतुर्वेदी
४७. सन्तसुधासार	वियोगी हरि
४८. सहजो बाई का सहज प्रकाश	वेलवेडियर प्रेस
४९. सुन्दर दर्शन	डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
५०. सूरदास	पं० रामचन्द शुक्ल
५१. सूरदास	डा० ब्रजेश्वर वर्मा
५२. सूर और उनका साहित्य	डा० हरवंशलाल शर्मा

५३. स्वामी दादू दयाल की बानी	संपादक—पं० चन्द्रकाप्रसाद त्रिपाठी
५४. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
५५. हिन्दी प्रेम गाथा काव्य संग्रह	सम्पादक: गणेश प्रसाद द्विवेदी
५६. हिन्दी साहित्य	डा० श्यामसुन्दरदास
५७. हिन्दी साहित्य	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
५८. हिन्दी साहित्य का आदि काल	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
५९. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० रामकुमार वर्मा
६०. हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० रामचन्द्र शुक्ल
६१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
६२. हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
६३. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	डा० बेनीप्रसाद

संस्कृत

१. ईशादि नौ उपनिषद	प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर
२. नारद भक्ति सूत्र	प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर
३. शाण्डित्य भक्ति सूत्र	प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर
४. श्रीमद्भगवद्गीता	प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर
५. श्री मद्भागवत	प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर
६. हरि भक्ति रसामृत सिंधु	रूप गोस्वामी, प्रकाशक: अच्युत ग्रंथमाला, काशी ।

कन्नड

१. अक्कमहादेवी	परमेश्वर भट्ट
२. अक्रूर चरिते	सोमनाथ
३. अनुभव सार	निजगुण शिवयोगी
४. अनुभवामृत	महालिंग देव
५. आदि पुराण	महाकवि पम्प
६. कनकदासर कीर्तनेगळु	संपादक: पावंजे गुरुराव
७. कन्नड कैपिडि—भाग २	प्रकाशक: मैसूर विश्वविद्यालय
८. कन्नड नाडिन चरित्रे–भाग १-३	प्रकाशक: कन्नड साहित्य परिषद
९. कन्नउद नेले	एस० बी० जोशी

१०. कन्नड साहित्य चरित्रे	डा० आर० एस० मुगळि
११. कर्नाटक कवि चरिते भाग १-३	आर० नरसिंहाचार
१२. कर्नाटक जैमिनि भारत	लक्ष्मीश
१३. कर्नाटक प्रह्लाद चरित्रे	नरहरिदेव
१४. कर्नाटक साहित्य संस्कृति दर्शन	एस० एस० माळवाड
१५. कर्नाटक हरिदास कीर्तन तरंगिणी भाग १-६	संपादकः एम० रामराव
१६. कुमुदेंदु रामायण	कुमुदेंदुमुनि
१७. गीतगोपाल	चिकदेवराय
१८. जगन्नाथ विजय	रुद्रभट्ट
१९. चिकदेवराय वंशावळि	तिरुमलार्य
२०. जैन धर्म	मिजि अण्णाराय
२१. तोरवे रामायण	कुमार वाल्मीकि
२२. देवरदासिमय्य प्रशस्ति भाग १-३	
२३. नंदिमाहात्म्य	गोप कवि
२४. पम्प भारत	पम्प
२५. पम्प रामायण	नागचंद्र
२६. पम्पाशतक	हरिहरदेव
२७. पुरंदरदासर कीर्तनेगळु	संपादकः पावंजे गुरुराव
२८. प्रभुलिंग लीले	हरिहरदेव
२९. भक्ति भण्डारि बसवण्णनवरु	एम० आर० श्रीनिवासमूर्ति
३०. भारत	नार्णप्प (कुमार व्यास)
३१. भावचिंतारत्न	गुब्बियमल्लणार्य
३२. मैरवेश्वर काव्य	नंजुण्डदेव
३३. मोहन तरंगिणी	कनकदास
३४. वचन शास्त्र रहस्य	आर० आर० दिवाकर
३५. वचन शास्त्र सार भाग १–२	पी० जी० हळकट्टि
३६. वचन धर्मसार	एम० आर० श्रीनिवासमूर्ति
३७. शबर शंकर विळास	षडक्षरदेव
३८. सर्वज्ञ	प्रो० ए० आर० कृष्णशास्त्री
३९. सोमनाथ चरिते	राघवांक
४०. हदिबदेय धर्म	होन्नम्म

४१. हरिदास साहित्य — आर० एस० पंचमुखी
४२. हरि भक्ति सुधे — आर० आर० दिवाकर

पत्र-पत्रिकाएँ

१. कन्नड साहित्य परिषत् पत्रिके ।
२. कल्याण
३. जय कर्नाटक
४. जीवन
५. प्रबुद्ध कर्नाटक
६. विश्ववाणी

अंग्रेजी

1. A Hand Book of Virasaivism — Dr. A. C. Nandimath.
2. A Logical Presentation of the Saiva Siddhantha Philosophy. — John H. Pict.
3. An Advanced History of India — R. C. Mazumdar.
4. Ancient India and South Indian History and Culture. — S. Krishnaswamy Iyengar.
5. Ancient India—History and Culture. — Dr. B. G. Gokhale.
6. An Introduction to Indian Philosophy. — Satish Chandra Chatterji & Dhirendramohan Dutt.
7. An Introduction to the Panchatantra. — Dr. Shradar.
8. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute — Silver Jubilee Volume.
9. An Outline of the Religious Literature of India. — J. N. Farquhar.
10. Christian Mysticism. — W. R. Inge.
11. Civilisation of India. — R. C. Dutt.
12. Cultural History of Karnatak — Dr. A. P. Karmarkar.
13. Doctorine of Shakti in Indian Literature. — Dr. P. C. Chakravarthi.

14.	Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bengal.	S. K. De.
15.	Early History of Vaisnavism in South India.	S. Krishnaswamy Iyengar.
16.	Gorakhnath and the Kanphata Yogis.	George Weston Briggs.
17.	Hindu Ethics.	John Meckenzia.
18.	History and Philosophy of Lingayat Religion.	M. R. Sakhare.
19.	History of Kannada Literature.	R. Narasimhachai
20.	India Theism.	Nicol Mac Nicol.
21.	Life and Teachings of Madhva.	Padmanabhacharya.
22.	Materials for the study of the early History of the Vaisnava Sect.	Hemachandra Roy Chowdhri.
23.	Medieval Mysticism of India	Kshiti Mohan Sen.
24.	Modern Religious Movements in India.	Dr. J. N. Farquhar.
25.	Mysticism old and new	Arthur W. Hopkinson.
26.	Mystic Teachings of the Haridasas of Karnataka.	Dr. A. P. Karmarkar.
27.	Narada Bhakti Sutra.	Swami Thyagishananda.
28.	Narada Pancharatra.	Swami Vijayananda.
29.	Obscure Religious Cults.	Shashi Bhusan Das Gupta.
30.	Popular Culture in Karnatak	Masti Venkatesh Iyengar.
31.	Post Chaitanya Sahajia Cult of Bengal.	Maninda Mohan Bose.
32.	Ramayana of Tulsidas.	J. M. Macfie.
33.	Rastrakulas and Their Times	A. S. Altekar.
34.	Religions of India.	Dr. A. P. Karmarkar.
35.	Sakti or Divine Power.	S. K. Das.
36.	Sources of Karnataka History	S. Srikantha Sastry.
37.	Studies of English Mystics.	W. R. Inge.
38.	The Age of Imperial Unity.	Chief Editor R. C. Mazumdar

39.	The Cultural Heritage of India Series—Part II.	Ramakrishna Mission.
40.	The Essentials of Indian Philosophy.	Prof. M. Hirianna.
41.	The Heritage of Karnataka.	Prof. R. S. Mugali.
42.	The Mystics of the Church.	Underhill.
43.	Vaisnavism, Saivism and minor Religious Systems.	Dr. R. G. Bhandarkar.
44.	Vallabhacharya.	Bhai Manilal Pareek.

विशेष सूचना

कन्नड का 'ळ' वर्ण आधा 'ल' और 'ठ' मिला कर पुस्तक में छापा गया है, पाठक सुधार कर पढ़ें ।